अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

(International Politics)

एम.ए. राजनीति शास्त्र (पूर्वार्द्ध)

M.A. Political Science (Previous)

प्रश्न-पत्र - त तीय

Paper - III

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय-सूची

अध्याय 1	अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप, विषय क्षेत्र, विकास के चरण एवं स्वायत्तता	5
अध्याय 2	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तः विभिन्न द ष्टिकोण/उपागम	15
अध्याय 3	राष्ट्रीय शक्ति - तत्त्व एवं सीमाएँ, राष्ट्रीय हित, विचारधारा, विदेश नीति एवं राजनय	27
अध्याय 4	शीत-युद्ध और शीत युद्ध का अंत	50
अध्याय 5	शीत युद्ध का अंत	61
अध्याय 6	गुटनिरपेक्षता	65
अध्याय 7	विश्वीकरण	77
अध्याय 8	नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था	81
अध्याय 9	उत्तर-दक्षिण संवाद	89
अध्याय 10	दक्षिण-दक्षिण सहयोग	95
अध्याय 11	विश्व व्यापार संगठन	100
अध्याय 12	नव-उपनिवेशवाद	105
अध्याय 13	निर्भरता का सिद्धान्त	110
अध्याय 14	संघर्ष समाधान	116
अध्याय 15	क्षेत्रीय सहयोग	123
अध्याय 16	दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन	126
अध्याय 17	दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ	132
अध्याय 18	एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग	136
अध्याय 19	अमेरिका राज्यों का संगठन	139
अध्याय 20	शस्त्र-नियंत्रण और निःशस्त्रीकरण	142
अध्याय 21	यूरोपीय समुदाय	158
अध्याय 22	भारत की विदेश नीति	163
अध्याय 23	भारत के पड़ोसियों से सम्बन्ध	174
प्रश्नावली		194
पाठन सामग्री		196

M.A. (Previous)
International Politics

Paper-III **Max. Marks : 100**

Time : 3 Hours

Note: 10 questions will be set, 2 from each Unit. The candidate is required to attempt 5 questions, selecting one from each unit.

Unit – I

1. International Politics: Meaning, Nature and Scope; Stages of Growth; International Politics as an autonumous discipline.
2. Contending Theories and Approaches to the study of International Relations; Idealist, Realist, Systems, Decision-making, Game and Communication.

Unit – II

1. Limits on State Action: World Public opinion, International Morality, Balance of Power, Collective Security and International Law.
2. Power, National Interest and Idealogy in International Relations, Foreign Policy and Diplomacy and their Inter-relationship.

Unit – III

Cold War, Non-alignment, End of Cold War, Globalisation, New International Economic order, North-South Dialogue, South-South Co-operation, WTO, Neo-Colonialism and Dependency Conflict Resolution.

Unit – IV

Regional co-operation, European community, SAARC, ASEAN, APEC and OAS. Arms Control and Disarmament.

Unit – V

India's Relations with its neighbours, Distinguishing features of Indian Foreign Policy and Diplomacy.

अध्याय-1
अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप, विषय क्षेत्र, विकास के चरण एवं स्वायत्तता
(International Politics: Meaning, Nature, Scope, Stages of Growth and Autonomy)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

परिभाषा (Definition)

साधारण शब्दों में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ है राज्यों के मध्य राजनीति करना। यदि राजनीति के अर्थ का अध्ययन करें तो तीन प्रमुख तत्व सामने आते हैं - (i) समूहों का अस्तित्व; (ii) समूहों के बीच असहमति; तथा (iii) समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति। इस आशय को यदि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आंकलन करें तो ये तीन तत्व मुख्य रूप से - (i) राज्यों का अस्तित्व; (ii) राज्यों के बीच संघर्ष; तथा (iii) अपने राष्ट्रहितों की पूर्ति हेतु शक्ति का प्रयोग। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति उन क्रियाओं का अध्ययन करना है जिसके अंतर्गत राज्य अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु शक्ति के आधार पर संघर्षरत रहते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख लक्ष्य होते हैं; संघर्ष इसका दिशा निर्देश तय करती है; तथा शक्ति इस उद्देश्य प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता है।

परन्तु उपरोक्त परिभाषा को हम परम्परागत मान सकते हैं, क्योंकि आज 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' का स्थान इससे व्यापक अवधारणा 'अंतर्राष्ट्रीय संबंधों' ने ले लिया है। इसके अंतर्गत राज्यों के परस्पर संघर्ष के साथ-साथ सहयोगात्मक पहलुओं को भी अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज 'राज्यों' के इलावा अन्य कई कारक भी अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र बन गए हैं। अतः इसके अंतर्गत आज व्यक्ति, संस्था, संगठन व कई अन्य गैर-राज्य ईकाइयाँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इसका वर्तमान आधार व विषय क्षेत्र आज काफी व्यापक स्वरूप ले चुका है। इन सभी विषयों पर चर्चा से पहले अलग-अलग विद्वानों द्वारा दी गई निम्न परिभाषाओं की समीक्षा करना अति अनिवार्य हो जाता है-

(क) **परम्परागत परिभाषाएँ-** इन परिभाषाओं का दायरा अति सीमित है, क्योंकि इसके अंतर्गत मूलतः 'राज्यों' को ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारक के रूप में माना गया है। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप तक ही सीमित है। मुख्य रूप से हेंस जे. मारगेन्थाऊ, हेराल्ड स्प्राऊट, बोन डॉयक, थाम्पसन आदि इसके मुख्य समर्थक हैं जो इनकी निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है-

(i) हेंस जे. मारगेन्थाऊ - "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।"

(ii) हेराल्ड स्प्राऊट - "स्वतन्त्र राज्यों के अपने-अपने उद्देश्यों एवं हितों के आपसी विरोध-प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी प्रतिक्रिया एवं संबंधों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"

(iii) वोन डॉयक- "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की सरकारों के मध्य शक्ति संघर्ष है।"

(iv) थाम्पसन- "राष्ट्रों के मध्य प्रारम्भ प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ उनके आपसी संबंधों को सुधारने या खराब करने वाली परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"

(ख) **समसामयिक परिभाषाएँ-** नवीन परिभाषाओं में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यापक स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की चर्चा की गई है। इसमें राज्य के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के नवीन कारकों जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन, देशांतर समूह, गैर सरकारी संगठन, अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें, कुछ व्यक्तियों आदि को भी सम्मिलित किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें संघर्ष के साथ-साथ सहयोग तथा राजनीति के साथ-साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इसे प्रभावित करने वाले अर्थात, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, विज्ञान एवं तकनीकि आदि पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। विभिन्न लेखकों की निम्नलिखित परिभाषाओं से यह आशय अति स्पष्ट रूप में उजागर हो जाता है-

(i) नार्मन डी. पामर व होवार्ड सी परकिंस - "अंतर्राष्ट्रीय संबंध में राष्ट्र राज्यों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों तथा समूहों के परस्पर संबंधों के अतिरिक्त और बहुत कुछ सम्मिलित है। यह विभिन्न स्तर पर पाये जाने वाले अन्य संबंधों का भी समावेश करता है जो राष्ट्र राज्य के ऊपरी व निचले स्तर पर मिलते हैं। परन्तु यह राष्ट्र राज्य को ही अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का केन्द्र मानता है।"

(ii) स्टेनले होफमैन- "अंतर्राष्ट्रीय संबंध उन तत्वों एवं गतिविधियों से सम्बन्धित है, जो उन मौलिक ईकाईयों जिनमें विश्व बंटा हुआ है, की बाह्य नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है।"

(iii) क्विंसी राइट- "अंतर्राष्ट्रीय संबंध केवल राज्यों के संबंधों को ही नियमित नहीं करता अपितु इसमें विभिन्न प्रकार के समूहों जैसे राष्ट्र, राज्य, लोग, गठबंधन, क्षेत्र, परिसंघ, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, औद्योगिक संगठन, धार्मिक संगठन आदि के अध्ययनों को भी शामिल करना होगा।"

इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप प्रारंभ से वर्तमान तक बहुत व्यापक हो जाता है। इसमें आज राष्ट्र राज्यों के साथ विभिन्न विश्व इकाइयों एवं संगठनों के अध्ययन का समावेश हो चुका है। परन्तु इन सभी परिवर्तनों के बाद भी इन अध्ययनों का केन्द्र बिन्दु आज भी राष्ट्र राज्य ही है।

स्वरूप (Nature)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप के बारे में निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं।

(i) इन परिभाषाओं से एक बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अभी भी बदलाव के दौर से गुजर रही है। इसके बदलाव की प्रक्रिया अभी स्थाई रूप से स्थापित नहीं हुई है। अपितु यह अपने विषय क्षेत्र के बारे में आज भी नवीन प्रयोगों एवं विषयों के समावेश से जुड़ी हुई हैं

(ii) एक अन्य बात यह उभर कर आ रही है कि अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत जटिल है। इसके अध्ययन हेतु बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता होती है।

(iii) यह निश्चित है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राज्य ही है, परन्तु यह भी काफी हद तक सही है कि इसके अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त विभिन्न संगठनों, समुदायों, संस्थाओं आदि का अध्ययन करना अति अनिवार्य हो गया है।

(iv) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु विभिन्न स्तरों एवं आयामों का अध्ययन आवश्यक है। अतः इस विषय का अध्ययन अन्ततः अनुशासकीय आधार पर अधिक कुशलतापूर्वक हो सकता है।

(v) इसके अध्ययन हेतु नवीन द ष्टिकोणों की उत्पत्ति हो रही है। जैसे-जैसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बदलाव आता है उसके अध्ययन एवं सामान्यीकरण हेतु नये उपागमों की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जहां यथार्थवाद, व्यवस्थावादी, क्रीड़ा, सौदेबाजी, तथा निर्णयपरक उपागमों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार अब उत्तर शीतयुद्ध युग में उत्तर आधुनिकरण, विश्व व्यवस्था, क्रिटिकल सिद्धान्त आदि की उत्पत्ति हुई। भावी विश्व में भी वैश्वीकरण व इससे जुड़े मुद्दों पर नये उपागमों के कार्यरत होने की व्यापक सम्भावनाएँ हैं।

अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप परिवर्तनशील है। जब-जब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवेश, कारकों व घटनाक्रम में परिवर्तन आयेगा, इसके अध्ययन करने के तरीकों व द ष्टिकोणों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, यह परिवर्तन स्थाई न होकर निरंतर है। इसके साथ-साथ विभिन्न कारकों, स्तरों, आयामों आदि के कारण यह बहुत जटिल है अतः इसके सुचारू अध्ययन हेतु बहुत स्पष्ट, तर्कसंगत, व्यापक द ष्टिकोण की आवश्यकता होती है।

विषय क्षेत्र (Scope)

जैसा उपरोक्त परिभाषाओं एवं स्वरूप से ज्ञात है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। आज इसका विषय क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है जिसके अंतर्गत निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया जाता है-

(i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में विभिन्न बदलाव के बाद भी आज भी इसका मुख्य केन्द्र बिन्दु राज्य ही है। मूलतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य अन्तः क्रियाओं पर ही आधारित होती है। प्रत्येक राज्यों को अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सीमाओं में रह कर ही कार्य करने पड़ते हैं। परन्तु इन कार्यो के करने हेतु विभिन्न राज्यों में संघर्षात्मक व सहयोगात्मक दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं, इनसे जुड़े अन्य पहलुओं का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की प्रमुख सामग्री होती है।

(ii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का दूसरा महत्वपूर्ण कारक शक्ति का अध्ययन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत कई दशकों तक विशेषकर शीतयुद्ध काल में, यह माना गया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख उद्देश्य शक्ति संघर्षो का अध्ययन करना मात्र ही है। यथार्थवादी लेखक, विशेषकर मारगेन्थाऊ, तो इस निष्कर्ष को अति महत्वपूर्ण मानते हैं कि"अंतर्राष्ट्रीय राजनीति केवल राज्यों के बीच शक्ति हेतु संघर्ष" है। वे 'शक्ति' को ही एक मात्र कारण मानते हैं जिस पर सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा परस्पर राज्यों के संबंधों की नींव टिकी है। परन्तु पूर्ण रूप से यह सत्य नहीं है। शायद इसीलिए हम देखते हैं कि शीतयुद्धोत्तर युग में शक्ति संघर्ष के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि संबंध भी उतने ही महत्वपूर्ण बन गये हैं । हां इस तथ्य को भी पूर्ण रूप से नहीं नकार सकते कि शक्ति आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण कारक है।

(iii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अन्य कारक अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन भी है। आधुनिक युग राज्यों के बीच बहुपक्षीय संबंधों का युग है। राज्यों के इन बहुपक्षीय संबंधों के संचालन में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, सैन्य, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग के मार्ग प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठन जैसे विश्व बैंक, मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, नाटो, यूरोपीय संघ, नाटो, दक्षेस, आशियान, रेड क्रॉस, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को आदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रमुख हिस्सा बन गए हैं।

(iv) युद्ध व शान्ति की गतिविधियों का अध्ययन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अभिन्न अंग बन गया है। यह सत्य है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति न तो पूर्ण रूप से सहयोग तथा न ही पूर्ण रूप से संघर्षो पर आधारित है। अतः मतभेद व सहमति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सहचर हैं। इन दोनों की उपस्थिति का अर्थ है यहां युद्ध व शान्ति दोनों की प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। विभिन्न मुद्दों पर आज भी राष्ट्रों के मध्य युद्ध के विकल्प को नहीं त्यागा है। शीतयुद्ध के साथ-साथ राज्यों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध आज भी हो रहे हैं। बल्कि वर्तमान विज्ञान के विकास व हथियारों के अति आधुनिकतम रूप के कारण आज युद्ध और भी भयानक हो गए हैं। युद्ध आज प्रारम्भ होने पर दो राष्ट्रों के लिए भी घातक नहीं, अपितु, सम्पूर्ण मानवता का विनाश भी कर सकते हैं। इसीलिए युद्धों को रोकने हेतु शान्ति प्रयासों पर भी अत्यधिक बल दिया जाता है। इसीलिए इन युद्ध व शान्ति के पहलुओं का अध्ययन करना ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख भाग बन गया है।

(v) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का संवर्धन एवं अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रक्रिया केवल एक समय की न होकर निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया का प्रकटीकरण राज्यों की विदेश नीतियों के माध्यम से होता है। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विदेशी नीतियों का आकलन एक अभिन्न अंग बन गया है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की इन विदेश नीतियों के स्वरूप से ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में भी बदलाव आता है। इन्हीं के कारण विश्व में शांति व सहयोग अथवा युद्ध की परिस्थितियों को जन्म मिलता है। न केवल वर्तमान बल्कि भावी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप भी इन्हीं राज्यों के आपसी संबंधों की प्रगाढ़ता एवं तनाव पर निर्भर करता है। अतः विभिन्न विदेश नीतियों अध्ययन व आंकलन भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण विषय क्षेत्र है।

(vi) राष्ट्रों के मध्य सुचारू, सुसंगठित एवं सुस्पष्ट संबंधों के विकास हेतु कुछ नियमावली का होना अति आवश्यक होता है। अतः राज्यों के परस्पर व्यवहार को नियमित करने हेतु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की आवश्यकता हेतु है। इसके अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सुचारू स्वरूप एवं भविष्य के दिशा निर्देश हेतु भी इनकी आवश्यकता होती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर

पर युद्धों को रोकने, शान्ति स्थापित करने, हथियारों की होड़ रोकने, संसाधनों का अत्याधिक दोहन न करने, भूमि, समुद्र व आन्तरिक को सुव्यवस्थित रखने आदि विभिन्न विषयों पर राज्यों की गतिविधियों को सुचारू करने हेतु भी अंतर्राष्ट्रीय विधि का होना आवश्यक है। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का समावेश भी आवश्यक हो गया है।

(vii) राज्यों की गतिविधियों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक मुद्दों का अध्ययन भी काफी महत्वपूर्ण रहा है। परन्तु शीतयुद्ध के संघर्षो के कारण 1945-91 तक राजनैतिक मुद्दे ज्यादा अग्रणीय रहे तथा आर्थिक मुद्दे अति महत्वपूर्ण हो गए है। तथा राजनैतिक मुद्दे गौण हो गए हैं। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में ज्यादातर राज्य आर्थिक सुधारों, उदारवाद, मुक्त व्यापार आदि के दौर से गुजर रहे है। ऐसी स्थिति में आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन अति महत्वपूर्ण हो गया है। आज संयुक्त राष्ट्र की राजनैतिक ईकाइयों की बजाय विश्व व्यापार संगठन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि अत्याधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। अब राजनैतिक विचारधाराओं के स्थान पर नए अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यस्था, उत्तर दक्षिण संवाद, विकासशील देशों में कर्ज की समस्या, व्यापार में भुगतान संतुलन, बाह्य पूंजीनिवेश, संयुक्त उद्यम, आर्थिक सहायता आदि विषय अत्याधिक महत्व के हो गए हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इन आर्थिक संस्थाओं, संगठनों व कारकों का अध्ययन करना अनिवार्य हो गया हैं

(viii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान स्वरूप से यह स्पष्ट है कि अब इस विषय के अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त गैर सरकारी संगठनों की भूमिकाएं भी महत्वपूर्ण होती जा रही हैं। दूसरी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बढ़ते विषय क्षेत्र के साथ-साथ इसमें कार्यरत संस्थाओं एवं संगठनों का विकास भी हो रहा है। तीसरे, अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण मुद्दे भी आ रहे हैं, जो मानवता हेतु ध्यानाकर्षण योग्य बन गए हैं। इन सभी कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का दायरा भी विकसित होता जा रहा है। आज इसमें राजनैतिक ही नहीं बल्कि गैर-राजनीतिक विषय जैसे पर्यावरण, नारीवाद, मानवाधिकार, ओजोन परत क्षीण होना, मादक द्रवों की तस्करी, गैर कानूनी व्यापार, शरणार्थियों व विस्थापितों की समस्याएँ आदि भी महत्वपूर्ण हिस्सा बनते जा रहे हैं। इसके साथ-साथ गैर-सरकारी संस्थानों (एन.जी.ओ.) की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती जा रही है। विभिन्न स्तरों पर राज्यों के विभिन्न मुद्दों से जुड़े कई स्थानिय या क्षेत्रीय संगठन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दायरे में मात्र परंपरागत विषय क्षेत्र तक सीमित न रहकर समसामयिक विषयों को भी सम्मिलित कर लिया है। इसीलिए इन सभी समस्याओं, संगठनों, पहलुओं आदि का अध्ययन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण हो गया है।

अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र आज बहुत व्यापक व जटिल होने के साथ-साथ विकास की ओर अग्रसर है। इसके अंतर्गत विभिन्न परम्परागत कारकों के साथ-साथ गैर-परम्परागत कारकों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

विकास के चरण
(Stages of Growth)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का इतिहास ज्यादा प्राचीन नहीं है, बल्कि यह विषय बीसवीं शताब्दी की उपज है। स्पष्ट रूप से देखा जाए तो वेल्ज विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय वुडरो विल्सन पीठ की 1919 में स्थापना से ही इसका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस पीठ पर प्रथम आसीन होने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर ऐल्फर्ड जिमर्न थे तथा बाद में अन्य प्रमुख विद्धान जिन्होंने इस पीठ को सुशोभित किया उनमें से प्रमुख थे - सी.के. वेबस्टर, ई.एच.कार, पी.ए. रेनाल्ड, लारेंस डब्लू, माटिन, टी. ई. ईवानज आदि। इसी समय अन्य विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएं देखने को मिली। अतः पिछली एक शताब्दी के इस विषय के इतिहास पर द ष्टिपात करें तो इस विषय में आये उतार-चढ़ाव के साथ-साथ इसके एक स्वायत्त विषय में स्थापित होने के बारे में जानकारी मिलती है। इस विषय में आये बहुआयामी परिवर्तनों ने जहां एक ओर विषयवस्तु का संवर्धन, समन्वय तथा विकास किया है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके बहुत सी जटिल समस्याओं एवं पहलुओं को समझने में सहायता प्रदान की है।

केनेथ थाम्पसन ने सन् 1962 के रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स में प्रकाशित अपने लेख में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास को चार भागों में बांटा है, जिसके आधार पर इस विषय का सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित अध्ययन सम्भव हो सकता है। विकास के इन

चार चरणों में शीतयुद्धोत्तर युग के पांचवें चरण को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इनका विस्त त वर्णन निम्न प्रकार से है -

I. कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व, प्रारम्भ से 1919 तक

II. सामयिक घटनाओं / समस्याओं का अध्ययन, 1919-1939

III. राजनैतिक सुधारवाद का युग, 1939-1945.

IV. सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह, 1945-1991

V. वैश्वीकरण व गैर सैद्धान्तिकरण का युग, 1991-2003.

I. कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व, प्रारम्भ से 1919 तक

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व इतिहास, कानून, राजनीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदि के विद्वान ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अलग-अलग पहलुओं पर विचार करते थे। मुख्य रूप से इतिहासकार ही इसका अध्ययन राजनयिक इतिहास तथा अन्य देशों के साथ संबंधों के इतिहास के रूप में करते थे। इसके अंतर्गत कूटनीतिज्ञों व विदेश मंत्रियों द्वारा किए गए कार्यो का लेखा जोखा होता था। अतः इसे कूटनीतिक इतिहास की संज्ञा भी दी जाती है। ई.एच.कार के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध का संबंध केवल सैनिकों तक समझा जाता था तथा इसके समकक्ष अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का संबंध राजनयिकों तक। इसके अतिरिक्त, प्रजातांत्रिक देशों में भी परम्परागत रूप से विदेश नीति को दलगत राजनीति से अलग रखा जाता था तथा चुने हुए अंग भी अपने आपको विदेशी मंत्रालय पर अंकुश रखने में असमर्थ महसूस करते थे।

1919 से पूर्व इस विषय के प्रति उदासीनता के कई प्रमुख कारण थे - प्रथम, इस समय तक यही समझा जाता था कि युद्ध व राज्यों में गठबंधन उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे गरीबी व बेरोजगारी। अतः युद्ध, विदेश नीति एवं राज्यों के मध्य परस्पर संबंधों को रोक पाना मानवीय सामर्थ्य के वश से बाहर माना जाता था। द्वितीय, प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध इतने भयंकर नहीं होते थे। त तीय, संचार साधनों के अभाव में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कुछ गिने चुने राज्यों तक ही सीमित थी।

इस प्रकार इस युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की सबसे बड़ी कमी सामान्य हितों का विकास रहा। इस काल में केवल राजनयिक इतिहास का वर्णनात्मक अध्ययन मात्र ही हुआ। परिणामस्वरूप, इससे न तो वर्तमान तथा न ही भावी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में कोई मदद मिली। इस युग की मात्र उपलब्धि 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के पीठ की स्थापना रही।

II. सामयिक घटनाओं / समस्याओं का अध्ययन, 1919-1939

दो विश्व युद्धों के बीच के काल में दो समानान्तर धाराओं का विकास हुआ। जिनमें से प्रथम के अंतर्गत पूर्व ऐतिहासिकता के प्रति प्रभुत्व को छोड़कर सामयिक घटनाओं / समस्याओं के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा। इसके साथ साथ अब ऐतिहासिक राजनीतिक अध्ययन को वर्तमान राजनैतिक संदर्भो के साथ जोड़ कर देखने का प्रयास भी किया गया। ऐतिहासिक प्रभाव के कम होने के बाद भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु एक समग्र द ष्टिकोण का अभाव अभी भी बना रहा। इस काल में वर्तमान के अध्ययन पर तो बहुत बल दिया गया, लेकिन वर्तमान एवं अतीत के पारस्परिक संबंध के महत्व को अभी भी पहचाना नहीं गया। इसके अतिरिक्त, न ही युद्धोत्तर राजनैतिक समस्याओं को अतीत की तुलनीय समस्याओं के साथ रखकर देखने का प्रयास ही किया गया।

शायद इसीलिए इस युग में भी दो मूलभूत कमियाँ स्पष्ट रूप से उजागर रहीं। प्रथम, पहले चरण की ही भांति इस काल में भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सार्वभौमिक सिद्धान्त का विकास नहीं हो सका। द्वितीय, आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन अधिक सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत नहीं बन पाया। इस प्रकार इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में बल देने की स्थिति में बदलाव के अतिरिक्त बहुत ज्यादा परिवर्तन देखने को नहीं मिला तथा न ही इस विषय के स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र अनुशासन बनने की पुष्टि हुई।

III. राजनैतिक सुधारवाद का युग, 1939-1945

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का त तीय चरण भी द्वितीय चरण के समानान्तर दो विश्व युद्धों के बीच का काल रहा। इसे सुधारवाद का युग इसलिए कहा जाता है कि इसमें राज्यों द्वारा राष्ट्र संघ की स्थापना के काध्यम से अंतर्राष्ट्रीय

राजनीति में सुधार की कल्पना की गई। इस युग में मुख्य रूप से संस्थागत विकास किया गया। इस काल के विद्वानों, राजनयिकों, राजनेताओं व चिन्तकों का मानना था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का विकास हो जाता है तो विश्व समुदाय के सम्मुख उपस्थित युद्ध व शांति की समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकेगा। इस उद्देश्य हेतु कुछ कानूनी व नैतिक उपागमों की संरचनाएं की गई जिनके निम्न मुख्य आधार थे।

(क) शान्ति स्थापित करना सभी राष्ट्रों का सांझा हित है, अतः राज्यों को हथियारों का प्रयोग त्याग देना चाहिए।

(ख) अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कानून व व्यवस्था के माध्यम से झगड़ों को निपटाया जा सकता है।

(ग) राष्ट्र की तरह, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी, कानून के माध्यम से अनुचित शक्ति प्रयोग को प्रतिबंधित किया जा सकता है।

(घ) राज्यों की सीमा परिवर्तन का कार्य भी कानून या बातचीत द्वारा हल किया जा सकता है।

इन्हीं आदर्शिक एवं नैतिक मूल्यों पर बल देते हुए अंतर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्र संघ) की परिकल्पना की गई। इसकी स्थापना के उपरान्त यह माना गया कि अब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राज्यों के मध्य शान्ति बनाने का संघर्ष समाप्त हो गया। नई व्यवस्था के अंतर्गत शक्ति संतुलन का कोई स्थान नहीं होगा। अब राज्य अपने विवादों का निपटारा संघ के माध्यम से करेंगे। अतः इस युग में न केवल युद्ध व शान्ति की समस्याओं का विवेचन किया, अपितु इसके दूरगामी सुधारों के बारे में भी सोचा गया। अतः अध्ययनकर्ताओं के मुख्य बिन्दु भी कानूनी समस्याओं व संगठनों के विकास के साथ-साथ इनके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदलने वाला रहा। अन्ततः इस काल में भावात्मक, कल्पनाशील व नैतिक सुधारवाद पर अधिक बल दिया गया है।

परन्तु विश्वयुद्धों के बीच इन उपागमों की सार्थकता पर हमेशा प्रश्न चिन्ह लगा रहा। राष्ट्र संघ की प्रथम एक दशक (1919-1929) की गतिविधियों से जहां आशा की किरण दिखाई दी, वहीं दूसरे दशक (1929-1939) की यर्थाथवादी स्थिति ने इस धारणा को बिल्कुल समाप्त कर दिया। बड़ी शक्तियों के मध्य असहयोग व गुटबन्दियों ने शान्ति की स्थापना की बजाय शक्ति संघर्ष व्यवस्था को जन्म दिया। जापान ने मंचूरिया पर हमले करके जहां शांति को भंग कर दिया वहीं इटली, जर्मनी व रूस ने भी विवादास्पद स्थितियों में न केवल राष्ट्र संघ की सदस्यता ही छोड़ी, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने की प्रक्रिया को और तीव्र बना दिया। इस प्रकार शान्ति, नैतिकता, व कानून से विश्व व्यवस्था नहीं चल सकी, तो ई.एच.कार, शुंभा, क्विंसी राईट आदि लेखकों के कारण यथार्थवादी द ष्टिकोण को वैकल्पिक उपागम के रूप में बल मिला।

IV. सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह, 1945-1991

इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मूलभूत परिवर्तनों से न केवल इसकी विषयवस्तु व्यापक हुई बल्कि इसमें बहुत जटिलताएँ भी पैदा हो गई। शीतयुगीन काल में राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन तथा नये राज्यों के उदय ने सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को ही बदल दिया। परिणामस्वरूप नये उपागमों, आयामों, संस्थाओं व प्रव त्तियों का सर्जन हुआ जिनके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन सुनिश्चित हो गया।

पूर्व चरणों की आदर्शिक, संस्थागत, नैतिक, कानूनी एवं सुधारवादी धाराओं की असफलताओं ने नये उपागमों के विकास की ओर अग्रसर किया। यह नया उपगम था-यथार्थवाद। वैसे तो ई.एच.कार, श्वार्जनबर्जर, क्विंसी राईट, शुभां आदि लेखकों ने इस द ष्टिकोण को विकसित किया, परन्तु हेंस जे. मारगेन्थाऊ ने इसे एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य हमेशा अपने हितों की पूर्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने हेतु इस शक्ति संघर्ष के विभिन्न आयामों को समझना अति आवश्यक है।

यथार्थवादी द ष्टिकोण के साथ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सुनिश्चित व सुस्पष्ट विकास के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) की भी उत्पत्ति हुई। अब इस संगठन का स्वरूप मात्र आदर्शवादी व सुधारवादी न होकर, महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठन के रूप में उभर कर आया। इसके अंतर्गत मानवजाति को युद्ध की विभीषिका से बचाने के साथ-साथ राज्यों के मध्य संघर्ष के कौन-कौन से कारण हैं? विश्वशांति हेतु खतरे के कौन-कौन से कारक हैं? शांति की स्थापना कैसे हो सकती है? शस्त्रों की होड़ को कैसे रोका जा सकता है? आदि कई प्रकार के प्रश्नों का समाधान ढूंढने के प्रयास भी किए गए।

उपरोक्त दो प्रव त्तियों के साथ-साथ व्यवहारवाद की उत्पत्ति भी इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही। व्यवहारवादी द ष्टिकोण के माध्यम से "व्यवस्था सिद्धान्त" की उत्पत्ति कर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का प्रयास किया गया। इस उपागम के अंतर्गत राज्यों के अध्ययन हेतु तीन प्रमुख कारकों का अध्ययन किया जाना जरूरी माना गया। ये कारक थे -

(क) विभिन्न देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन;

(ख) विदेश नीति संचालन की पद्धतियों का अध्ययन;

(ग) अंतर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं के समाधान के उपायों का अध्ययन।

उपरोक्त प्रव तियों का मुख्य बल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मैं सैद्धान्तिकरण को बढ़ावा देना रहा है। अतः इस युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अति महत्वपूर्ण कार्य रहा है। सिद्धान्त निर्माण की इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप अनेक आंशिक सिद्धान्तों जैसे - यथार्थवाद, संतुलन का सिद्धान्त, संचार सिद्धान्त, क्रीड़ा सिद्धान्त, सौदेबाजी का सिद्धान्त, शान्ति अनुसंधान द ष्टिकोण, व्यवस्था सिद्धान्त, विश्व व्यवस्था प्रतिमान आदि का निर्माण हुआ।

इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के बावजूद इस युग में किसी एक सार्वभौमिक व सामान्य सिद्धान्त का अभाव अभी भी बना रहा। 1990 के दशक में जयन्त बंधोपाध्याय ने अपनी पुस्तक - **जनरल थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंज (1993) -** में मार्टिन कापलान के व्यवस्थापरक सिद्धान्त की कमियों को दूर कर एक सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना की कोशिश की है, परन्तु वह भी अभी वाद-प्रतिवाद के दौर में ही हैं। अतः सैद्धान्तिकरण के मुख्य दौर के बावजूद शीतयुद्ध कालीन युग अपनी वैचारिक संकीर्णता व अलगाव के कारण किसी एक सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन से वंचित रहा।

V. वैश्वीकरण व गैर सैद्धान्तिकरण का युग, 1991-2003.

शीतयुद्धोत्तर युग में सभी राष्ट्रों द्वारा एक आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत जुड़ना प्रारम्भ कर दिया। इसीलिए अब वैश्वीकरण, उदारीकरण, मुक्त बाजार व्यवस्था आदि का दौर प्रारम्भ हो गया। इस संदर्भ में न केवल आर्थिक मुद्दों का ही महत्व बढ़ा, अपितु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्व और भी बढ़ गया। आज राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता का विभेद समाप्त हो गया इसके अतिरिक्त, अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय सूची में काफी नवीन विषयों का समावेश हो गया जो राष्ट्रीय न रहकर अब मानवजाति की समस्याओं के रूप में उभर कर आये। वर्तमान विश्व की प्रमुख समस्याओं में आतंकवाद, पर्यावरण, ओजोन परत क्षीण होना, नशीले पदार्थो एवं मादक द्रव्यों की तस्करी, मानवाधिकारों का हनन आदि प्रमुख मुद्दे उभर कर सामने आये जिनका राष्ट्रीय स्तर या क्षेत्रीय स्तर की बजाय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हल निकालना अनिवार्य बन गया है।

सैद्धान्तिक स्तर पर भी 1945 से 1991 तक के सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना के प्रयास को धक्का लगा। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की इस संदर्भ में अब प्राथमिकताएं बदल गई। उत्तर-आधुनिकतावाद में (पोस्ट मोडर्निज्म) अब सार्वभौमिक सिद्धान्तों की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लग रहे हैं। ऐतिहासिक सन्दर्भ एवं प्राचीन परिवेश के प्रभाव को भी नकारा जा रहा है। अब स्वतन्त्र मुद्दे अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। व हत् सिद्धान्त गौण हो गए हैं। नए सन्दर्भ में आंशिक शोध अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। उदाहरणस्वरूप नारीवाद, मानवाधिकार, पर्यावरण आदि विषयों पर अधिक बल देने के साथ-साथ चिन्तन भी प्रारम्भ हो गया है। अतः शीतयुद्धोत्तर युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप, विषय सूची एवं विषय क्षेत्र पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गए हैं। अब सामान्य सैद्धान्तिक स्थापना पर भी अधिक बल नहीं दिया जा रहा है। इसीलिए इस बदले हुए परिवेश में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु स्वायत्तता की ओर अग्रसर प्रतीत हो रही है। और विषय की स्वायत्तता हेतु आशावादी संकेत दिखाई देते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंध : एक स्वायत्त विषय के रूप में
(International Politics as an Autonomous Discipline)

द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को मूलभूत रूप में प्रभावित किया अपितु कई महत्वपूर्ण मुद्दों की अभिव्यक्ति भी की। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारकों में परिवर्तन, कारकों को व्यापक स्वरूप प्रदान करना, नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि अनेक विषयों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का पूर्ण परिवेश ही बदल कर रख दिया है। जहां एक ओर सैद्धान्तिक

स्तर पर यथार्थवाद व आदर्शवाद के वाद-विवाद तथा प्राचीन व वैज्ञानिकता पर वाद-विवाद हो रहा है, वहीं दूसरी ओर व्यवहारिक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय संबंध विषय के प्रारूप के बारे में विवादास्पद प्रश्न उठ रहे थे कि - क्या अंतर्राष्ट्रीय संबंध एक स्वायत्त विषय है या नहीं? यद्यपि आज अधिकतर विश्वविद्यालयों में स्नातक व स्नातकोत्तर स्तरों पर तथा शोध हेतु यह एक स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है, तथापि इसे सामाजिक विज्ञान के अन्य विषयों के समकक्ष मान्यता नहीं मिली है। इतना अवश्य हुआ है कि विकसित देशों में तो कई विश्वविद्यालयों में इसे पूर्ण रूप से स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। भारत जैसे विकासशील देशों में भी सुधार हुआ है। यहां प्रारंभ में 'भारतीय अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्कूल, नई दिल्ली' जो बाद में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्कूल के रूप में स्वायत्त रूप से कार्य कर रहा है। इसके अतिरिक्त कई अन्य विश्वविद्यालयों जैसे जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता, गोवा विश्वविद्यालय आदि में भी अब इसे स्वायत्त विषय का दर्जा मिला है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक स्वायत्त विषय के रूप में अध्ययन करने से पूर्व एक बात स्पष्ट करनी अति आवश्यक है कि जब हम इस विषय की स्वायत्तता के प्रश्न का अध्ययन करते हैं तो 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' व अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को अलग-अलग विषय नहीं मानते हैं। यह इसलिए किया गया है कि दोनों ही विषयों को अभी स्वायत्त अनुशासन न मानकर राजनीतिशास्त्र विषय के एक उप-अनुशासन के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। दूसरे इनका विभेद इतना सूक्ष्म है कि अनुशासन की स्वायत्तता की प्रमाणिकता के बाद इस विषय को सुलझाया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्त विषय मानने के संदर्भ में तीन प थक-प थक विचार दिए गए हैं जो निम्न प्रकार से हैं - (I) प्रथम समूह उन विद्वानों का है जो इस विषय को स्वायत्त विषय मानते हैं; (II) द्वितीय समूह के विद्वानों का मानना है कि इस विषय में कोई ऐसी विलक्षण बात नहीं है कि इसे स्वायत्त माना जाए; तथा (III) तीसरे समूह के विशेषज्ञ इस बहस में नहीं पड़ना चाहते, परन्तु इस विषय के गहन अध्ययन हेतु आवश्यक प्रथम दो विचारों के तार्किक आधार पर विश्लेषण अनिवार्य मानते हैं। क्योंकि इन विश्लेषणों एवं तर्कों के आधार पर इस विषय की वास्तविक स्थिति का कोई प्रामाणिक निष्कर्ष सम्भव हो सकेगा।

I. **स्वायत्तता के पक्ष में तर्क**- जो विद्वान इस विषय को स्वायत्त मानते हैं उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु व अनुशासन संबंधी सामग्री को देखते हुए इसे एक स्वायत्त विषय माना जाना चाहिए। इस तर्क के प्रमुख समर्थक हैं- सी.ए.डब्ल्यू. मैनींग; क्विंसी राईट; राबर्ट लोटिंग ऐलन; हेंस जे. मारगेन्थाऊ; कार्ल एम. कॉपर जानसन; हॉफमैन; ए. एल. बर्न आदि। इन विद्वानों ने निम्न आधारों पर इसे स्वायत्त विषय प्रमाणित किया है-

   (क) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता जानने से पूर्व 'अनुशासन' की जानना आवश्यक है विभिन्न स्रोतों ने अनुशासन अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। वेबस्टर शब्दकोष के अनुसार अनुशासन वह है जो "शिष्यों को पढ़ाया जाता है।" इस संदर्भ में यह विषय वास्तव में एक अनुशासन है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार अनुशासन "शिक्षण देने की एक शाखा है।" इस बारे में भी इस विषय को अनुशासन मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तीसरी परिभाषा के अंतर्गत एक अनुशासन बनने हेतु विषय वस्तु की सीमा, अन्वेषण के अलग तरीकों तथा स्पष्ट सैद्धान्तिक पहलुओं का होना जरूरी है। इन बातों के अभाव के कारण ही राबर्ट लोटिंग ऐलेन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक अनुशासन का दर्जा नहीं देते। परन्तु इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि यदि इस मापदण्ड को अन्य सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में भी देखें तो यह बात उतनी ही तरह से लागू नहीं होती जिस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू होती है। शायद इसीलिए क्विंसी राईट का मानना है कि चाहे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर अनुशासन संबंधी परिभाषा को अति निश्चित रूप से लागू नहीं किया जा सकता परन्तु फिर भी यह एक स्वायत्त अनुशासन है। यद्यपि इसके 'मूल अनुशासन' आठ विषयों - अंतर्राष्ट्रीय कानून, राजनयिक इतिहास, सैन्य विज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, औपनिवेशिक सरकारें तथा विदेशी संबंध - पर आधारित है, परन्तु इसका द ष्टिकोण भिन्न है अतः यह स्वतन्त्र अनुशासन है। हालांकि यह अवश्य सत्य है कि अन्य अनुशासनों की तुलना में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रारूप अभी नया है तथा विकास की ओर अग्रसर है।

   (ख) 1954 में सी.ए.डब्ल्यू. मैनींग ने युनेस्कों के तत्वाधान में एक पुस्तक - **द यूनिवर्सिटी टीचिंग ऑन सोशल साईंसिजः इंटरनेशनल रिलेशंज**- संपादित की जिसमें उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को उच्च शिक्षा में पढ़ाये जाने संबंधी विषय

पर विश्लेषण किया। इस पुस्तक में उन्होंने आठ देशों - मिश्र, फ्रांस, भारत, मैक्सिको, स्वीडन, इग्लैंड, अमेरिका तथा युगोस्लाविया - के उच्च शिक्षण संस्थाओं का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक अलग विषय का दर्जा दिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में उसने निम्न तर्क दिए - प्रथम, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक जटिल सामाजिक परिवेश होता है जो निरंतर बढ़ता रहता है तथा परीक्षण हेतु उपलब्ध रहता है। इसी परिवेश में समसामयिक घटनाओं का जन्म होता है। अतः इस प्रकार के परिवेश का अलग व स्वायत्त अध्ययन अनिवार्य बन जाता है। द्वितीय, इस जटिल अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के अध्ययन हेतु एक "सार्वभौमिक द ष्टिकोण" की आवश्यकता होती है तथा इस प्रकार के द ष्टिकोण का विकास इस विषय के स्वायत्त अध्ययन के बाद ही सम्भव है। त तीय, इसी सार्वभौमिक द ष्टिकोण के माध्यम से विभिन्न विचारधाराओं का जन्म सम्भव है, जिसके माध्यम से हम एक विश्व/आधुनिक विश्व की कुछ समस्याओं का समाधान करने में दक्षता प्राप्त कर सकते हैं।

अतः मैंनींग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक मिश्रित अनुशासन मानते हैं तथा जो ज्ञान के एक विस्त त भाग का हिस्सा है जिसे "सामाजिक विश्वविद्या" (सोशल कास्मोलोजी) की संज्ञा दी है। इसी सामाजिक विश्वविद्या की विषय वस्तु से अंतर्राष्ट्रीय समाज की संरचना होती है।

(ग) उपरोक्त दो प्रमुख आधारों के अतिरिक्त, कार्लिन कॉपर जॉनसन का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंध मानवीय सार्वभौमिक तथ्य के समक्ष एक मस्तिष्क की प्रतिक्रिया की भांति है जिसका उदय बीसवीं शताब्दी में हुआ। अतः इसे इतिहास या राजनीति शास्त्र की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है, बल्कि इसका दायरा इन दोनों से अधिक है। अतः इसके ज्ञान का भण्डार अन्य अनुशासन से भिन्न है तथा इसके मिलावट का तरीका इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से विशिष्ट या स्वायत्त दर्जा प्रदान करता है।

II. **स्वायत्त के विपक्ष में तर्क-** जो विद्वान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त विषय नहीं मानते उनका मानना यह है कि इस विषय में ऐसी कोई विलक्षण वस्तु नहीं है कि इसे अध्ययन हेतु स्वायत्त माना जाए। उन्होंने निम्न तर्को के आधार पर अपनी बात का समर्थन किया है-

(क) उनका मानना है कि किसी भी विषय के स्वायत्त अस्तित्व हेतु कतिपय अर्हताएँ आवश्यक मानी जाती हैं, जैसे - प्रथम, समुचित एवं निश्चित विषय सामग्री का होना। द्वितीय, विषय सामग्री के अध्ययन हेतु निश्चित सिद्धान्त का होना। त तीय, अध्ययन के विशिष्ट तरीकों पद्धति का होना। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में इन तीनों तत्वों का अभाव झलकता है। जहां एक विषय वस्तु की बात है इसका कोई निश्चित पाठ्य सामग्री नहीं है। यह एक विषय न होकर कई विषयों का समूह है। यह मुख्य रूप से कानून, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भूगोल तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के समावेश से बना है। यदि सिद्धान्तों की बात की जाए तो यह स्पष्ट होता है कि 1945 से पूर्व इसमें सिद्धान्त प्रतिपादन का अभाव रहा है। 1945 के बाद भी आंशिक द ष्टिकोणों का ही उत्पादन हुआ है, किसी भी सार्वभौमिक व सामान्य सिद्धान्त का अभाव आज भी बना हुआ है। इस विषय की पद्धतियाँ भी राजनीति विज्ञान या अन्य सामाजिक विज्ञानों से किसी भी रूप में अधिक भिन्न नहीं है। बल्कि इन विषयों की पद्धतियों को ही संशोधित एवं परिवर्तित रूप में अपनाया गया है।

(ख) यह विषय मुख्य रूप से राज्यों के व्यवहार से संबंधित है अतः राज्यों के नीति निर्धारक तत्वों का अध्ययन करने हेतु राज्यों के नीति प्रक्रिया संबंधित सभी पहलुओं का अध्ययन अति आवश्यक होता है। इस प्रकार का अध्ययन केवल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन से ही सम्भव नहीं हो सकता है। किसी भी नीति के समग्र अध्ययन हेतु उसके राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, भूगोलिय, ऐतिहासिक आदि पहलुओं के बारे में जानना अति आवश्यक है। अतः अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सुचारू अध्ययन हेतु इन विषयों का अध्ययन भी अनिवार्य है। अतः इन अध्ययनों को अन्तः अनुशासनीय होना आवश्यक है। इस द ष्टि से भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को केवल राजनीति शास्त्र का ही एक भाग माना जा सकता है, इससे अधिक नहीं।

III. **स्वायत्तता की ओर अग्रसर-** कुछ विद्वान उपरोक्त दोनों प्रकार की बहस को निरर्थक मानते हैं। उनका मानना यह है कि उपरोक्त दोनों तर्को को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए विकास के माध्यम से अधिक भली प्रकार से जाना जा सकता है। अतः 20वीं शताब्दी में, और विशेषकर 1945 के बाद, के विकास की समीक्षा अति अनिवार्य है।

यदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता के प्रश्न का गहन अध्यन करते हैं तो पता चलता है कि इस सन्दर्भ में दो मूलभूत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक तो अंतर्राष्ट्रीय संबंध के स्वरूप, विषयवस्तु व अध्ययन के तरीकों में प्रभावी परिवर्तन आये हैं। दूसरा, इसी समय राजनीतिशास्त्र की परिधि की जटिलताओं एवं अपरिभाषित सीमाओं के विकास के कारण समस्या और बढ़ गई है। लेकिन 1919 से आज तक के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास पर नजर डालें तो स्पष्ट होता है कि इसकी उपलब्धियां इसे स्वायत्तता दिलाने में काफी सहायक सिद्ध होंगी।

1919 के बाद से ही, विशेषकर अमेरिका में, बहुत से विद्वानों ने इस विषय को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने हेतु प्रयास किए हैं। इसके विषय वस्तु, तरीकों एवं सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के प्रयास भी हुए हैं। इन लेखकों में मुख्य रूप से पॉल, राईन्स, बर्न, जेम्स ब्राइट, हबर्ट, गिवन्स, रेमण्ड वुल, पार्ककर, मून, शुभां, ऐलफर्ड जिमर्न, ई.एच. कार आदि का योगदान सराहनीय रहा है। इस संदर्भ में समीक्षा के पश्चात् रिचर्ड स्मीथबील इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि (i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति जैसा कोई स्वायत्त विषय 1945 तक उभर कर नहीं आया। (ii) एक प थक विषय के सन्दर्भ में इसका अस्तित्व अभी भी संदेहास्पद है चूंकि इसका सार विशिष्ट, संक्षिप्त, तार्किक तथा वैज्ञानिक द ष्टि से करना कठिन है; (iii) राजनैतिक चिन्तन, अंतर्राष्ट्रीय विधि व संगठन, कूटनीतिज्ञ इतिहास आदि इसके निर्णायक विषय हैं; तथा (iv) 1945 से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विषय के लेखकों में सिद्धान्त निर्माण के संबंध में अरूचि पाई गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। इस क्षेत्र में हुए नये शोधों के आधार पर जहां एक ओर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषणात्मक संबंधों को बल मिला है, वहीं दूसरी ओर नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन भी हुआ है। अमेरिका में अनेक विद्वानों मुख्य रूप से मारगेन्थाऊ, रिचर्ड स्नाइडर, मॉर्टिन कापलान, कार्ल डब्ल्यू डॉयस, चार्लस मेकलेलैंड आदि ने इस ओर विशिष्ट योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त विकसित व विकासशील दोनों देशों के अध्ययन पर बल दिया है। इसकी विषय सामग्री का संकलन, सिद्धान्त प्रतिपादन एवं पद्धतियों का भी काफी विकास हुआ है। परन्तु आज भी सबसे महत्वपूर्ण कमी एक सार्वभौमिक/सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन का अभाव बना हुआ है।

शीतयुद्धोत्तर विश्व में इसका महत्व और बढ़ गया है। इस भूमण्डलीकरण के दौर में सभी राज्य एक प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से जुड़ते जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय मुद्दे जैसे पर्यावरण, आतंकवाद, नारीवाद, एड्ज, ओजोन परत क्षीण होना, मानवाधिकार आदि राष्ट्रीय की बजाय मानवीय/मानवजाति से संबद्ध हो गए हैं। अतः आज इन सबके समाधान हेतु अंतर्राष्ट्रीय मंचों/संगठनों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। अब सार्वभौमिक सिद्धान्त को भी उत्तर आधुनिकवाद की द ष्टि से नकार कर व्यक्तिपरक एवं स्थानीय आधार पर अधिक बल दिया गया है। अत 1945 के बाद के विकास के आधार पर इसे स्वायत्तता की ओर अग्रसर कहा जा सकता है, जिसे 1991 के बाद शीत युद्ध के अंत की प्रक्रिया ने और सशक्त बनाने की कोशिश की है।

अध्याय-2
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तः विभिन्न द ष्टिकोण/ उपागम
(Theories of International Politics: Different Approaches)

आदर्शवादी उपागम (Idealist Approach)

फ्रांसी क्रांति (1789) व अमेरिकी क्रान्ति (1776) को आदर्शवादी द ष्टिकोण की प्रेरणा माना गया है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कौण्डरसैट के ग्रंथ की 1795 में विश्व समाज की रचना को आधार माना गया है। इसके प्रमुख समर्थक रहे हैं - कौण्डरसैट, वुडरो विल्सन, बटन फिल्ड, बनार्ड रसल आदि। इनके द्वारा एक आदर्श विश्व की रचना की गई है जो अहिंसा व नैतिक आधारों पर आधारित होगा व युद्धों को त्याग देगा।

इस द ष्टिकोण की मूल मान्यताएँ निम्नलिखित हैं-

(क) मानव स्वभाव जन्म से ही बहुत अच्छा व सहयोगी प्रव त्ति का रहा है।

(ख) मानव द्वारा दूसरों की मदद करने एवं कल्याण की भावना ने ही विकास को सम्भव बनाया है।

(ग) मानव स्वभाव में विकार व्यक्तियों के कारण नहीं बल्कि बुरी संस्थाओं के विकास के कारण आता है। मानव युद्ध की ओर भी इन संस्थाओं के कारण प्रेरित होता है।

(घ) युद्ध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे खराब विशेषता है।

(ङ) युद्धों को रोकना असम्भव नहीं है, अपितु संस्थागत सुधारों के माध्यम से ऐसा करना सम्भव है।

(च) युद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय समस्या है, अतः इसका हल भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ही खोजना होगा, स्थानीय स्तर पर नहीं।

(छ) समाज को अपने आप को इस प्रकार से संगठित रखना चाहिए कि युद्धों को रोका जा सके।

इस द ष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं-

(i) इस द ष्टिकोण के अंतर्गत नैतिक मूल्यों पर बल दिया गया है। अतः यह मानती है कि राज्यों के मध्य अच्छे संबंधों हेतु शक्ति की नहीं बल्कि नैतिक मूल्यों की आवश्यकता होती है। इसके अंतर्गत राज्यों के बीच भेदभाव समाप्त होंगे तथा परस्पर सहयोग का विकास होगा।

(ii) इसके अंतर्गत वर्तमान शक्ति व प्रतिस्पर्धा पर आधारित विश्व संस्था को छोड़कर एक शान्ति व नैतिकता पर आधारित विश्व सरकार बनानी चाहिए। इसमें संघात्मकता व नैतिक मूल्यों के आधार पर विश्व सरकार का गठन कर शक्ति की राजनीति को समाप्त करना चाहिए।

(iii) इसके अंतर्गत यह माना गया है कि युद्धों को कानून द्वारा रोका जा सकता है। कई अच्छे कानूनों द्वारा युद्ध करने सम्भावनाओं को कानूनी रूप से अवैध घोषित किया जा सकता है। इस द ष्टिकोण का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के पालन द्वारा किसी भी प्रकार के युद्धों के संकट से बचा जा सकता है।

(iv) इस द ष्टिकोण के द्वारा हथियारों की हौड़ को समाप्त करने की बात कही गई है। उनका मानना है कि हथियारों का होना भी युद्धों की प्रव त्तियों को जन्म देने में सहायक होता है। इसके अंतर्गत भावी हथियारों के साथ-साथ वर्तमान हथियारों की व्यवस्था को घटाकर अंततः समाप्त करने की बात कही गयी है।

(v) इस द ष्टिकोण में किसी भी प्रकार की निरंकुश प्रव त्तियों पर रोक लगाने की बात पर बल दिया गया है। आदर्शवादियों का मानना है कि टकराव हमेशा निरंकुशवादियों एवं प्रजातांत्रिक पद्धति में विश्वास रखने वालों के बीच होता है।

(vi) आदर्शवादियों का मानना है कि शान्तिपूर्ण विश्व की स्थापना हेतु राजनैतिक के साथ-साथ आर्थिक विश्व व्यवस्था को भी बदलना होगा। इस सन्दर्भ में राज्यों को आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होती है।

(vii) इस द ष्टिकोण के अंतर्गत एक आदर्श विश्व की कल्पना की गई है जिसमें हिंसा, शक्ति, संघर्ष आदि का कोई स्थान नहीं होगा।

(viii) इस द ष्टिकोण के अंतर्गत राज्य किसी शक्ति अथवा युद्धों की देन नहीं है, बल्कि राज्य का क्रमिक विकास हुआ है। यह विकास धीरे-धीरे मानव कल्याण व सहयोग पर आधारित है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की कुछ बिन्दुओं को लेकर आलोचना भी की गई है जो निम्न प्रकार से है-

(i) सर्वप्रथम यह सिद्धान्त कल्पना पर आधारित है जिसका राष्ट्रों की वास्तविक राजनीति से कोई लेन देन नहीं होता। इस काल्पनिक विश्व के आधार पर यह मान लेना कि सब कुछ सुचारू रूप से चल रहा है गलत होगा।

(ii) इस उपागम में नैतिकता पर जरूरत से अधिक बल दिया गया है। यह सत्य है कि नैतिकता का समाज में अपना महत्व है, परन्तु राष्ट्रों के मध्य राष्ट्रीय हितों के संघर्ष में शक्ति व कानून दोनों का विशेष स्थान होता है। बिना कानूनी व्यवस्था के राष्ट्रों को एक विश्व में बांधना बड़ा कठिन है। तथा वास्तविकता की धरातल पर शक्ति के महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता।

(iii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कोरी आदर्शवादिता पर भी नहीं चलाई जा सकती। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्यक अध्ययन हेतु शक्ति, युद्ध आदि वास्तविक तत्वों को अपनाना अपरिहार्य है। इन मूल यथार्थ प्रेरणाओं की उपेक्षा के कारण ही आदर्शवादी द ष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में विशेष सहायक नहीं रहा है। राष्ट्र संघ की असफलता इसका प्रत्यक्ष परिणाम है।

(iv) आदर्शवाद के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संघात्मक व्यवस्था अथवा विश्व सरकार बनने की सम्भावनाएं बहुत कम प्रतीत होती है। इसका सबसे बड़ा कारण राष्ट्रों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों हेतु अडिग रवैय्या अपनाना रहा है। आज के इस युग में कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों से समझौता नहीं करना चाहता तथा न ही वह अपने राष्ट्रीय हितों के एवज में किसी अन्य राष्ट्र के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु तैयार है।

यद्यपि इस उपागम में कई कमियाँ अवश्य है, परन्तु यह सत्य है कि नैतिकता व्यक्ति, राष्ट्र व सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु लाभकारी होती है। यद्यपि वर्तमान स्वार्थी हितों की पूर्ति के सन्दर्भ में इसे लागू करना अति कठिन है, परन्तु इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हेतु अहितकर है।

यथार्थवादी उपागम (Realist Approach)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु यथार्थवाद का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है। यह आदर्शवादी उपागम के बिल्कुल विपरीत वास्तविकता के धरातल पर रह कर कार्य करता है। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में यथार्थवाद का महत्व रहा है। उसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह फिर अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया। इसके मुख्य समर्थकों में मारगेन्थाऊ, ई.एच.कार, राइनॉल्ड नेबर, जार्ज केनन, केनेथ डब्ल्यू, थामप्सन, हेनरी किंसीजर आदि है।

इस उपागम की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

(क) यह द ष्टिकोण तर्क एवं अनुभव पर आधारित है। इसमें नैतिकता तथा गैर-तार्किक तथ्यों को स्वीकार नहीं किया है।

(ख) यह सिद्धान्त शक्ति को अत्यधिक महत्व प्रदान करता है। तथा इसका मानना है कि राज्य हमेशा शक्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं।

(ग) इस उपागम का मानना है कि शक्ति के माध्यम से राज्य हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में लीन रहते हैं। इसीलिए वे हमेशा अपने हितों का ही ध्यान रखते हैं, अन्य राष्ट्रों का नहीं।

(घ) यथार्थवादी इस शक्ति संघर्ष से निपटने हेतु मुख्यतः शक्ति संतुलन के तरीके का प्रयोग करते हैं। शक्ति स्पर्धा को सुचारू रखने हेतु इस प्रकार के तरीके को अपनाना अनिवार्य हो जाता है।

(ङ) यह उपागम काल्पनिकता की बजाय हमेशा वास्तविकता में विश्वास करता है।

(च) इस द ष्टिकोण के अंतर्गत राष्ट्रीय हितों के बीच संघर्ष को टालने हेतु सभी राष्ट्रों के बीच के मध्य संतुलन स्थापित करने पर बल दिया जाता था।

(छ) इसके अंतर्गत प्रत्येक राष्ट्र के लिए हित ही सर्वोपरि होते हैं तथा सभी राष्ट्र इन्हीं हितों की पूर्ति हेतु हमेशा संघर्षरत रहते हैं।

(ज) इस उपागम के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को अत्याधिक वैज्ञानिक एवं तर्कशील बनाने के प्रयास किए गए हैं।

यथार्थवाद की इन विशेषताओं को अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। ना ही सभी विद्वान इन सभी बातों का उल्लेख करते है। तथा न ही ऐसी कोई सर्वसम्मति ही है। अपितु उपरोक्त विशेषताएं कुल मिलाकर विभिन्न यथार्थवादी समर्थकों के विचारों का सार है। परन्तु यथार्थवाद के एक सुस्पष्ट उपागम के रूप में स्थापित करने का कार्य मारगेन्थाऊ (पॉलिटिक्स अमंग नेशंज) ने किया है। उसके अनुसार यथार्थवादी द ष्टिकोण निम्नलिखित छः प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित है-

(i) राजनीति को प्रभावित करने वाले सभी वस्तुनिष्ठ नियमों का जड़ मानव प्रकृति है। मारगेन्थाऊ का मत है कि मानव प्रकृति, जिसमें राजनीति के नियम सन्निहित है, प्राचीन काल से आज तक मूल रूप से नहीं बदली है। अतः इस मानव प्रकृति के अध्ययन के आधार पर कुछ वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों का प्रतिवादन किया जा सकता है। यथार्थवाद के अनुसार उदाहरण स्वरूप यदि विदेश नीति का सही आकलन करना है तो हमें सर्वप्रथम अपने आपको उस राजनीतिज्ञ की जगह रखकर सोचना होगा जिसने कोई निर्णय लिया है। इसके समक्ष उपस्थित उन सभी निर्णयों के विकल्पों को जांचना होगा जिन्होंने सम्भावित रूप से उन निर्णयों को प्रभावित किया होगा। इस प्रकार की विवेकपूर्ण व तर्क संगत कल्पना से हम वस्तुनिष्ठ स्थिति एवं सत्य के अधिक नजदीक होंगे तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हेतु एक वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का निर्माण कर सकेंगे।

(ii) यथार्थवाद राष्ट्रीय हित को महत्वपूर्ण मानता है तथा राष्ट्रीय हितों की शक्ति के सन्दर्भ में परिभाषित करता है। उसका मानना है कि राजनीति का मुख्य आधार राष्ट्रीय हित एवं उसकी सुरक्षा है, इसीलिए राजनीति को शक्ति से अलग रखकर नहीं समझा जा सकता। मारगेन्थाऊ का मानना है कि राष्ट्रहित की प्रधानता के कारण किसी देश की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य अन्य राष्ट्रों की तुलना में सफलता प्रदान करना रहा है। यही कारण है कि विदेश नीति की सफलता को प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रहितों में संवर्धन से जोड़ा जाता है। इसीलिए राजनेताओं के मंतव्यों और प्रयोजनों पर आधारित विदेश नीति का आकलन हो सकता है। लेकिन मारगेन्थाऊ यह भी सचेत करता है कि इस सन्दर्भ में हमें राजनेताओं की 'नीयत' व 'विचारों' की प्राथमिकताओं से सुरक्षा प्रदान करने की भ्रांतियों से भी बचना चाहिए। इसके साथ-साथ राजनेताओं के 'व्यक्तिगत विचार' एवं 'राजनैतिक उत्तरदायित्व' को भी हमें अलग-अलग रखना पड़ेगा।

(iii) मारगेन्थाऊ का मानना है कि राष्ट्रहित का कोई निश्चित या निर्धारित अर्थ नहीं होता। मारगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति व राष्ट्रीय हित दोनों ही गतिशील होते हैं। इनके परिवर्तन में अंतर्राष्ट्रीय परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यदि परिवेश बदल जाता है तो उसके अनुरूप हितों में परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है। अतः शक्ति के रूप में परिभाषित हित भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व शाश्वत हैं, परन्तु परिस्थितियाँ थोड़ी बहुत बदलती रहती हैं। अतः एक सफल राजनेता को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्वों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निरूपित करने का सतत प्रयास जारी रखना चाहिए।

(iv) यथार्थवादी मानते हैं कि राज्यों के कार्यों में कोई सार्वभौमिक नैतिकता का पालन नहीं हो सकता। नैतिकता का महत्व है परन्तु वह अमूर्त व सार्वभौमिक नहीं हो सकती। इसके विपरीत इसे समय व स्थान की ठोस परिस्थितियों की कसौटी

से बंधा होना चाहिए और परिस्थितियों के अनुकूल उसका चयन करना चाहिए। इनके अनुसार नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक और सम्भावित परिणामों के आधार पर होना चाहिए। बिना विवेक के राजनैतिक नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिए कोई भी राष्ट्र नैतिकता के आधार पर अपनी सुरक्षा को खतरे में नहीं डाल सकता।

(v) किसी भी राष्ट्र के नैतिक मूल्य सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों से भिन्न होते हैं। किसी सार्वभौमिक नैतिक कानून का पालन एक देश-विशेष के लिए आवश्यक रूप से लाभदायक हो ही, यह सत्य नहीं है। सम्भव है वह उसके लिए भयंकर परिणाम पैदा कर दें। अतः नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने देश के हितों को बलिदान कर देने वाला व्यक्ति राजनैतिक द ष्टि से बुद्धिमान नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता को तिलांजलि देना इतिहासकारों की नजर में प्रशंसनीय कार्य नहीं है। इन दोनों प्रकार की अतियों के संदर्भ में इन दोनों ही परिस्थितियों से बचना चाहिए। अतः प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय हित की दिशा में अग्रसर होना पड़ेगा। अतः किसी भी एक राष्ट्र का मूल्य सार्वभौमिक नैतिक मूल्य नहीं हो सकता।

(vi) अन्तिम सिद्धान्त में मारगेन्थाऊ ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत विषय के रूप में अध्ययन करने हेतु बल दिया है। उसका मानना है कि जिस प्रकार अर्थशास्त्र में हित आर्थिक कारणों के कारण होते हैं उसी प्रकार राजनीति में राष्ट्रीय हित शक्ति पर आधारित होते हैं। उनका मानना है कि बौद्धिक रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर स्वतन्त्र क्षेत्र है, जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि। राजनैतिक यथार्थवाद मानव-प्रकृति के बाहुल्य स्वरूप को मानता है। उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति एक समय में आर्थिक मानव, राजनैतिक मानव, नैतिक मानव, धार्मिक मानव आदि कई प्रकार के उत्तरदायित्व निभाता है। यदि उसके इन सभी स्वरूप का गहन अध्ययन करना चाहे, तो उसके अन्य स्वरूपों को हमें परस्पर अलग रखना होगा क्योंकि तभी यह अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न हो सकेगा। राजनैतिक अध्ययन में मानव प्रकृति के अन्य स्वरूपों का स्थान अति गौण है और यही कारण है कि राजनैतिक यथार्थवाद में राजनीति की स्वतन्त्रता पर अत्याधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार से राजनीति के विभिन्न स्वरूप होते हैं और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति उसमें से एक है। अतः हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के गहन व सुव्यवस्थित रूप में अध्ययन करने हेतु इसे स्वायत्त रूप में अध्ययन करना चाहिए।

यथार्थवाद के सामान्य सिद्धान्तों एवं मारगेन्थाऊ द्वारा प्रतिपादित उपागम की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएं भी की गई हैं -

(क) यथार्थवादी उपागम की सर्वप्रथम आलोचना इस आधार पर की गई है कि इसमें शक्ति को जरूरत से ज्यादा बल दिया गया है जो उचित नहीं है। राष्ट्रीय हितों को सुचारू रखने या प्राप्त करने हेतु बहुमुखी कारक कार्यरत होते हैं। मात्र शक्ति को ही कारण मानना सही नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि यह मान लिया जाए कि राज्य हमेशा शक्ति संघर्ष में ही व्यस्त रहते हैं तो विश्व व्यवस्था ध्वस्त हो जाएगी। वास्तविक रूप में राज्य के मध्य संघर्षो के साथ-साथ सहयोग भी विकसित होता है। इस उपागम के शक्ति को ही साध्य मान लिया गया है, यह अनुचित है। क्योंकि शक्ति तो मात्र साधन है राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु। अतः यह अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता।

(ख) यथार्थवादी उपागम की मानव प्रकृति के सन्दर्भ में अवधारणा भी गलत है। इसके आधार पर मनुष्य को हमेशा संघर्षरत माना गया है जबकि मानव प्रकृति का यह एकांगी पक्ष है। उसका दूसरा पहलू सहयोग का भी है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हमेशा निर्णय मानव प्रकृति द्वारा ही निर्धारित नहीं होते। निर्णायकों की भूमिका महत्वपूर्ण तो होती है लेकिन सभी सन्दर्भ में उस समय की परिस्थितयां व समय अति महत्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाते हैं। इसीलिए अलग-अलग परिस्थितियों में निर्णय लेने वाले वही निर्णायक अलग-अलग निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

(ग) राष्ट्रीय हित के संदर्भ में भी मारगेन्थाऊ का आकलन दोषपूर्ण है। उसके अनुसार राष्ट्रीय हित के बारे में सर्वसम्मति है कि राष्ट्रीय हित हमेशा शक्ति के सन्दर्भ में ही परिभाषित होते है। लेकिन इस बारे में प्राचीन समय में शायद सर्वसम्मति रही हों लेकिन वर्तमान समय में यह मानना उचित नही है। वर्तमान में यह विरोधों एवं अंतर्विरोधों से परिपूर्ण है। भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों, औद्योगिक क्षमताओं तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के कारण हमारी पूर्व मान्यताओं में काफी बदलाव आ चुका है। इन परिवर्तित परिस्थितियों एवं मान्यताओं के सन्दर्भ में यह विचार सर्वथा दोषपूर्ण है कि राष्ट्रीय हितों पर राज्यों में सर्वसम्मति मिलती है।

(घ) यथार्थवाद के उपागम के विरोधभाव भी स्पष्ट रूप में प्रतीत होते हैं। मारगेन्थाऊ अपने द ष्टिकोण के प्रारम्भ में मनुष्य को स्वार्थी तथा राज्यों को शक्ति के माध्यम से राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में लगे हुए पाता है। लेकिन अपनी पुस्तक में अन्त तक पहुंचते-पहुंचते वह मानते लगा कि राजनय ही सबसे उचित रास्ता है। लेकिन अच्छे राजनय हेतु अच्छे राजनीतिज्ञ की आवश्यकता है तथा उसके अनुसार राजनीतिज्ञ हमेशा स्वार्थी हितों की पूर्ति में लगाया रहेगा। इस प्रकार मारगेन्थाऊ के विचारों में यह विरोधाभाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है।

(ङ) मारगेन्थाऊ के उपागम में शक्ति/राजनीति कारकों के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों की अवहेलना की गई है। इसके अनुसार तो उदाहरणस्वरूप यदि कोई सम्बन्ध जो शक्ति से नहीं जुड़ा वह राजनैतिक संबंध नहीं है। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी आयाम है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इससे जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, मारगेन्थाऊ इस बात में भी सफल नही रहे कि राजनैतिक गतिविधियों को गैर-राजनैतिक गतिविधियों से अलग किया जा सके।

उपरोक्त कमियों के बाद भी यह उपागम निरर्थक नहीं है। यह वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह अन्य उपागमों से उचित संतुष्ट एवं वैज्ञानिक है। तीसरा यह आदर्शवाद एवं वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के स्थापना के बीच एक सेतु का काम कर रहा है। अतः भले ही इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्त के रूप में भले ही स्वीकार न करें, परन्तु एक पक्षीय सिद्धान्त के रूप में भले ही स्वीकार न करें, परन्तु एक पक्षीय सिद्धान्त के रूप में इसी स्वीकार न करना, मागेन्थाऊ के प्रति अन्याय होगा।

व्यवस्था परक उपागम
(System Approach)

'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1920 के दशक में लुडविग वॉन बर्टलेन्फी ने जीव विज्ञान में किया। उसका मुख्य अभिप्राय सभी विज्ञानों को जोड़ना रहा था। जीव विज्ञान से यह अवधारणा मानव विज्ञान, समाजशास्त्र व मनोविज्ञान में प्रयोग होने लगी। समाजशास्त्र से इसे राजनीति शास्त्र में अपनाया गया। इस विषय में राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु डेविड ईस्टन एवं गेबीरियाल आमण्ड ने प्रयोग किया तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मार्टन कापलान ने किया। अतः इस सिद्धान्त को प्रमुख रूप से राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद के फलस्वरूप विकसित हुआ माना जा सकता है।

इस उपागम से पूर्व यह जानना अति आवश्यक है कि यहां इस अवधारणा का क्या अर्थ लिया गया है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस पर सर्वसम्मति नहीं है, तथापि मुख्य रूप से व्यवस्था से अभिप्राय राष्ट्र राज्यों का वह समुच्चय है जो नियमित एवं अनवरत रूप से अन्तः क्रिया करते रहते हैं। इस प्रकार यह अवधारणा गतिशील होने के साथ साथ राष्ट्र राज्यों के व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं। यह माना जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन राष्ट्र राज्यों में आये बदलाव के कारण ही होता है, चाहे उनके व्यवहार में परिवर्तन का कारण कोई भी हो। व्यवस्थापरक उपागम द्वारा इन परिवर्तनों को समझने के प्रयास किए जाते हैं। अतः इस द ष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य अतीत एवं वर्तमान के साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भावी स्वरूप को उजागर करता है।

इस द ष्टिकोण के समर्थकों में मुख्यतः जेम्स एन. रोजनाऊ, कैनेथ वाल्टज, चार्लज मेक्ललैंड, कैनेथ बोल्डिंग, जार्ज लिस्का, आर्थर ली बर्न्स आदि के नाम सम्मिलित हैं। लेकिन इस अवधारणा को सुस्पष्ट उपागम द ष्टिकोण का स्वरूप मॉर्टन काप्लान ने प्रदान किया। अतः व्यवस्था उपागम को सामान्यतया काप्लान के नाम से ही जाना जाता है।

कॉप्लान के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अति महत्वपूर्ण है। परन्तु वह अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को राजनीतिक व्यवस्था नहीं मानता क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में निर्णयकर्ताओं की भूमिका राष्ट्रीय व्यवस्था में उनके द्वारा निर्वाह की जाने वाली भूमिका के अधीनस्थ होती है। फलतः अंतर्राष्ट्रीय मामलों के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं का व्यवहार सदा राष्ट्रीय हित के मौलिक विचार से प्रेरित होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था दो प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का समुच्चय होता है - (i) राष्ट्रीय कार्यकर्ता (भारत, अमेरिका, नेपाल, रूस आदि); तथा (ii) अधिराष्ट्रीय कार्यकर्ता (नाटो, आशियान, यूरोपीय संघ आदि)। कॉप्लान के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अवयव हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही उन्हीं के बीच में होती है। इन मान्यताओं पर आधारित कॉप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को छः प्रतिमानों की कल्पना की है जो निम्नलिखित है -

1. **शक्ति संतुलन व्यवस्था-** कॉप्लान का मानना है कि प्रथम प्रतिमान शक्ति संतुलन व्यवस्था थी जो 18वीं व 19वीं शताब्दी में प्रचलित रही। इस व्यवस्था के अंतर्गत 4-5 बड़ी शक्तियों व बाकी अन्य राज्यों का होना आवश्यक है। शक्ति संचालन हेतु छः महत्वपूर्ण नियमों का पालन किया जाना आवश्यक है - (i) प्रत्येक मुख्य राष्ट्र अपनी क्षमताओं का विकास राजनय के माध्यम से करे, युद्ध के द्वारा नहीं; (ii) प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य का प्रमुख कर्तव्य अपने हितों की सुरक्षा है और क्षमताओं के विकास के बिना हितों की सुरक्षा सम्भव नहीं है। अतः आवश्यकता हो तो युद्ध के खतरे को उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ाया जाए। (iii) युद्ध की अवस्था में मुख्य शत्रु राज्य का सर्वनाश करने की अपेक्षा युद्ध रोका जाए। (iv) राष्ट्रों के किसी ऐसे गुट के निर्माण का विरोध करना जो व्यवस्था में प्रभुत्व अपना आधिपत्य की स्थिति ग्रहण कर ले। (v) किसी शक्ति अथवा राष्ट्र को अथवा अन्य राज्यों को राष्ट्रोपरि सिद्धान्तों पर चलने से रोकना; (vi) किसी मुख्य पराजित राष्ट्र को व्यवस्था में पुनः शामिल कर लेना।

   इस प्रकार यह शक्ति संतुलन का सिद्धान्त 18वीं व 19वीं शताब्दी में तो कारगर रहा, परन्तु 20वीं शताब्दी के परिवर्तित परिवेश में यह नहीं दिखाई पड़ा। इस प्रकार के व्यवस्था में यदि कोई प्रमुख कार्यकर्ता किसी भी रूप में अंतर्राष्ट्रीय या अधिराष्ट्रीय निरंकुशता स्थापित करना चाहेगा तो शक्ति संतुलन का सिद्धान्त बदल जायेगा क्योंकि यह विशेष राष्ट्रवाद के मूल्यों का विरोधी है। अगर यह शक्ति संतुलन अस्थिर हो जायेगा तो अवश्य यह नये प्रतिमान को जन्म देगा। शक्ति संतुलन से सम्भावित बदलाव द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को जन्म देगा।

2. **शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था**- कॉप्लान के अनुसार शक्ति संतुलन के बाद शिथिल द्वि-ध्रुवीय प्रतिमान स्थापित होगा। मुख्य रूप से यह शीतयुद्ध के उन प्रारम्भिक वर्षो की है जहां दो महाशक्तियों के अतिरिक्त गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े कुछ छोटे राष्ट्रों का समूह भी मौजूद था। गुटनिरपेक्ष देशों के आन्दोलन के अस्तित्व ने ही तो दोनों महाशक्तियों को थोड़ा शिथिल बना दिया। यह व्यवस्था कई अर्थो में शक्ति संतुलन सिद्धान्त से अलग थी-

   (i) इसमें राष्ट्र राज्यों के साथ-साथ अधिराष्ट्रीय कारकों की भागीदारी भी थी।

   (ii) अधिराष्ट्रीय कार्यकर्ता भी नॉटो, वारसा पैक्ट या संयुक्त राष्ट्र जैसे कई भागों में विभक्त था।

   (iii) इसके अंतर्गत तीन प्रकार के सदस्य थे - दो प्रमुख गुट (पूंजीवादी एवं साम्यवादी), गैर-सदस्यी देश (गुट निरपेक्ष देश) तथा सार्वभौमिक कार्यकर्ता (संयुक्त राष्ट्र)।

   परन्तु इस प्रणाली में भी कई प्रकार के अन्तर्द्वद्वों का अस्तित्व था। इसीलिए कॉप्लान का मानना था कि यह द ढ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को जन्म देगा।

3. **द ढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था-** इस व्यवस्था में दो प्रमुख गुटों का ही अस्तित्व होगा। व्यवस्था केवल इन गुटों के इर्द-गिर्द ही घूमती है। इस व्यवस्था में गैर-सदस्य कार्यकर्ता (गुटनिरपेक्ष देश) तथा विश्वव्यापी कार्यकर्त्ता (संयुक्त राष्ट्र) की भूमिका महत्त्वहीन हो जाती है या उनका लोप हो जाता है। परन्तु इस व्यवस्था के स्थायित्व की गारंटी तभी होती है जब दोनों गुटों कार्यकर्त्ता गोपनीय पद्धति से संगठित हों, अन्यथा वह व्यवस्था पुनः शिथिल कि-ध्रुवीय व्यवस्था से परिणत होने लगती हैं। इस व्यवस्था में विश्वव्यापी कार्यकर्त्ता (संयुक्त राष्ट्र) की भूमिका कमजोर होने के कारण यह दोनों गुटों की राजनीति में कोई प्रभावी मध्यस्थता भी करने में असमर्थ हो जाता है। अतः दोनों ध्रुव ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण बिन्दु बन जाते हैं।

4. **सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था-** शिथिल द्वि ध्रुवीय व्यवस्था में परिवर्तन के बाद अगला प्रतिमान सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आता है। यदि शिथिल ध्रुवीय व्यवस्थ में सार्वभौमिक कार्यकर्ता (संयुक्त राष्ट्र) यदि अपने प्रभाव से अपनी स्थिति प्रबल बना लेता है तो यह स्थिति सम्भव है। इस स्थिति में सार्वभौमिक कार्यकर्ता इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के मध्य युद्धों को रोक सकता है तथा इसके साथ-साथ इन कार्यकर्ताओं को अपनी पहचान बनाने व शक्ति संग्रह की छूट भी दे सकता है। परन्तु ये राष्ट्रीय कार्यकर्ता इन शक्तियों का प्रयोग सार्वभौमिक कार्यकर्ता की छत्रछाया में ही पूर्ण करेंगे। इसके विरुद्ध कभी नहीं करेंगे। ये अपनी शक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण रूप से करेंगे। इस स्थिति में इनके राष्ट्रीय हित व सार्वभौमिक हितों के मध्य भी समन्वय विकसित किया जायेगा। परन्तु सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पास शक्ति प्रधानता की सम्भावना नहीं रहती, अतः कॉप्लान का मानना है कि इस व्यवस्था में स्थायित्व के पूर्व लम्बे समय तक अस्थायित्वच बने रहने की सम्भावना है।

5. **सोपानीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था-** इस व्यवस्था का उदय तब होता है जब एक सार्वभौमिक कार्यकर्ता प्रायः पूरे विश्व को समेट लेता है और केवल एक राष्ट्र बाहर रह जाता है। यह व्यवस्था लोकतांत्रिक या सत्तावादी दोनों प्रकार की हो सकती है लोकतान्त्रिक सोपानीय व्यवस्था को गैर - निदेशात्मक तथा सत्तावादी सोपानीय व्यवस्था को निदेशात्मक भी कहते हैं। जब निरंकुश राज्य द्वारा की गई विश्व विजय के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय कार्यकर्ता का उदय होता है तो उसे निदेशात्मक या सत्तावादी सोपानीय व्यवस्था कहा जाता है। इसके विपरीत यदि लोकतान्त्रिक राज्यों में प्रचलित नियमों के अनुसार राष्ट्रीय कार्यकर्ता का उदय होता है तो उसे गैर निदेशात्मक सोपानीय व्यवस्था कहा जाता हे तुलनात्मक रूप से निदेशात्मक प्रणाली में अधिक तनाव बना रहता है। परन्तु इस व्यवस्था में प्रकार्यात्मक तत्व भौगोलिक तत्वों की अपेक्षा अधिक सुद ढ़ माने जाते हैं। इस व्यवस्था में अधिक एकीकरण के कारण स्थायित्व भी बड़ी मात्रा में पाया जाता हे।

6. **ईकाई वीटो व्यवस्था-** कॉप्लान के अनुसार अन्तिम प्रतिमान ईकाई निषेधिकार व्यवस्था है। इसमें ऐसे घातक शस्त्रों का अस्तित्व होगा कि कोई राष्ट्र स्वयं नष्ट होने से पूर्व दूसरों को नष्ट कर देने में समर्थ हो। यह स्थिति इस प्रकार की बन जाती है कि मानो सभी राष्ट्रों को वीटो का अधिकार प्राप्त हो अथवा उनके स्वयं के निर्णय अन्तिम माने जायेंगे। इस व्यवस्था में सार्वभौमिक कार्यकर्ताओं के निर्णयों का भी कोई महत्व नहीं रह जाता। कॉप्लान के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था किसी भी प्रतिमान के फलस्वरूप पैदा हो सकती है। यह व्यवस्था तभी स्थाई/स्थिर हो सकती है जब अशान्ति या समस्याओं के समय सभी राष्ट्र सामूहिक रूप से उस राष्ट्र के विरुद्ध खड़े हो जाए जिसने यह गड़बड़ी फैलाई है।

परन्तु जब कॉप्लान ने यह महसूस किया कि 1959 में उसके द्वारा प्रदत्त व्यवस्था उपागम में दिये गए प्रतिमान परिवर्तित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से मेल नहीं खा रहे तो उसने चार नये प्रतिमान भी उसमें सम्मिलित कर लिए जो इस प्रकार से हैं-

(क) अति शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था

(ख) तनाव शैथिल्य व्यवस्था

(ग) अस्थाई गुट व्यवस्था

(घ) अपूर्ण आणविक विस्त त व्यवस्था

(क) इस व्यवस्था में गुट कार्यकर्ताओं के मध्य हथियारों के नियंत्रण हेतु सतत शोध होते रहते हैं। विभिन्न गुटों द्वारा परस्पर हितों को जगह देने की निरन्तर कोशिशें होती रही है। फलस्वरूप गुटयी संरचना कमजोर नजर आती है। फिर भी निम्न गुटों द्वारा विश्वव्यापी संगठन के भीतर निष्पक्ष या तटस्थ कार्यकर्ताओं का समर्थन प्राप्त करने हेतु प्रतिद्वन्द्विता जारी रहती है।

(ख) इस व्यवस्था के अंतर्गत दोनों प्रमुख कार्यकत्ताओं के बीच परस्पर तनाव शैथिल्य स्थापित होता रहा है। इसके अंतर्गत कुछ सीमा तक दोनों महाशक्तियों के मध्य परस्पर सहमति व्यवस्था बन जाना है। यद्यपि दोनों के बीच मतभेद आज भी बने रहें, परन्तु किसी भी प्रकार से ये मतभेद युद्ध की सीमा तक नहीं पहुंचे।

(ग) इस व्यवस्था में दोनों महाशक्तियों के बीच तनावों का बढ़ जाना प्रमुख रहा है। इसी तनाव के कारण दोनों एक दूसरे के प्रति आशंकित रहते हैं। परिणाम हथियार नियंत्रण संबंधित किसी भी बात पर सहमति नहीं बन पाती। दोनों के बीच संघर्ष बढ़ते हैं तथा सार्वभौमिक कारक की भूमिका केवल दोनों शक्तियों की इच्छा तक ही मध्यस्थ तक सीमित होती है।

(घ) यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें दोनो महाशक्तियों के अतिरिक्त 10-15 अन्य देशों की परमाणु शस्त्र सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी में आ जाते हैं यद्यपि छोटे परमाणु राष्ट्रों के संदर्भ में सन्धियाँ होना अश्चर्य सम्भव है।

यद्यपि कॉप्लान ने एक बहुत ही व्यापक ढांचागत उपागम प्रस्तुत किया है। इसकी सार्थकता बनाये रखने के लिए इसमें संशोधन भी प्रस्तुत किए। परन्तु शीतयुद्धोत्तर युग में हुए परिवर्तनों के कारण इस व्यवस्थापरक उपागम पर ही प्रश्न चिन्ह लग गये। इसके साथ-साथ कई अन्य कारणों से इस उपागम की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं-

(i) सर्वप्रथम कॉप्लान के प्रतिमानों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि उसका अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को छः भागों (बाद में 10 भागों) में बाँटना स्वेच्छा पर आधारित था। इस प्रकार के विभाजन के पीछे किसी भी प्रकार के तर्क भी नही

प्रस्तुत किए। इसीलिए न तो उसके प्रतिमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की कसौटी पर खरे उतर सकें तथा न ही वे कोई उपयुक्त भविष्यवाणियाँ करने में सक्षम रहे।

(ii) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तन एक क्रमबद्ध तरीके से नहीं हुआ जैसा काप्लान ने सोचा था। उदाहरणस्वरूप, कॉप्लान का मानना था कि द्वि ध्रुवीय व्यवस्था में पहले शिथिलता आयेगी व बाद में द ढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था आयेगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी प्रकार, 1991 में शीतयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अस्तित्व में आने के साथ पर एक ध्रुवीय व बहु ध्रुवीय व्यवस्था की स्थापना पर वाद-विवाद चल रहा है। आने वाले कुछ वर्ष तय करेंगे कि इस संक्रमण काल की परिणति एक ध्रुवीय या बहुध्रुवीय या कोई अन्य वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में होगी।

(iii) कॉप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हेतु छः प्रतिमानों के निरूपण करते समय उन महत्वपूर्ण तत्वों की भी अवहेलना की है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त, कॉप्लान ने मात्र राष्ट्रीय हित को ही एक कारण माना है, परन्तु इस द ष्टि से भी राष्ट्रीय हित को परिभाषित करना आवश्यक था, वह भी कॉप्लान ने नहीं किया।

(iv) कॉप्लान द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न प्रकार के कार्यकर्ताओं की चर्चा की गयी है, जैसे - आवश्यक, लघु राष्ट्रीय आदि। परन्तु वास्तव में कौन कार्यकर्त्ता किस समय यह भूमिका किस रूप में निभा रहा है यह कहना व उसको पहचानना अति कठिन होता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि विभिन्न कमियों के बावजूद भी कॉप्लान का प्रयास सराहनीय है। उसके द्वारा स्थापित प्रतिमान किसी न किसी रूप में अलग-अलग समयों में प्रचलित रहे हैं। कई लेखकों ने भी इस उपागम को लेकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का आकलन करने के प्रयास किए हैं। कॉप्लान ने भी इस उपागम की सफलता हेतु कठोर परिश्रम किया है। यद्यपि पूर्ण रूप से तो नहीं पर कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक विश्लेषण हेतु सार्थक प्रयास है।

निर्णय परक उपागम (Decision-making Approach)

निर्णय परक उपागम राजनीति शास्त्र के अध्ययन हेतु व्यवहारवादी आंदोलन से प्रेरित है। यद्यपि विभिन्न लेखकों ने इस संदर्भ में लिखा है, परन्तु इसे उपागम के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय रिचर्ड सी स्नाइडर व उसके साथियों एच. डब्ल्यू बर्क या बर्टन सापिन को जाता है। 1954 में इन तीनों ने मिलकर लिखी पुस्तक - डिसिजन मेकिंग एज एन अप्रोच टू दा स्टडी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स - में सर्वप्रथम इसे प्रस्तुत किया गया। निर्णय परक सिद्धान्त के आकलन से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि नीति निर्माण व निर्णय निर्माण कई सन्दर्भो में बिल्कुल अलग अवधारणाएं हैं।

निर्णय परक द ष्टिकोण का मानना है कि (i) निर्णय निर्माण का अध्ययन उसी राज्य की प ष्ठभूमि के संदर्भ में होना चाहिए जिस परिवेश का वह भाग है। (ii) इसका अध्ययन उन परिकल्पनाओं के आधार पर किया जाना चाहिए जिस आधार पर निर्णय लेने वाला विश्व की पुनर्रचना करना चाहता है। इस द ष्टिकोण को विकसित करने के बारे में दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं - (क) प्रत्येक देश के उन मार्मिक संरचनाओं का पहचानना आवश्यक है जहां परिवर्तन होते हैं, निर्णय लिए जाते हैं, कार्यवाहियां की जाती हैं आदि। (ख) निर्णय लेने वालों के व्यवहार की परिस्थितियों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस उपागम का मुख्य विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मुख्य अभिकर्ता तो राष्ट्र इही होते हैं, परन्तु अपनी इस भूमिका का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के माध्यम से ही करता है। अतः राष्ट्रों के व्यवहार का सही आंकलन राष्ट्र के उन प्रतिनिधियों के व्यवहार द्वारा संभव हो सकता है। अतः निर्णयकर्त्ताओं के व्यवहार का अध्ययन करना अति अनिवार्य है। लेकिन निर्णयकर्त्ताओं के इस व्यवहार का अध्ययन उसकी सभी परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाना चाहिए। इस प्रकार उस सारी प्रक्रिया का अध्ययन किया जाना चाहिए जिसके माध्यम से वह निर्णय लेने वाला गुजरता है। अतः स्नाइडर व अन्य विद्वानों का मानना है कि किसी भी निर्णय को समझने हेतु यह जानना आवश्यक है कि (i) निर्णय किसने लिया?; (ii) किन-किन बौद्धिक एवं अंतःक्रियाओं के माध्यम से वह/वे व्यक्ति इस निर्णय पर पहुंचे?

स्नाइडर के अनुसार निर्णय लेने वाले मुख्य रूप से तीन बातों से प्रभावित होते हैं-

(i) सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव निर्णय लेने वाले पर समाज के आन्तरिक परिवेश का होता है। इस आन्तरिक परिवेश में जनमत के साथ साथ उसका व्यक्तित्व, भूमिकाएं, सामाजिक मूल्य, नागरिकों का चरित्र, उनकी मांगे, सामाजिक संगठन की मुख्य

विशेषताएं जैसे समूह संरचना, सामाजिक प्रक्रियाएं, विभेदीकरण, ढांचागत स्थिति आदि उसे अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त समाज की भौतिक व प्रौद्योगिक स्थिति भी महत्वपूर्ण होती है।

(ii) आन्तरिक के साथ-साथ बाह्य परिवेश भी उतना ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। इसमें मुख्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संकट, संघर्ष व सहयोग, महाशक्तियों की भूमिका, पड़ोसियों का रुख आदि महत्वपूर्ण होते हैं। अतः दुनिया के अन्य राष्ट्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भी व्यापक असर निर्णायकों पर पड़ता है।

(iii) आन्तरिक व बाह्य वातावरण के साथ-साथ निर्णय प्रक्रिया की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है। इसके मुख्य रूप से प्रशासनिक ढांचे, सरकारी व गैर सरकारी अभिकर्ताओं की परस्पर क्रिया, कार्यपालिका व विधानमण्डल की अन्तःक्रिया आदि का प्रभाव भी महत्त्व रखता है।

इस प्रकार स्नाइडर ने राज्य को निर्णय लेने वालों के रूप में माना है। अतः इन निर्णय लेने वालों के व्यवहार के अध्ययन से अनुभव सिद्ध शोध सम्भव है। इस प्रकार व्यवहारवाद के माध्यम से स्नाइडर ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया है। सैद्धान्तिक रूप में तो स्नाइडर के समर्थक उसकी मुख्य अवधारणा को मानते हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में समर्थकों की कार्य शैली में थोड़ा अलगाव है। परन्तु वे सभी भी निर्णय परक उपागम की मूल मान्यताओं से सहमत हैं।

निर्णय परक उपागम की विद्वानों ने विभिन्न कारणों से आलोचनाएं भी की हैं जो निम्नलिखित हैं -

(i) सर्वप्रथम कुछ आलोचक इस सिद्धान्त को अति तर्कशील तो कुछ इसे तर्क विहीन कहकर आलोचना करते हैं। जो इस उपागम को अति तर्कशील मानते हैं उनका कहना है कि इस उपागम के अनुसार निर्णय लेने वाले - (i) निर्णय के सभी वर्गो व उप वर्गो के फायदे व नुकसान का आकलन करते हैं; (ii) फिर कई विकल्प बनाते हैं; (iii) प्रत्येक विकल्प पर समान गम्भीरता से विचार करते हैं; तथा (iv) फिर सोच समझ कर एक विकल्प चुनते हैं। परन्तु दूसरी ओर तर्क विहीनता के संदर्भ में आलोचकों का कहना है कि स्नाइडर ने कभी नहीं कहा कि (i) निर्णय लेने वाले जाने या अनजाने में मूल्यों के बारे में सोचे; (ii) उपलब्ध साधनों के बारे में स्पष्ट या अस्पष्ट विचार रखें; (iii) अपने संसाधनों का लक्ष्य के साथ मेल करें; तथा (iv) अंततः कुछ विकल्पों को चुनें।

(ii) आलोचकों का मानना है कि इस अध्ययन करने हेतु शोधकर्त्ता का मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ होना आवश्यक है। क्योंकि स्नाइडर का मानना है कि विदेशी नीति के शोधकर्त्ता को निर्णय लेने वाले के उद्देश्य को नकारना नहीं चाहिए। क्योंकि इस निर्णय लेने वालों के राजनैतिक उद्देश्य उनके व्यक्तिगत उद्देश्यों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(iii) इस उपागम की एक आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह एक विश्वसनीय सिद्धान्त के प्रतिपादन में असफल रहा है। इस द ष्टिकोण के अंतर्गत निर्णयों को कई वर्ग व उपवर्गो में बांट दिया गया है, बल्कि उसकी एक समग्र प्रस्तुती नहीं की गई। इसके माध्यम से किसी भी निर्णय लेने में आन्तरिक, बाह्य तथा प्रक्रिया संबंधी कमजोरी एवं ताकत को तो दर्शाया गया है। परन्तु ये तीनों ही स्थितियां अलग-अलग निर्णयों को अलग-अलग रूप में प्रभावित करती है, कोई एक समग्र या सामान्यीकरण प्रस्तुत नहीं करती।

(iv) इस उपागम को व्यवहारवादियों की भांति मूल्य रहित रखने की बात की है, परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत है। विदेशी नीति संबंधी मामलों का मूल्य रहित आंकलन उन्हीं निर्णयों पर लागू होता है जो मामले हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त, उन मुद्दों के विश्लेषण में निर्णयों के सही या गलत होने का फैसला भी इस उपागम के माध्यम से सम्भव नहीं है। अन्ततः प्रत्येक निर्णय का सही या गलत होना उस राष्ट्र से सम द्ध मूल्यों पर ही टिका होता है, मूल्य-रहितता पर नहीं।

(v) यह द ष्टिकोण समस्या के समाधान में भी सहायक नहीं है। इस उपागम के माध्यम से यह जानकारी तो मिल जाती है कि अमुक निर्णय क्यों, कहां व किसने लिया। परन्तु उसके परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा, समस्या का समाधान हुआ या नहीं आदि कोई संकेत इस उपागम से नहीं मिलते।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि यह आंशिक द ष्टिकोण ही रहा तथा किसी सार्वभौमिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी असफल रहा। परन्तु इसके दो परिणाम फिर भी उपयोगी रहे - एक, व्यक्तियों के वस्तुनिष्ठ व्यवहार के अध्ययन से राज्यों के निर्णयों का सही आंकलन होने से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भागीदारी के स्वरूप का कुछ ज्ञान हुआ। दूसरे, विदेश नीति सम्बन्धी विभिन्न निर्णयों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सका। अतः इस सीमा तक इस उपागम की उपयोगिता बनी हुई है।

खेल/क्रीड़ा उपागम (Game Theory)

यह उपागम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु आंशिक उपागमों में से एक है। मूलतः इसका विकास गणितज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों ने किया। सबसे प्रथम इसे पहचान व इसको विकसित किया मार्टिन शुबिक (गेम्ज थ्योरी एण्ड रिलेटिड अप्रोचिज टू सोशल बिहेवियर (1954), ऑस्कर मॉर्गन्स्टर्न (थ्योरी ऑफ गेम एण्ड ईकोनोमिक बिहेवियर (1964), मोरटन डी. डेविस (गेम थ्योरी : ए नॉन टेक्नीकल इंट्रोडक्सन (1970) आदि। लेकिन इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रतिमान के रूप में लागू किया मार्टन कॉप्लान, काल डॉयस, आर्थर ली. वर्न्स, रिचर्ड कवांट आदि ने।

खेल द ष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक विश्लेषण प्रणाली तथा विभिन्न विकल्पों में से एक विकल्प चुनने का तरीका है। यह विचारों का ऐसा समूह है जो तर्क संगत निर्णयों एवं प्रतियोगिता व संघर्ष की परिस्थितियों में, जब प्रत्येक प्रतिभागी अधिकतम लाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, श्रेष्ठतम रणनीति के चयन से सम्बद्ध है। यह उपागम कोशिश करता है कि किन परिस्थितियों में कौन सा निर्णय या प्रक्रिया या विकल्प तर्कसंगत है। अतः इस उपागम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णयकर्त्ताओं को अपने विकल्पों की उपादेयता जांचने का सर्वोत्तम अवसर प्रदान करता है। अतः यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तर्कसंगत व्यवहार का प्रतिमान है जिससे प्रत्येक राज्य अपनी विदेशी नीति संचालन के क्रम में ऐसा निर्णय ले जिससे उसके हितों में व द्धि के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

यह उपागम रणनीति का खेल है, संयोग का नहीं। इसमें खेल के अपने नियम, खिलाड़ी, क्रियाएं, रणनीति, क्षतिपूर्ति आदि होते हैं। खेल प्रतिस्पर्द्धापूर्ण एवं सहकारितापूर्ण दोनों ही प्रकार का हो सकता है। इस खेल के खिलाड़ी निर्णय लेने वाले होते हैं जो दो या दो से अधिक भी हो सकते हैं। खेल के निश्चित नियम होते हैं जिन पर खिलाड़ियों का नियंत्रण नहीं होता। प्रत्येक खिलाड़ी का प्रयास तो अपने हितों के संदर्भ में अधिकतम लाभ कमाने का होता है।

सामान्यतया इस उपागम के समर्थक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के संदर्भ में मुख्य तौर पर निम्न प्रश्नों के उत्तर खोजने के प्रयास करते हैं - खिलाड़ी के पास कौन-कौन सी रणनीतियां हैं?, अपने विरोधी के पास कौन-कौन सी रणनीतियां हैं?, विरोधी व अपनी रणनीतियों की तुलना करता है, विभिन्न परिणामों के मूल्यों का आकलन करते हैं, तथा अपने विरोधी द्वारा इन मूल्यों का किस प्रकार आकलन किया जा रहा है आदि।

खेल कई प्रकार के होते हैं जिनमें से मुख्यतया इन तीन प्रकार के खेलों को अधिक महत्त्व दिया जाता है -

(i) **शून्य योग खेल** - इसमें मुख्यतः दो खिलाड़ी होते हैं जिसमें किसी भी एक पक्ष का लाभ किसी दूसरे की कीमत पर होता है। अतः इस खेल में संघर्ष निर्णायक होता है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत द्विपक्षीय संबंधों के अध्ययन हेतु अति महत्त्वपूर्ण है।

(ii) **स्थिर योग खेल-** इस खेल में किसी भी पक्ष का लाभ दूसरे की कीमत पर नहीं होता। इसमें खिलाड़ियों के मध्य पारस्परिक सहयोग अधिक होता है तथा इसी सहयोग के साथ समान लाभ प्राप्त करने की कोशिश की जाती है।

(iii) **गैर-शून्य-योग खेल**- यह खेल उपरोक्त दोनों के बीच की स्थिति का द्योतक है। इसमें खेल के विभिन्न पक्षों के बीच प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग दोनों ही उपलब्ध होते हैं। इसमें दोनों ही पक्ष लाभान्वित भी हो सकते हैं तथा दोनों की हानियां भी हो सकती है।

विभिन्न आलोचकों ने इस सिद्धान्त की भी निम्न आधारों पर आलोचनाएं की हैं-

(i) सर्वप्रथम आलोचकों का कहना है कि यह सत्य है कि इस उपागम के माध्यम से विदेश नीति के तर्कपूर्ण निर्णयों का पता लगा सकते हैं। इसके साथ-साथ यह भी जान सकते हैं कि विदेश नीति का अमुक फैसला तर्कसंगत है या नहीं। परन्तु समस्या वहां आती है जहां व्यवहार अविवेकपूर्ण होता है। यह उपागम इस बात को बताने में सक्षम नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में खिलाड़ी अविवेकपूर्ण अथवा गैर-तर्कसंगत व्यवहार क्यों करते हैं।

(ii) इस उपागम के माध्यम से लाभ-हानि का आकलन करने की कोशिश की जाती है। परन्तु यह द ष्टिकोण इस संदर्भ में यह मानकर चलता है कि प्रत्येक खिलाड़ियों के उद्देश्यों, मानकों, नेत त्व की विशेषताओं आदि समान होती हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत होती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में ज्यादातर प्रतिभागियों के हित एक दूसरे से प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं, सहयोगात्मक बहुत कम होते हैं।

(iii) यह उपागम यह मानकर चलता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णयकर्त्ता और उसके निर्णय पूर्णतया विवेकपूर्ण एवं नैतिक होते हैं। इसके साथ-साथ यह भी माना जाता है कि इन निर्णयों के संबंध में उनके पास पूर्ण सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। लेकिन वास्तविकता ठीक इसके विपरीत होती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत सारी सूचनाएं गोपनीय होती हैं तथा ज्यादातर निर्णय विवेकपूर्ण या नैतिक नहीं होते हैं, बल्कि स्वार्थी राष्ट्रहित से प्रेरित होने के कारण सिर्फ अपने राष्ट्र के भले हेतु ही लिए जाते हैं।

(iv) मुख्य रूप से यह उपागम दो राष्ट्रों के शून्य-योग खेल तक ही अधिक कारगर हो सकता है। क्योंकि दो राष्ट्रों के सीधे संबंधों के संदर्भ में लाभ हानि का स्पष्ट आंकलन सम्भव हो सकता है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियों के संदर्भ में यह द ष्टिकोण कारगर नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति बहुत कम ही उपलब्ध होती है। इसीलिए इसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। इसीलिए कुछ आलोचकों का मानना है कि यह उपागम युद्ध, युद्ध निवारण, आतंकवाद, परमाणु खतरों, निरोधक व्यवस्था, व्यापक प्रतिशोध जैसी कई परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन करने हेतु सक्षम नहीं है।

(v) यह उपागम अमूर्त रूप में ही है, बहुत कम परिस्थितियों में इसके स्वरूप को उजागर किया जा सकता है। इसी प्रकार इसके अन्य खेल के नियमों की बात है। यह भी अस्पष्ट है तथा स्पष्ट रूप से सभी खिलाड़ी इसे मानते हों ऐसा आवश्यक नहीं। अतः यह द ष्टिकोण व्यवहारिकता से भी काफी परे है।

उपरोक्त कमियों के बावजूद भी कुछ सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में द्वि पक्षीय संबंधों के अध्ययन करने में यह अवश्य सक्षम है, लेकिन यह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त या सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में बिल्कुल उपयुक्त नहीं है।

संचार उपागम (Communication Theory)

संचार उपागम के बारे में सर्वप्रथम गणितज्ञ नार्बर्ट वीनर ने अपने संचार, साइबरनेटिक्स, फील्ड बैक आदि अवधारणाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। परन्तु इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कार्ल डब्ल्यू ने अपनी पुस्तक - नर्वज ऑफ गवर्नमेंट - के माध्यम से प्रस्तुत किया। इस उपागम के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के लक्ष्यों को निर्णय प्रक्रिया व समायोजन के माध्यम से जानना है। यह सरकारी तंत्र की कार्यवाही को सूचना प्रवाह की तरह मानती है। अतः विभिन्न ढांचों के माध्यम से किस प्रकार सूचना प्रवाह की प्रक्रिया होती है इसे जानना जरूरी है। इस उपागम की निर्णय के परिणामों की बजाय निर्णयों की प्रक्रिया में अधिक रूचि है। अतः यह साइबरनेटिक्स के अनुरूप ही है क्योंकि उसमें भी संचालन व समायोजन पर अधिक बल दिया जाता है न कि निर्णयों के परिणामों पर।

संचार उपागम का मुख्य बल परिवर्तन पर है। इसका मानना है कि यह परिवर्तन शक्ति की बजाय संचार पर आधारित होगा तो अधिक प्रभावी व कारगर रहेगा। डॉयस का मानना है कि प्रत्येक प्रणाली में सूचना को ग्रहण करने वाले कारक होते हैं। कई सूचना ग्रहण करने वाले ढांचे मात्र सूचना ग्रहण ही नहीं करते अपितु उसे चुनते हैं, छांटते हैं, आंकड़ाबद्ध करते है। आदि। निर्णय लेने वाली प्रक्रिया में उन सूचनाओं को याद रखने, मूल्य की जटिलता आदि के माध्यम से वास्तविक निर्णय लेने तक संभाल कर रखा जाता है।

सूचना ग्रहण करने के अतिरिक्त, डॉयस के अनुसार, राजनैतिक तंत्र में चैनलों के भार व उनकी क्षमताओं का वर्णन भी होता है। राजनैतिक प्रणाली में सुचनाओं का भार प्रणाली के पास उपलब्ध समय की द ष्टि से तय होता है। उसी प्रकार भार की क्षमता चैनलों के उपलब्धिता पर आधारित है। इन्हीं आधारों पर यदि वो राजनैतिक व्यवस्था आने वाली सभी सूचनाओं को सुनिश्चित रूप से संभाल पाती है तो वह प्रणाली उत्तरदायी है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाती है तो प्रणाली अनुत्तरदायी है।

कार्ल डॉयस का यह भी मानना है कि सूचनाओं की मापतोल व गिनती सम्भव है। भेजी गई सूचना किस मात्रा में सही या विकृत रूप में प्राप्त की जाती है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण सारणियों की उपलब्धता, क्षमता या मर्यादा का परिमाणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। डॉयस ने समूहों, समाजों, राष्ट्र व अंतर्राष्ट्रीय समाजों, सभी संगठनों आदि की संश्लिष्टता मापने हेतु सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया है।

इस उपागम में 'नकारात्मक फीडबैक' एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। इसका अभिप्राय उन प्रक्रियाओं से है जिसके माध्यम से निर्णयों व उनसे क्रियान्वयन से उत्पन्न होने वाले परिणामों की सूचना व्यवस्था में पुनः इस प्रकार स्थापित कर सकें कि वह

व्यवस्था के व्यवहार को स्वतः ऐसी दिशा प्रदान करें कि लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सके। अतः इस द ष्टिकोण में नकारात्मक फीडबैक लक्ष्यों की प्राप्ति में अति सहायक सिद्ध होती है। एक कुशल व्यवस्था वह है जो सूचना को अधिकृत रूप से सही समय पर ले सके तथा उसके आधार पर अपनी स्थिति व व्यवहार में समय पर यथोचित बदलाव कर सके। इस प्रकार डॉयस राजनीतिक प्रणाली को जीवित प्राणी की शारीरिक व्यवस्था के समान मानता है।

डॉयस ने अपने इस संचार उपागम में ढांचागत सुधार हेतु चार मात्रात्मक अवधारणाओं का समावेश किया है। ये चार अवधारणाएँ हैं - (i) भार (लोड), (ii) देरी (लेग), (iii) लाभ (गेन), तथा (iv) अग्रता (लीड)। भार से उसका अभिप्राय है व्यवस्था द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संचार की गति व उसकी मात्रा को लक्ष्य के साथ समन्वित करना। देरी का अर्थ है सूचना के सही व उचित समय पर पहुंचने पर भी व्यवस्था द्वारा निर्णयों का उसके फलस्वरूप उत्पन्न परिणामों में देरी करना। लाभ से उसका अभिप्राय है कि प्राप्त होने वाले सूचना के प्रतिउत्तर में शीघ्रता व प्रभावी होना। अग्रता से अभिप्राय सम्भावित परिणामों का पूर्व आकलन करके अपने निर्धारित लक्ष्यों को समय पर प्राप्त करना। अतः डॉयस का मानना है कि इन चार कारणों से संचार उपागम का मात्रात्मक ढंग से अध्ययन सम्भव है।

अतः संचार द ष्टिकोण में डॉयस ने अध्ययन की मूल ईकाई सूचना प्रवाह को माना है। क्योंकि इसी के माध्यम से संचालन की प्रक्रिया को गति के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी निर्णयों हेतु सूचना प्रवाह अति आवश्यक बन पड़ा है। जिन राष्ट्रों के पास सुचारू, सुस्पष्ट एवं वस्तुनिष्ठ सूचना तंत्रों का जाल बिछा है वे अपने विदेशी नीति के निर्धारण एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने में ज्यादा सफल होते हैं। इसी के परिणामस्वरूप वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी अधिक प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

संचार उपागम की भी कई आधारों को लेकर आलोचनाएँ की गई हैं जो इस प्रकार से हैं-

(i) इस उपागम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह निर्णयों के परिणामों की बजाय निर्णय लेने की प्रक्रिया के बारे में ज्यादा बल देता है। सूचना प्रवाह के स्वरूप पर तो इसका मुख्य ध्यान है, लेकिन उन विभिन्न ढांचों को नकारती है जिन्होंने सूचना को यह स्वरूप प्रदान किया है इस प्रकार से जो बहुत महत्वपूर्ण पहलू है उसे नकार कर यह द ष्टिकोण गौण पहलू को जरूरत से अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

(ii) इस उपागम का विवरण इतना जटिल एवं यांत्रिकी बन गया है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य विद्यार्थियों की समझ से परे है। इसके आधार पर मानव प्रकृति को यान्त्रिकी से सम्बद्ध कर कई प्रकार की जटिलताएं पैदा कर दी हैं।

(iii) सामान्य रूप से प्रतिमानों की स्थापना विषय के सरलीकरण हेतु की जाती है। परन्तु डॉयस का यह मॉडल अपने आप में इतना जटिल है कि इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रारूप को समझना और कठिन हो गया है। इस प्रतिमान के माध्यम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलाव व विकास के लिए जरूरी ढांचों एवं संचार प्रवाह को प्रदर्शित करना सम्भव नहीं हो सका है।

(iv) इस उपागम के अंतर्गत जिस प्रकार के उच्च स्तर की भूमिकाओं की विशेषता की आवश्यकता होती है, वह वास्तविक जिन्दगी में शायद ही आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त, इनको बनाने वाले सूचना प्रवाह चैनल भी कभी-कभी इतने औपचारिक नहीं होते जितने इस उपागम में दर्शाये गए हैं। राजनैतिक प्रक्रिया की कार्यशैली भी इतनी सुस्पष्ट नहीं होती है। इसके अलावा, कई बार तो निर्णय लेने वालों की द ष्टि में लक्ष्य भी इतने सुनिश्चित नहीं होते और निर्णयों की दिशा तो हमेशा ही अनिश्चित होती है। इसीलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस द ष्टिकोण को राजनैतिक शोध हेतु शायद ही प्रयोग में लाया जाये।

(v) **अन्ततः-** इस उपागम की यह भी आलोचना है कि यद्यपि डॉयस का कार्य काफी गहन व व्यापक था, परन्तु इस द ष्टिकोण के सभी निष्कर्ष सलाहमात्र थे। यह उपागम सरकारों की गतिविधियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के प्रश्न तो अवश्य उठाता है, लेकिन उन प्रश्नों के उत्तर देने में यह बहुत कम मदद करता है।

उपरोक्त कमियों के उपरान्त भी एक सन्दर्भ में इसका महत्त्व है। विदेश नीति निर्माण में संचार तंत्रों का विशेष महत्त्व है तथा वर्तमान सूचना तकनीक के विकास के युग में इसका महत्व कम होने की बजाय बढ़ने की सम्भावनाएं हैं।

अध्याय-3
राष्ट्रीय शक्ति - तत्त्व एवं सीमाएँ, राष्ट्रीय हित, विचारधारा, विदेश नीति एवं राजनय

(National Power: Elements and Limits, National Interest, Ideology, Foreign Policy and Diplomacy)

राष्ट्रीय शक्ति
(National Power)

परिभाषा (Definition)

साधारण शब्दों में व्यक्ति के संदर्भ में शक्ति से अभिप्राय है जब एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को नियन्त्रित करने और उनसे मनचाहा व्यवहार कराने और उन्हें अनचाहा व्यवहार करने से रोकने की सामर्थ्य या योग्यता से है। जब यही बात सभी व्यक्ति मिलकर राष्ट्र के बारे में अभिव्यक्त करके दूसरे राज्य/राज्यों के संदर्भ में करते हैं तो वह राष्ट्रीय शक्ति होती है।

विभिन्न विद्वानों ने इसकी निम्नलिखित परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं-

(i) **ऑरगैंस्की -** राष्ट्रीय शक्ति दूसरे राष्ट्रों के आचरण अपने लक्ष्यों के अनुसार प्रभावित करने की क्षमता है। जब तक कोई राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, चाहे वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, परन्तु उसे शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता है।

(ii) **पेडलफोर्ड एवं लिंकन-** यह शब्द राष्ट्र की भौतिक व सैनिक शक्ति तथा सामर्थ्य का सूचक है। राष्ट्रीय शक्ति सामर्थ्य का वह योग है जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु उपयोग में लाता है।

(iii) **जार्ज रचवार्जन बर्जर -** शक्ति अपनी इच्छा को दूसरों पर लादने की क्षमता है जिसका आधार न मानने पर प्रभावशाली विरोध सहना पड़ सकता है।

(iv) **हेन्स जे. मारगेन्थाऊ -** शक्ति, उसे कार्यान्वित करने वालों व उनके बीच जिन पर कार्यान्वित हो रही है, एक मनोवैज्ञानिक संबंध है। यह प्रथम द्वारा द्वितीय के कुछ कार्यो को उसके मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर नियन्त्रित करने की क्षमता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को प्रभावित करने की क्षमता है। परन्तु इस क्षमता के पीछे दण्डात्मक शक्ति भी होती है उसी के डर से शक्ति प्रभावी हो सकती। बिना दण्डात्मक या प्रतिबंध लगाने की क्षमता के एक राष्ट्र दूसरे पर इसे लागू नहीं कर सकता।

परन्तु शक्ति के संदर्भ में कुछ बातों को जानना अत्यंत आवश्यक है। प्रथम, शक्ति की कल्पना रिक्तता के वातावरण में नहीं की जा सकती, अपितु इसके प्रयोग हेतु कम से कम दो या दो से अधिक राष्ट्र/राष्ट्रों के समूह का होना जरूरी है। द्वितीय, शक्ति के संबंध हमेशा दो विरोधियों के मध्य ही नहीं होते, बल्कि कुछ परिस्थितियों में मित्र राष्ट्रों के बीच भी पाये जा सकते हैं। त तीय, शक्ति का प्रयोग विरोधियों व मित्रों के इलावा तटस्थ राष्ट्रों के बीच भी हो सकते हैं। चतुर्थ, शक्ति को वस्तु या पदार्थ नहीं, बल्कि राष्ट्रों के मध्य संबंधों की स्थिति है। अन्ततः शक्ति के विभिन्न रूप हो सकते हैं।

प्रमुख तत्व

शक्ति के विभिन्न तत्व होते हैं। इन्हीं तत्वों को कई बार शक्ति के निर्धारक तत्व भी कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहना अनुचित है। क्योंकि शक्ति के तत्व अपने आप में शक्ति नहीं है, अपितु उनका होना शक्ति प्राप्त करने में सहायक होता है। अतः इन तत्वों के संबंध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है - (i) सभी तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं तथा परस्पर निर्भरता रखते हैं। (ii) इन तत्वों को वस्तुनिष्ठ रूप में मापना कठिन होता है, उनके संबंध में अनुमान ही लगाया जा सकता है। (iii) इनका सही मात्रा में आंकलन इसलिए सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि ढांचागत एवं तकनीकी परिवर्तनों के कारण इनमें भी बदलाव सम्भव है। (iv) राष्ट्रीय शक्ति किसी एक तत्व से नहीं बल्कि विभिन्न तत्वों के किसी विशेष परिस्थिति में योग पर आधारित होती है। (v) इन्हें अपनी प्रव त्ति के स्वरूप के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है।

विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अलग-अलग आधारों पर वर्गीकृत किया है। मारगेन्थाऊ ने इसे दो भागों स्थाई व परिवर्तनशील में बांटा है। उनके अनुसार जहां भूगोल व प्राकृतिक संसाधन इकाई है, वहीं सैन्य तैयारी, आबादी, राष्ट्रीय चरित्र, राजनय व सरकार परिवर्तनशील है। औरगेस्की इन्हें प्राकृतिक (भूगोल, संसाधन, आबादी आदि) एवं सामाजिक (आर्थिक विकास, राजनैतिक ढांचा, राष्ट्रीय चरित्र आदि) भागों में बांटते हैं। ई.एच.कार इन्हें सैन्य शक्ति, आर्थिक शक्ति एवं विचारों पर शक्ति के रूप में विभाजित करते हैं। महेन्द्र कुमार इन्हें प्राकृतिक (भूगोल, संसाधन, आबादी), सामाजिक (आर्थिक विकास, राजनैतिक ढांचा, राष्ट्रीय मनोबल) तथा विचारात्मक (आदर्श, बुद्धिमानी एवं नेत त्व की बुद्धिमता) रूप में वर्णन करते हैं। पॉयर एवं पर्किंस इन्हें मूर्तरूप (मनोबल एवं विचारधारा) के रूप में वर्णित करते हैं। इन विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर कुल मिलाकर एक जैसे ही तत्वों को सम्मिलित किया गया है। इन तत्वों के गहन विश्लेषण के बाद ही इनका राष्ट्रीय शक्ति में योगदान बताना सम्भव हो सकेगा। अतः इन तत्वों के गहन विश्लेषण की अति आवश्यकता है जो इस प्रकार से है-

1. भूगोल

भूगोल भी देश की राष्ट्रीय शक्ति में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। कई विद्वान तो भूगोल को ही राष्ट्रीय शक्ति के रूप में देखते हैं। भूगोल के राष्ट्रीय शक्ति से सम्बन्धित चार बातें अतिमहत्वपूर्ण हैं - (क) क्षेत्रफल / आकार; (ख) स्थलाकृति; (ग) स्थिति; तथा (घ) (जलवायु)।

(क) ***क्षेत्रफल/आकार-*** किसी भी देश का बड़ा आकार उसको शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई भी महाद्वीपीय आकार का देश ही बड़ी शक्ति का रूप धारण कर सकता है न कि कोई छोटे से क्षेत्रफल का देश। लेकिन यदि यह बड़ा आकार रेगिस्तान, घने जंगल, बर्फीला प्रांत है तब यह राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने में सक्षम नहीं होता। परन्तु यदि यह क्षेत्र रहने के योग्य है तभी इस आकार का लाभ हो सकता है। बड़ा आकार सैन्य व गैर सैन्य दोनों स्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति का विस्तार करता है। सैन्य रूप से बड़े आकार के कई सैनिक लाभ हैं। युद्ध के समय देश की सेना को पीछे भी हटना पड़े तो यह सम्भव है। इसी प्रकार इससे सामरिक गहनता भी प्राप्त होती है। अतः लम्बे युद्धों को चलाने व उनमें अपनी सुरक्षा हेतु बड़ा आकार सहायक सिद्ध होता है।

गैर सैन्य रूप से भी बड़ा आकार कई सन्दर्भो में राष्ट्र की शक्ति बढ़ाता है। इसके अंतर्गत एक बड़ी जनसंख्या के भरण पोषण की व्यवस्था उचित प्रकार से की जा सकती है। बड़े क्षेत्रफल वाले राष्ट्रों में प्राकृतिक खनिजों एवं संसाधनों की उपलब्धिता की सम्भावनाएं अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त, इसमें उद्योगों को राज्य के विभिन्न भागों में होने से युद्ध के समय राष्ट्र सम्पूर्ण विनाश से बच सकता है। राष्ट्र का युद्ध में नुकसान होने पर भी कुछ आबादी व उद्योग धन्धे बाद में भी सुरक्षित बच जाते हैं। अतः एक बड़ा राज्य अवश्य ही शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएं रखता है।

(ख) ***स्थलाकृति*** - किसी भी देश की स्थलाकृति भी उसे शक्ति बनाने में सहायक/रुकावट बन सकती है। किसी देश की भूमि पहाड़ी व दूरगम्य है या पैदावार वाला भूमिगत मैदान है या बर्फ से ढंका प्रान्त है यह उसे लाभ/हानि की स्थिति में रख सकता है। द्वितीय, स्थलाकृति के आधार ही सीमाओं के आकलन की स्थिति निर्भर करती है। क्या इस प्रदेश की प्राकृतिक सीमाएँ है या अस्पष्ट सीमाएं है इस प्रकार उसकी सुरक्षा सम्बन्धी दबाव निर्भर करता है। त तीय, क्या एक राष्ट्र समुद्र से सीधे लगा हुआ है या वह एक भू-बद्ध राष्ट्र है जो अपने समुद्री मार्ग हेतु किसी अन्य पर निर्भर करता है आदि इस बात पर भी उसके शक्तिशाली बनने की क्षमता पर सीधा असर पड़ता है। अन्ततः

उसका बाह्य विश्व से किस प्रकार के रिश्ते हैं यह भी निर्भर करता है उसकी स्थलाकृति पर। क्योंकि उससे पड़ौस की ओर जाने के मार्ग सरल है, व्यापार सम्भव है या नहीं, आदि इस मुद्दे को काफी हद तक प्रभावित करते हैं।

(ग) ***स्थिति***- राष्ट्र शक्ति के सन्दर्भ में उसकी स्थिति भी महत्वपूर्ण होती है। प्रथम, किसी भी राष्ट्र की भूमध्य रेखा से दूरी व नजदीकी के कारण वहां के जलवायु, जनसंख्या, मौसम आदि पर सीधा असर पड़ता है। यह सुखद एवं कष्टदायक दोनों की स्थिति पैदा कर सकता है। द्वितीय, किसी राष्ट्र की स्थिति पर ही यह निर्भर होता है कि वह राष्ट्र समुद्री शक्ति या थल शक्ति बनने के योग्य है। त तीय, किसी राष्ट्र की स्थिति उसकी विदेश नीति को भी निर्धारित करती है। अन्ततः, किसी राष्ट्र की स्थिति ही उसके सामरिक महत्व को कम या ज्यादा कर सकती है। अतः किसी भी राष्ट्र की स्थिति यदि उचित होगी तो उसके बड़ी शक्ति बनने की क्षमताएं बनी रहती है।

(घ) ***जलवायु***- जलवायु किसी भी राष्ट्र की शक्ति बनने में अहम भूमिका निभाती है। किसी राष्ट्र के उत्पादन, जनसंख्या, मानव संसाधन आदि का विकास सम्भव है। यदि किसी राष्ट्र की जलवायु वहां की आबादी के रहने, उद्योग करने, फलने-फूलने के लायक नहीं है तो वह राज्य एक बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। बड़े-बड़े रेगिस्तान, ठंडे पड़े क्षेत्र, तापमान की अधिकता व अपेक्षाकृत नमी वाले क्षेत्रों में, रेगिस्तान, ठंडे पड़े क्षेत्र में राष्ट्रीय मानव संसाधन, वनस्पति, उद्योग आदि का विकास सम्भव नहीं है। इसके लिए उपयुक्त जलवायु का होना अति आवश्यक है। वर्तमान सन्दर्भ में यह तर्क भी दिया जाता है कि विज्ञान के विकास ने प्रकृति की इन चुनौतियों पर कुछ हद तक विजय प्राप्त कर ली है। परन्तु यह तर्क एक दो दस व्यक्तियों या कुछ चन्द क्षेत्रों के विकास में शायद सहायक हो सके लेकिन सम्पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में सफल नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक स्थितियों का मानव व विज्ञान सीमित उपाय ढूंढ सकता है लेकिन उसकी विपरीत दिशा में ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता।

अतः किसी भी देश का आकार, स्थलाकृति, स्थिति व जलवायु सम्बन्धित भौगोलिक परिस्थितियां सहायक हो तभी उस राष्ट्र के शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।

2. ***प्राकृतिक संसाधन***

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में एक अन्य सहायक तत्व है उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन। इन संसाधनों से अभिप्राय है मुख्यतः खनिज, खाद्यान्न, भूमि और भूमि से प्राप्त अन्य पदार्थ। जिस देश के पास जितना अधिक खनिज पदार्थ उपलब्ध होगे उसके उतनी ही अधिक शक्तिशाली होने की सम्भावनाएं होती है। किसी भी राष्ट्र के पास प्रमुख खनिज पदार्थ जैसे तेल, कोयला, लोहा, ताम्बा, पीतल, माईका, यूरेनियम आदि जितनी धातुएं प्रचूर मात्रा में होंगी वह उतना ही शक्तिशाली होगा। उदाहरण के रूप में 1973 से पहले अरब देश अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण नहीं थे परन्तु तेल की उपलब्धता ने उन्हें महत्वपूर्ण बना दिया। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केवल खनिजों की उपलब्धिता के कारण कोई स्वयंमेव शक्तिशाली हो जाता है, अपितु उन खनिजों के उपयोग हेतु वहां पर वैज्ञानिक क्षमता व औद्योगीकरण भी होना अनिवार्य है। इसीलिए शायद अरब राष्ट्र तेल के मालिक होने के कारण अमीर है परन्तु विश्वशक्ति नहीं हैं। परन्तु आज किसी भी सैन्य बल हेतु कच्चे माल का प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना आवश्यक है।

विज्ञान के बढ़ते विकास के कारण आज कई खनिज पदार्थ सामरिक महत्व भी प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरणस्वरूप, यूरेनियम, थोरियम, पेट्रोलियम आदि पर नियंत्रण रखना अब सामरिक शक्ति हेतु अति आवश्यक है। परन्तु यहां भी यह सत्य है जब तक किसी राष्ट्र के पास परमाणु शस्त्र, प्रक्षेपास्त्र या अन्तरिक्ष उपग्रहों/यानों की क्षमता नहीं है वह इन परमाणु खनिजों का उचित उपयोग नहीं कर सकता।

सैन्य के साथ-साथ गैर सैन्य आवश्यकताओं हेतु वनस्पति एवं खाद्यान्नों के उत्पादन में भी राष्ट्र का आत्मनिर्भर होना आवश्यक है। अपने इन घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह दूसरों पर निर्भर रहेगा तो बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। उदाहरणस्वरूप, 1950 व 1960 के दशकों में भारत की अमेरिकी गेहूं पर निर्भरता ने उसकी विदेश नीति को भी प्रभावित किया है। 1970 के दशक में आई हरित क्रांति के बाद स्थिति में काफी बदलाव आया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, उनका विकास एवं उपयोग के आधार पर ही कोई राष्ट्र महत्वपूर्ण शक्ति बन सकता है।

3. ***जनसंख्या***- यद्यपि जनसंख्या के अनुपात में किसी राष्ट्र की शक्ति का आकलन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता तो चीन व भारत को विश्व की पहली व दूसरी बड़ी शक्ति होना चाहिए था। परन्तु यह भी सत्य है कि जनसंख्या के

अभाव में कोई राष्ट्र महान शक्ति नहीं बन सकता। उदाहरणस्वरूप, कनाडा के पास बड़ा क्षेत्रफल, खनिज पदार्थ आदि होने के बाद भी जनसंख्या की कमी के कारण एक बड़ी ताकत नहीं है। इसीलिए जनसंख्या कुछ राष्ट्रों के लिए शक्तिशाली होने के लिए आवश्यक है तो कुछ के लिए इसके विपरीत। जैसे कनाडा, रूस, आस्ट्रेलिया के लिए जरूरी तत्व हैं, तो भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि के लिए यह एक अभिशाप है। वास्तव में प्रत्येक देश के क्षेत्रफल, संसाधन, औद्योगिक विकास आदि के संदर्भ में वहां की जनसंख्या की अधिकतम मात्रा तय होती है।

इसके अतिरिक्त, जनसंख्या अपने आप में शक्ति नहीं है, अपितु जनसंख्या की गुणात्मक स्थिति का है यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। एक राष्ट्र की भूखी, बीमार, बेरोजगार, अशिक्षित आबादी उसके लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकती। बल्कि उस राष्ट्र की निपुणता उसकी जनसंख्या की अच्छी सेहत, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण आदि पर निर्भरता करता है। शीतयुद्धोत्तर युग में किसी राष्ट्र के विकास के एक मानक के रूप में उसके मानव संसाधन के विकास को माना जाता है। इस युग में जहां भूण्डलीकरण का दौर है वहां सेवाओं के क्षेत्रों का बहुत विकास हो रहा है। अतः आज मानव संसाधन के विदेशों में निर्यात की सम्भावनाएं भी बढ़ रही है। अतः हम कह सकते हैं कि गुणात्मक रूप से उच्च दर्जे की जनसंख्या जहां राष्ट्र शक्ति के विकास का साधन है, वहीं कमजोर, बीमार व अशिक्षित जनसंख्या उसका मार्ग अवरुद्ध करती है। इसीलिए जनसंख्या एक महत्वपूर्ण तत्व अवश्य है परन्तु किस प्रकार की जनसंख्या यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

4. ***आर्थिक एवं तकनीकी विकास***

किसी राष्ट्र के संसाधनों का उचित प्रयोग उस राष्ट्र के आर्थिक व तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। यदि आर्थिक विकास सुचारू होगा तो वह वहां की जनसंख्या के जीवन स्तर को सुधारने के साथ-साथ उस राष्ट्र की सैन्य व गैर सैन्य क्षमताओं के विकास के साथ-साथ विदेशी नीति को भी सशक्तता प्रदान करेगा।

आर्थिक विकास का अर्थ है किसी राष्ट्र के आर्थिक संगठन की सुचारू व्यवस्था, जिसके आधार पर उस राष्ट्र का उत्पादन बढ़ सके। इसके अतिरिक्त, औद्योगीकरण का विकास भी अर्थव्यवस्था को अधिक सुद ढ़ता प्रदान करता है इससे देश में आंतरिक रूप से तो लोगों का स्तर सुधरेगा ही, तथा इसके साथ-साथ उसके उत्पादन से पूंजी में व द्धि भी होगी। इस पूंजी व द्धि का उपयोग राष्ट्र आन्तरिक के साथ-साथ विदेशी नीति के उद्देश्यों हेतु भी करेगा। पूंजी सम्पन्न देश गरीब देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। यह आर्थिक सहायता अन्य राष्ट्रों में उसका समर्थन बढ़ायेगी। इस समर्थन के आधार पर उसकी अंतर्राष्ट्रीय छवि सुधरेगी तथा अधिकतर राष्ट्र विभिन्न मुद्दों पर उसका साथ देंगे। इस प्रकार वह अन्य राष्ट्रों में अपने प्रभाव के द्वारा अथवा आर्थिक सहायता बन्द कर देने के डर से अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो सकेगा। ज्यादातर शक्तिशाली राष्ट्रों के प्रभुत्व के पीछे आर्थिक सहायता एक प्रमुख कारण रहा है।

संचार तकनीक व अन्य क्षेत्रों में तकनीकी विकास न केवल राज्यों की क्षमताओं का विकास करेगा, बल्कि युद्ध व शान्ति के समय उसकी प्रभाविकता बढ़ायेगा। तकनीकी विकास के माध्यम से सभी क्षेत्रों में नवीनतम प्रयोग किए जायेंगे जो कम खर्चीले, टिकाऊ, उत्पादकता बढ़ाने वाले, सुनिश्चित व सुस्पष्ट होंगे। इससे देश में संचार, कृषि, स्वास्थ्य, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों का तीव्र विकास होगा। इससे बाह्य जगत में राष्ट्र द्वारा शक्ति प्रदर्शन की क्षमता का भी विकास होगा। इसके अतिरिक्त, इससे राष्ट्र की जनता का मनोबल भी बढ़ा रहेगा। विदेशी नीति के संदर्भ में तकनीकी हस्तांतरण के माध्यम से वह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीतियों को भी प्रभावित करेगा। अतः तकनीकी विकास आर्थिक विकास को अत्यधिक स्थाई व दूरगामी बनाने में सहायक होगा।

5. ***सैन्य क्षमता-*** एक शक्तिशाली राष्ट्र के पास अपने संसाधनों एवं क्षमता के अनुरूप सैन्य शक्ति का होना भी आवश्यक है। यह सैन्य क्षमता न अधिक बड़ी तथा न ही अधिक छोटी होनी चाहिए, बल्कि उस राष्ट्र की विदेश नीति की प्रतिबद्धताओं को लागू करने में सक्षम होनी चाहिए। यह सेना पूर्ण रूप से प्रशिक्षित एवं उचित समन्वय के आधार पर कार्य करने वाली होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में राष्ट्र की सैन्य क्षमता तीन प्रमुख तत्वों - सैन्य नेत त्व, गुप्तचरी व्यवस्था एवं हथियारों की उपलब्धता - पर निर्भर करती है।

किसी राष्ट्र की सेना कितनी ही सुसज्जित हो, बड़ी संख्या में हो, अच्छे हथियार रखती हो आदि, परन्तु यदि उसका नेत त्व कुशल हाथों में है तो अपने उद्देश्य में सफल होगी वरना असफल रहेगी। कुशल सामरिक रणनीति व स्थिति के अनुसार सैन्य संचालन से ही कोई भी सेना सही अर्थो में अपनी चुनौतियों का मुकाबला कर सकती है। आधुनिक युग

में सैन्य कौशल के साथ-साथ दूसरे राष्ट्र की तैयारियों का अनुमान भी अतिआवश्यक होता है। यह कार्य राष्ट्रों की गुप्तचरी सेवाओं के माध्यम से होता है। वर्तमान समय में गुप्तचरी आधुनिक संयंत्रों जैसे उपग्रहों आदि के माध्यम से भी होती है, परन्तु आज भी मानवीय तत्वों द्वारा की जाने वाली गुप्तचरी को भी नहीं नकारा जा सकता। गुप्तचरी की विफलता भी कई बार सैन्य हार या परेशानी का कारण हो सकता है। भारत-चीन युद्ध (1962) व भारत-पाक कारगिल संघर्ष (1998) काफी हद तक गुप्तचरी व्यवस्था की असफलता का प्रतीक है। इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त हथियारों की उपलब्धता भी सैन्य शक्ति प्रदर्शन हेतु महत्वपूर्ण तत्व है। वर्तमान समय में परमाणु हथियारों के विकसित होने से कई राष्ट्रों का मानना है कि सुरक्षा सुनिश्चित हो गई है। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो परमाणु, जैविक एवं रासायनिक हथियार मुख्यतः निरोधक व्यवस्था हेतु अधिक प्रयोग होते हैं। ये हथियार युद्ध से अधिक राजनय के हथियार हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि ये आज भी शक्ति के प्रतीक के रूप में माने जाते हैं तथा इनको रखने वाले राष्ट्रों से युद्ध करने से पहले विरोधी राष्ट्र को कई बार सोचना पड़ता है। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वास्तविक युद्ध में आज भी अति आधुनिकतम परम्परागत हथियार ही प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र के पास कितने ही जैविक, परमाणु व रासायनिक हथियार हों, परन्तु परम्परागत हथियारों में श्रेष्ठता होना उसके लिए अति आवश्यक है।

6. ***सरकारी ढांचा***

एक अच्छा सरकारी तंत्र का होना भी शक्तिशाली राष्ट्र हेतु आवश्यक होता है। सरकार के माध्यम से ही शक्ति के तत्वों को वास्तविकता प्रदान की जाती है। इस सन्दर्भ में सरकार के समक्ष दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करना अति अनिवार्य होता है - (i) नीतियों एवं संसाधनों में समन्वय बनाये रखना; तथा (ii) विदेश नीति हेतु जनमत का समर्थन जुटाना।

(i) एक अच्छी सरकार विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों की पहचान कर अपनी क्षमता व संसाधनों के द्वारा उन्हें लागू करने का प्रयास करती है। यदि उद्देश्य अत्यधिक विशाल होंगे तो जन साधारण पर करों का भार बढ़ने के साथ-साथ उनसे धन प्राप्ति की स्थिति में राज्य निराशा का शिकार होगा। यदि उद्देश्य बहुत छोटे रखे तो राष्ट्र दुनिया के सामने कमजोर प्रदर्शित होगा तथा अंतर्राष्ट्रीय समाज में अपना उचित स्थान खो देगा। अतः एक ऐसी सरकार का होना अति आवश्यक है जो सही रूप से राष्ट्र के उद्देश्यों एवं साधनों में तालमेल पैदा कर सके।

(ii) राज्य की किसी भी प्रकार की योजना, संसाधन, क्षमता आदि का प्रयोग जब तक किया जा सकता है जब तक उन विदेश नीति के उद्देश्यों को जनमत का समर्थन प्राप्त नहीं हो। यह कार्य जितना मुश्किल है उतना ही जरूरी भी। विदेश नीति काफी हद तक अपनी गति खो देती है यदि उसे वहां के लोगों का समर्थन न मिले। एक अच्छी सरकार को लोगों की इच्छाओं व विदेश नीति के उद्देश्यों के बीच दूरी को कम करना होगा। उसे जनमत के नेत त्व के रूप में आगे आना होगा। जरूरत पड़े तो कुछ गैर-जरूरी विदेशी नीति के मुद्दों पर जनमत से सहयोग भी करना पड़ेगा। अतः अच्छा सरकारी ढांचा भी विदेश नीति के प्रभावी व शक्तिशाली होने में अहम् भूमिका निभा सकता है।

7. ***विचारधारा***

राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार में विचारधारा की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विशेषकर 20वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध विचारधाराओं के द्वारा निर्धारित हुए हैं। यह व्यक्ति, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि विषयों पर जनता का एक निश्चित द ष्टिकोण होता है। इन्हीं द ष्टिकोण को सामने रखकर राष्ट्र अपनी क्षमताओं/शक्ति का विकास करता है। सकारात्मक रूप में विचारधारा राष्ट्रीय का जनता को एकजुट करने का कार्य करती है। इससे लोगों में सहयोग व समर्पण की भावना उत्पन्न होती है। विचारधाराएं व्यक्ति की अपेक्षा समाज या समुदाय पर अधिक बल देती हैं। अतः इसे सरकार का जन समर्थन भी आसानी से मिल जाता है। यह राज्यों द्वारा शक्ति के प्रयोग को भी आवरण प्रदान कर देती है। अतः यहां शक्ति प्रयोग महज संघर्ष हेतु नहीं अपितु कुछ अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति हेतु होता है। इसीलिए राष्ट्र अपनी शक्ति का विकास जन समर्थन के साथ-साथ सरलतापूर्वक कर लेता है।

परन्तु कई बार विचारधाराओं द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की संभावनाएं बनती रहती है। जैसे दोनों विश्व युद्धों के बीच नाजीवाद, फासीवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं में संघर्ष व टकराव चलता रहा। इसके अतिरिक्त ज्यादातर

विचारधाराएं तानाशाही, प्रव त्तियों को जन्म देती हैं। इससे समाजों में जहां पूर्ण रूप से एक विचारधारा को स्वीकार न किया हो, विभाजन एवं संघर्ष की स्थिति भी बन रही है।

1990 के दशक के बाद विचारधाराओं का अंत होता प्रतीत हो रहा है। क्योंकि सभी राष्ट्र भूमण्डलीकरण, मुक्त बाजार व उदारवाद के दौर में विचारधारा छोड़ कर पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ने लगे हैं। परन्तु सही अर्थो में देखें तो यह भी अपनी एक विचारधारा है। इसके भी लाभ व हानियां हैं। इसके आधार व भी कुछ राज्य अति शक्तिशाली (अमीर) होते जा रहे हैं, तथा कमजोर राष्ट्र और कमजोर (गरीब) होते जा रहे हैं। अतः यह भी शक्ति बढ़ाने हेतु कुछ राष्ट्रों के हक में कार्यरत है।

8. ***मनोबल***

मनोबल राष्ट्रीय शक्ति का एक सूक्ष्म परन्तु प्रभावशाली तत्त्व है। मनोबल का अर्थ है किसी राष्ट्र के निवासियों में निष्ठा, विश्वास, साहस आदि चारित्रिक गुणों का योग। इन गुणों से न केवल व्यक्ति का आत्मविश्वास ही बढ़ता है, अपितु इससे राष्ट्रीय हितों को भी बल मिलता है। कोई भी राष्ट्र तब तक सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक उसकी आन्तरिक व विदेश नीतियों को पूरे जोश व जन समर्थन हासिल न हो।

इसके द्वारा ही मनुष्य आपसी मतभेदों को भुलाकर स्वेच्छापूर्वक राष्ट्रीय हितों हेतु बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए तैयार हो जाता है। इसी मनोबल के आधार पर राष्ट्र अपनी संदिग्ध विजय को निश्चित जीत में बदल सकता है। इसे राष्ट्र प्रेम के समकक्ष भी माना जाता है। इसके सैनिकों में संचार से राष्ट्र बड़े-बड़े युद्ध भी जीत लेता है। वर्तमान युग में युद्ध जहां केवल सैनिकों तक सीमित न रहकर प्रत्येक नागरिक को भी शामिल करता है उस द ष्टि से मनोबल और अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। मनोबल युद्ध ही नहीं, अपितु शान्तिकाल में भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है।

राष्ट्रीय मनोबल बढ़ाने के प्रमुख रूप से चार कारक उत्तरदायी होते हैं - (i) राष्ट्र के साथ तादात्म्य; (ii) राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति, (iii) सरकार में विश्वास; (iv) विचारधारा। राष्ट्रीय तादात्म्य से अभिप्राय है कि नागरिक किस सीमा तक उस राष्ट्र से अपने को जुड़ा हुआ महसूस करता है। अपने गौरवमय इतिहास को पहचानता व उसी प्रकार गौरव बढ़ाना हेतु प्रयासरत रहना राष्ट्रीय गोरव की अनुभूति कराता है। सरकार में विश्वास से उसका मनोबल और अधिक बढ़ जाता है। अन्ततः विचारधारा लोगों में द ढ़ता, एकता व मनोबल को जाग्रत करती है। इस प्रकार विभिन्न तरीकों से मनोबल भी राष्ट्रीय शक्ति में सहायक होता है।

9. ***राजनय***

कुटनीति किसी भी देश की विदेश नीति का मस्तिष्क होती है। कुटनीति की कला से ही राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अधिकतम लाभ अपने हक में किया जा सकता है। इसीलिए विदेश नीति के माध्यम से अपने अधिकतम राष्ट्र हितों की प्राप्ति करने हेतु उच्च दर्जे की राजनयिक क्षमता का विकास करना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि बहुत से देशों के अच्छे राजनय के कारण उन्होंने अपने शक्तिशाली प्रभाव को बनाए रखा है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि आधुनिक युग में संचार व यातायात के साधनों के कारण कूटनीति का प्रभाव कम हो गया है। इसके अतिरिक्त शिखर सम्मेलनों के कारण भी राजनयिक की भूमिका कम हो गई है। परन्तु यह पूरा सत्य नहीं है क्योंकि वर्तमान युग में परमाणु, रसायनिक व जैविक शस्त्रों के विकास ने जहां इन शस्त्रों को युद्ध के शस्त्रों के रूप में प्रतिबन्धित होने की मनाही की है तो ये हथियार अब राजनय के साधन बन गये हैं। इन्हीं सुरक्षात्मक कारणों से राजनय का महत्व परिवर्तित सन्दर्भ में और बढ़ गया है।

अतः निष्कर्ष रूप में उपरोक्त तत्व सामूहिक व अन्तःनिर्भरता के आधार पर राष्ट्रीय शक्ति का विकास करते हैं। कई बार किस तत्व का कितना योगदान है यह बिल्कुल सही-सही कहना मुश्किल है। अतः इनका प्रारूप एक नदी की भांति है जिसके प्रवाह में इनके होने से राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण होता है। हां, इतना अवश्य है कि ये तत्व अपने आप में शक्ति नहीं हैं, बल्कि यह इनके उचित प्रयोग पर निर्भर करता है।

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन एक बहुत ही जटिल परन्तु अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके तत्व परस्पर जुड़े रहते हैं अतः इनके स्पष्ट प्रभाव को देखना उतना सरल नहीं होता। राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वों का मूर्त रूप न होने के कारण भी समस्या आती है।

परन्तु इन सभी समस्याओं के बाद भी आकलन को करना ही पड़ता है। परन्तु इसके मूल्यांकन में समस्या निम्नलिखित कारणों से आती है -

(i) किसी भी एक राज्य की शक्ति का मूल्यांकन करके कई बार हम उसे उचित मान लेते हैं। परन्तु वस्तुतः उसकी सही शक्ति दूसरे राष्ट्रों के सापेक्ष कम होती है। अतः अलग से एक राष्ट्र की शक्ति का आकलन पूर्ण सत्य नहीं बताता।

(ii) इसकी दूसरी समस्या है शक्ति का परिवर्तनशील रूप। किसी भी राष्ट्र की शक्ति का आंकलन किसी विशेष संदर्भ या समय में तो ठीक होता है, परन्तु उसकी निरन्तरता को मानना गलत है।

(iii) कई बार किसी एक कारक को ही राष्ट्रीय शक्ति का आधार मान लेना भी उसके सही आकलन की प्रस्तुती नहीं है। कई विद्वान भूगोल, सैन्य शक्ति, राष्ट्रीयवाद आदि किसी भी एक तत्व को इतना महत्वपूर्ण मान लेते हैं कि अन्य सभी तत्व गौण प्रतीत होते हैं परन्तु इस आधार पर भी शक्ति का आकलन गलत होता है।

(iv) शक्ति का अधिकार मूल्यांकन अनुमान पर आधारित होता है। अनुमान व वास्तविक शक्ति की सही स्थिति का ज्ञान कई बार सम्भव नहीं हो पाता। उन दोनों में कितना अन्तर है यह शक्ति के प्रयोग की स्थिति में ही पता लग सकता है। परन्तु कई बार वह स्थिति आती ही नही।

(v) राष्ट्र की वर्तमान शक्ति व सम्भावित शक्ति में भी बड़ा अन्तर होता है। कोई राष्ट्र आज शक्तिशाली नहीं है, परन्तु भविष्य में एक बड़ी शक्ति बनने की सम्भावनाएं रख सकता है। परन्तु यह भी सत्य है कि शक्ति होने व शक्ति बनने के मध्य कई प्रकार के किन्तु, परन्तु एवं परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। अतः इसका वास्तविक भविष्य क्या होगा यह बात अनिश्चितता के गर्भ में छिपी हुई है।

(vi) अन्ततः एक समस्या इस दिशा में यह भी है कि शक्ति के विश्वसनीयता की। कई बार किसी राष्ट्र के पास विभिन्न हथियार होते हैं, परन्तु क्या आज के सन्दर्भ में उनका प्रयोग कर पायेगा क्या उसे इसका मौका मिलेगा? क्या उसका अपना विनाश भी उसके साथ ही हो जायेगा? इस प्रकार के प्रश्न शक्ति की विश्वसनीयता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देते है।

उपरोक्त मूल्यांकन संबंधित समस्याओं को देखते हुए शक्ति के मूल्यांकन के संदर्भ में निम्न सामान्य बातें कही जा सकती है-

(क) राष्ट्र शक्ति का निर्माण विभिन्न तत्वों से होता हैं जो एक दूसरे के पूरक एवं अन्तः निर्भर होते हैं।

(ख) शक्ति कभी भी निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है।

(ग) राज्य की शक्ति हमेशा गतिशील व परिवर्तनीय होती है।

(घ) राष्ट्र भक्ति में भूगोल को छोड़कर शेष अन्य तत्व अस्थिर होते हैं।

(ङ) राष्ट्र शक्ति विभिन्न तत्वों के अस्तित्व के साथ-साथ इसके प्रयोग पर निर्भर करती है।

(च) उपयुक्त शक्तिशाली राष्ट्र बनने हेतु सभी तत्वों का उचित प्रयोग अनिवार्य है।

निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति में अभिव द्धि हेतु भी सभी तत्वों का अधिकतम सदुपयोग जरूरी है। यह ज्ञात है कि शक्ति स्थाई नहीं रहती तथा इसका मूल्य सापेक्ष होता है, इसीलिए किसी भी राष्ट्र को अपनी सुरक्षा हेतु यह आवश्यक है कि उसे अपने विरोधियों की शक्ति के संदर्भ में भी उचित ज्ञान हो। शायद इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र अपने शक्ति के विस्तार हेतु प्रयत्नशील रहते हैं और इसी कारण राष्ट्रों के मध्य शक्ति-संघर्ष निरंतर बना रहता है।

राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं
(Limits of National Power)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली नहीं बनने दिया जाता कि वह सम्पूर्ण विश्व पर अपना अधिपत्य स्थापित कर सके। इस सन्दर्भ में राष्ट्रों का शक्ति के विस्तार पर कुछ सीमाएं लगा दी गई है। इनमें प्रमुख हैं - (i) शक्ति संतुलन; (ii) सामूहिक सुरक्षा; (iii) अंतर्राष्ट्रीय कानून; (iv) अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता; तथा (v) अंतर्राष्ट्रीय जनमत। यद्यपि इन पांचों को एक श्रेणी में वर्गीकृत करने में कुछ आपत्ति है। वास्तव में पहले दो (शक्ति संतुलन व सामूहिक सुरक्षा) शक्ति प्रबन्धन के

तरीके हैं तथा बाकी के तीन शक्ति पर प्रतिबंध के तरीके। परन्तु कई विद्वान इस अन्तर को नहीं मानते। अतः इस वाद-विवाद में उलझे बिना इन पांचों का गहन अध्ययन अनिवार्य है। इसी विश्लेषण के उपरान्त यह सुस्पष्ट हो सकेगा कि किस प्रकार इन तरीकों के माध्यम से राष्ट्रों की शक्ति पर अंकुश सम्भव है-

शक्ति संतुलन (Balance of Power)

शक्ति संतुलन की अवधारणा लगभग 15वीं शताब्दी से अंतर्राष्ट्रीय स्तर में प्रचलित है। शायद इसीलिए कुछ लेखक इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का बुनियादी सिद्धान्त तो कुछ इसे सार्वजनिक सिद्धान्त या राजनीति के मौलिक सिद्धान्त की संज्ञा देते हैं। साधारण शब्दों में शक्ति संतुलन का अर्थ है जब एक राज्य/राज्यों का समूह दूसरे राज्य/राज्यों के समूह के सापेक्ष अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ले कि वह उसके समकक्ष हो जाए। परन्तु इस धारणा की परिभाषा को लेकर विद्यमान एकमत नहीं हैं। शायद इसीलिए इनिंस एल क्लॉड का कहना है कि यह ऐसी अवधारणा है जिसकी परिभाषा की समस्या नहीं है बल्कि समस्या यह है कि इसकी बहुत सारी परिभाषाएं हैं। इन परिभाषाओं से पहले यह बताना भी आवश्यक है कि यह दो प्रकार की होती हैं - सरल एवं जटिल। सरल या साधारण शक्ति संतुलन जब होता है जब यह तुलना दो राष्ट्रों या दो राष्ट्रों के बीच में सीधे तौर पर हो। लेकिन यदि यह संतुलन दो समुदायों के परस्पर तथा इनमें सम्मिलित समुदायों में आन्तरिक रूप में भी हो तब यह जटिल संतुलन कहलाता है।

इसके संदर्भ में विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएं दी हैं जो इस प्रकार हैं।

(i) ***मारगेन्थाऊ***- प्रत्येक राष्ट्र यथास्थिति को बनाये रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। इसके परिणामस्वरूप जिस ढांचे की आवश्यकता होती है वह शक्ति संतुलन कहलाता है।

(ii) ***जार्ज स्थवार्जन बर्गट***- शक्ति संतुलन वह साम्यावस्था या अंतर्राष्ट्रीय संबंध में कुछ मात्रा में स्थिरता या स्थायित्व है, जो राज्यों के बीच मैत्री-संधियों या अन्य दूसरे साधनों की मदद से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(iii) ***क्विंसी राइट***- शक्ति संतुलन वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत प्रत्येक राज्य में यह विश्वास बनाये रखने का सतत प्रयत्न किया जाता है कि यदि राज्य आक्रमण का प्रयत्न करते हैं तो उन्हें अजेय दूसरे राष्ट्रों के समूह का प्रतिरोध करना होगा।

(iv) ***सिडनी फे***- शक्ति संतुलन से अभिप्राय राष्ट्रों के परिवारों के सदस्यों के बीच शक्ति की न्यायपूर्ण साम्यवस्था से है जो किसी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली होने से रोकता है ताकि वह दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लाद न सके।

इस प्रकार शक्ति संतुलन को विद्वानों ने विभिन्न द ष्टियों से देखा है। कोई इसे शक्ति के वितरण के रूप में देखते हैं तो कोई इसे समूहों के बीच साम्यावस्था के रूप में, कोई इसे स्थायित्व के रूप में, तो कोई इसे युद्ध व अस्थिरता के रूप में। कहने का अर्थ यह है कि इन परिभाषाओं में सर्वसम्मति का अभाव है। शायद यह इसलिए है कि शक्ति संतुलन के अनेक अर्थ/प्रयोग हैं जिस वजह से यह भ्रांति बनी हुई है। मुख्य तौर पर शक्ति संतुलन को चार सन्दर्भो में प्रयोग किया जाता है-

(क) एक अवस्था के रूप में;

(ख) एक नीति के रूप में;

(ग) एक व्यवस्था के रूप में;

(घ) एक प्रतीक के रूप में।

मान्यताएं- क्विंसी राईट के अनुसार शक्ति संतुलन का सिद्धान्त पांच मान्यताओं पर आधारित है-

(क) प्रत्येक राष्ट्र अपनी उपलब्ध शक्ति एवं साधनों के द्वारा, जिनमें युद्ध भी शामिल है, अपने मार्मिक हितों - राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, क्षेत्रीय अखण्डता, राष्ट्रीय सुरक्षा, घरेलू राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की रक्षा आदि के लिए प्रतिबद्ध होते हैं।

(ख) राज्य के मार्मिक हितों को या तो खतरा होता है या खतरे की सम्भावना बनी रहती है। अतः राज्यों के लिए प्रतिदिन परिवर्तनशील शक्ति संबंधों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

(ग) शक्ति संतुलन के द्वारा राज्यों के मार्मिक हितों की रक्षा होती है। शक्ति संतुलन के कारण या तो अधिक शक्तिशाली राज्य का आक्रमण करने का साहस ही नहीं होता और यदि वह ऐसा करने का दुस्साहस भी करे तो आक्रमण के शिकार राज्य को हार का मुंह नहीं देखना पड़ता।

(घ) राज्यों की सापेक्षिक शक्ति को निश्चित तौर पर आंका जा सकता है। यद्यपि शक्ति का आंकलन एक कठिन समस्या है, परन्तु इसके अतिरिक्त राज्यों के पास कोई ऐसा आधार भी नहीं है जिसके सहारे वे सैनिक तैयारी पर अपने खर्च का अनुपात तय कर सके।

(ङ) शक्ति सम्बन्धित तथ्यों की बुद्धिपूर्ण सूक्ष्म विवेचना के द्वारा ही राजनीतिक विदेश नीति संबंधी निर्णय लेते हैं अथवा ले सकते हैं।

विशेषताएं- शक्ति संतुलन की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं-

(i) सामान्य रूप से यह यथास्थिति बनाए रखने की नीति है, परन्तु वास्तव में यह हमेशा गतिशील व परिवर्तनीय होती है।

(ii) यह कोई दैवी वरदान नहीं है, अपितु यह मानव के सतत हस्तक्षेप का परिणाम है।

(iii) यह व्यक्तिपरक व वस्तुनिष्ठ दोनों प्रकार से परिभाषित होता है। इतिहासकार हमेशा इसका वस्तुनिष्ठ आकलन करते हैं जबकि राजनयिक हमेशा इसकी व्यक्तिपरक विवेचना करते हैं।

(iv) यद्यपि यह शान्ति स्थापित करने का तंत्र है, परन्तु यह मुश्किल से ही कभी शान्ति स्थापित करता है।

(v) यह मुख्यतया महाशक्तियों का खेल है। छोटे राष्ट्र तो मात्र दर्शक की भूमिका ही निभाते हैं।

(vi) इसके सही संचालन हेतु एक संचालक की आवश्यकता होती है जो आज के युग में नदारद है।

(vii) यह साम्यावस्था के आधार पर शक्तियों का समान वितरण करता है। परन्तु यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसा समय कभी नहीं रहा।

(viii) शक्ति संतुलन की व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शायद ही द ष्टिगोचर हो, क्योंकि शक्ति तत्व का मापना व स्थिर कर पाना सम्भव नहीं है।

शक्ति संतुलन के तरीके

शक्ति संतुलन की स्थापना हेतु निम्नलिखित तरीकों का प्रयोग किया जाता है-

(क) ***क्षतिपूर्ति***- कभी-कभी बड़ी शक्तियां छोटे राज्यों की भूमि को आपसी शक्ति संतुलन हेतु बांट लेती हैं। यह सीमा परिवर्तन इस आधार पर किया जाता है कि आपसी शक्तियों में से कोई भी एक दूसरे से शक्तिशाली न बन जाए। उदाहरण के रूप में, यूट्रेक्ट की संधि के बाद 1713 में स्पेन की भूमि को बोर्बोन व हेप्सबर्ग के बीच बांट दिया गया। इसी प्रकार पोलैंड को तीन बार (1772, 1793 व 1795) में इस प्रकार विभाजित किया गया कि शक्ति संतुलन न बिगड़े। इसी प्रकार 18वीं व 19वीं शताब्दी में विभिन्न सन्धियां इसी द ष्टिकोण को मध्यनजर रखकर हुई।

(ख) ***संधियां एवं प्रति संधियां***- मैत्री संधियां भी शक्ति संतुलन का प्रमुख साधन रही है। लेकिन जब एक राष्ट्र मैत्री सन्धियों के द्वारा अपनी शक्ति बढ़ा लेता है तब अन्य राज्य भी आशंकित होकर आपस में प्रति मैत्री सन्धियां करने लगते हैं। इस क्रम का अन्त विश्व के सभी राष्ट्रों द्वारा विरोधी गुटों में संगठित होकर होता है। इस प्रकार की मैत्री सन्धियों एवं प्रति मैत्री सन्धियों का दौर यूरोप की राजनीति में आमतौर पर देखने को मिलती है। उदाहरणस्वरूप 1882 के त्रिराष्ट्रीय संधि के गठन के विरोध स्वरूप अन्य राष्ट्रों के बीच भी विरोधी त्रिराष्ट्रीय मैत्री सन्धियों पर सहमति हुई ताकि यूरोप की राजनीति में संतुलन बनाया जा सके। इसी प्रकार के उदाहरण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों के बीच स्थापित गठबंधनों के रूप में सामने आया।

(ग) ***शस्त्रीकरण व निशस्त्रीकरण***- शस्त्रीकरण शक्ति का प्रत्यक्ष एवं अग्रतम रूप है। इसीलिए राज्यों के मध्य, विशेषकर अपने प्रतिद्वंद्वी से, शस्त्रों को संचय करने की होड़ लग जाती है। इस संचय से उनकी सैन्य शक्ति का विकास होता है तथा अपने विरोधियों पर दबाव बढ़ाने के काम आता है। परन्तु दूसरा राष्ट्र या राज्यों का समूह भी पीछे नहीं रहना चाहता, अतः दोनों ही एक दूसरे को संतुलित करना चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप, शीतयुद्ध युग में पूर्व सोवियत संघ व अमेरिका के बीच शस्त्रीकरण ही दोनों द्वारा एक दूसरे को संतुलित करने का माध्यम रहा है।

शस्त्रीकरण के साथ-साथ निरस्त्रीकरण भी कई बार शक्तियों के मध्य संतुलन बनाने का कार्य करता है। जब शस्त्रीकरण एक चरम सीमा के बाद आगे बढ़ाना सम्भव न रह सके तब शक्तियां निरस्त्रीकरण की तरफ कदम बढ़ाती है। उदाहरण के रूप में, दोनों महाशक्तियों के बीच साल्ट-I, साल्ट-II, स्टार्ट-I व स्टार्ट-II, आईएनएफ संधि आदि समझौते इसका प्रमाण है। अन्य राष्ट्रों के बीच भी वर्तमान समय में शस्त्रीकरण से तंग आकर विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों का उठाया जाना इसका प्रमाण है।

(घ) ***मध्यवर्ती राज्य***- कई बार दो शक्तियां आपसी सीधे टकराव को टालकर किसी एक राज्य को मध्य रखकर आपसी संतुलन बनाए रखती हैं। अतः ऐसा कमजोर व तटस्थ राज्य हमेशा दो बड़ी ताकतों के बीच युद्ध की संभावनाएं टली रहने के साथ-साथ शक्ति संतुलन भी बना रहता है। उदाहरण रूप में, काफी समय तक पोलैण्ड रूस व जर्मनी के बीच मध्यवर्ती राज्य बना रहा। अफगानिस्तान रूस व इंग्लैण्ड के बीच इस स्थिति में काफी देर तक रहा। कभी-कभी दो गैर मित्र राष्ट्र मध्यवर्ती क्षेत्र को बराबर-बराबर बांट लेते हैं। ऐसी स्थिति में मध्यवर्ती क्षेत्रों का प्रभाव न्यूनतम हो जाता है। उदाहरण के रूप में जर्मनी, कोरिया, हिन्द चीन का विभाजन। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ये क्षेत्र समाप्त प्राय हो गये हैं। अतः इनका प्रभाव भी शक्ति संतुलन हेतु नगण्य हो गया है।

(ङ) ***हस्तक्षेप एवं अहस्तक्षेप***- हस्तक्षेप की नीति हमेशा शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा दूसरे के मामले में दखलंदाजी करके अपने प्रभाव को बढ़ाने से है। इसका उद्देश्य बड़े राष्ट्र द्वारा वहां पर किसी शासन के बने रहने या बदलने के स्वरूप में होता है। इस साधन के माध्यम से शक्ति संतुलन बनाये रखने का प्रयास होता है। शीतयुद्ध काल में दोनों महाशक्तियों ने इसका खूब प्रयोग किया। पूर्व सोवियत संघ ने जहां हंगरी, चेकोस्लोवाकिया व अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया, वहीं अमेरिका ने ग्रेनेडा, क्यूबा, निकारागुआ, कोरिया, ईराक, अफगानिस्तान आदि में हस्तक्षेप किया है।

अहस्तक्षेप द्वारा संतुलन बनाए रखने की नीति आमतौर पर छोटे राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई है। इससे छोटे राज्यों द्वारा तटस्था के रूप में अपनाया गया है। कुछ परिस्थितियों में बड़े राष्ट्रों ने भी इसका सहारा लिया है। ज्यादातर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिकी देशों ने गुट निरपेक्षता की नीति अपनाकर अहस्तक्षेप नीति का पालन किया है। इससे युद्ध न करने या उसे सीमित रखने या उसके स्थानीय स्वरूप देने का प्रयास आदि इसी के अंतर्गत आ जाते हैं।

(च) ***फूट डालो और राज करो***- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी ताकतों द्वारा फूट डालो, राज करो की नीति का भी अनुसरण किया है। राज्यों को दो विरोधी गुटों में बांट कर भी शक्तियां उस क्षेत्र में शक्ति संतुलन स्थापित करती हैं। यह नीति मुख्य रूप से ब्रिटेन द्वारा अपने साम्राज्य को एकीकृत रखने हेतु काफी बार प्रयोग की गई। 1947 का भारत-पाक विभाजन इसका सशक्त उदाहरण है। इस नीति के अंतर्गत अपने प्रतिद्वंदियों को कमजोर करके संतुलन बनाने का प्रयास किये जाते रहे हैं। शीतयुद्ध काल में महाशक्तियों ने भी गुटनिरपेक्ष देशों में इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया है।

मूल्यांकन

यदि शक्ति संतुलन का मूल्यांकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तरीके से शक्ति पर पूर्ण सीमाएं तो न लग सकी। हां कुछ हद तक यह सिद्धान्त अपने उद्देश्यों में सफल हो सका। इस सिद्धान्त के पूर्ण रूप से शक्ति के विकास पर अंकुश न लगा पाने के निम्नलिखित कारण रहे-

(i) इससे शान्ति स्थापना की बजाय शक्ति प्रतिद्वंदिता बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप युद्धों को बढ़ावा ही मिला।

(ii) शक्ति संतुलन को व्यवहारिक रूप देने में शक्ति का सही आकलन अति आवश्यक है, परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी राष्ट्र की बिल्कुल सही शक्ति आंकना सम्भव ही नहीं है।

(iii) यह सिद्धान्त अंतर्राष्ट्रीय कानून व अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के भी विरुद्ध है। कानून व नैतिकता की प्रवाह किए बिना स्थाई शान्ति की स्थापना संभव नहीं है।

(iv) शक्ति संतुलन के आधार पर केवल महाशक्तियों हेतु लाभकारी है। इससे छोटे, निर्बल एवं विकासशील देशों को फायदा नहीं होगा। यह विश्व के एक बड़े भाग को शान्ति के लाभों से वंचित रखेगा अतः यह विश्व हेतु भी लाभकारी नहीं हो सकता।

(v) यह सिद्धान्त सामान्यतया स्थिरता हेतु बनाया गया है, परन्तु इसमे संलिप्त राज्य हमेशा अस्थिर रहेंगे। क्योंकि उन्हें शक्ति संतुलन हेतु हमेशा परस्पर समीकरण, फिर नये समीकरण बनाने पड़ते रहेंगे। अतः यह वास्तविक रूप में स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि शक्ति विस्तार या शक्ति संघर्ष रोकने हेतु यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण सक्षम नहीं है। लेकिन इसके माध्यम से आंशिक सफलता अवश्य मिलती है, क्योंकि - प्रथम, छोटे राज्य अपनी सुरक्षा आश्वस्त कर सकते हैं। द्वितीय, यह किसी बड़ी शक्ति के आधिपत्य स्थापना पर भी अंकुश रखेगा। त तीय, यह युद्धों को भी टालने में सक्षम है। चतुर्थ, संप्रभू राज्यों पर किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में अंतर्राष्ट्रीय कानून भी केवल शक्ति संतुलन से ही सम्भव है। अतः यह कुछ हद तक शक्ति के निरंकुश या आधिपत्य स्थापित करने की सम्भावनाओं को आंशिक रूप में रोकने में सक्षम है।

सामूहिक सुरक्षा (Collective Security)

शक्ति विस्तार व विश्व में युद्धों को रोकने का एक कारगर माध्यम सामूहिक सुरक्षा माना गया है। इसके अंतर्गत सुरक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु राष्ट्रों द्वारा सामूहिक प्रयास करने की बात कही गई है। यद्यपि यह सिद्धान्त प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरान्त स्थापित राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संगठनों के अंतर्गत अपनाया गया, परन्तु इसकी उपस्थिति को 17वीं शताब्दी के कई विद्वानों के ग्रंथों में पाया जाता है। 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि में भी यह उल्लेख था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों को यह अधिकार है कि किसी के भी विरुद्ध कदम उठाने व कार्यवाही करने का अधिकार है जिससे शान्ति की रक्षा की जा सके। बाद में ओस्जेब्रुक की सन्धि में भी सम्भावित शत्रु के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने की बात कही गई थी। 19वीं शताब्दी में कई लेखकों ने भी इसका समर्थन किया, परन्तु इसको व्यावहारिक रूप 20वीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत ही प्राप्त हुआ।

सामान्य रूप से सटीक परिभाषा दे तों इसका अर्थ है- "एक के लिए सब और सब के लिए एक।" इस प्रकार से किसी राष्ट्र की शान्ति व सुरक्षा हेतु सभी सामूहिक कार्यवाही करने को तत्पर रहेंगे। परन्तु इस प्रकार की कार्यवाही से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि इस अवधारणा की कुछ आधारभूत मान्यताएं हैं, जो निम्नलिखित हैं-

(i) सामूहिक सुरक्षा पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए ताकि आक्रमणकारी या तो युद्ध न कर सके और यदि करें भी तो उसे पराजय का मुंह देखना पड़े।

(ii) सामूहिक सुरक्षा हेतु एकत्रित राष्ट्रों के बीच सुरक्षा सम्बन्धित मुख्य बातों को लेकर समान विचार होने चाहिए।

(iii) सामूहिक सुरक्षा से सम्बद्ध राष्ट्रों को इस कार्यवाही हेतु अपने परस्पर विरोधी विचारों को त्यागना होगा।

(iv) सामूहिक सुरक्षा से जुड़े राष्ट्र मुख्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथास्थिति बनाये रखने के पक्षधर होते हैं।

(v) सामूहिक सुरक्षा के कारगर होने हेतु सभी राष्ट्र आक्रामककर्ता का निर्णय लेने में एकमत होंगे।

(vi) इससे सम्बद्ध राष्ट्रों के मध्य इस विचारधारा में पूरी आस्था होनी चाहिए।

(vii) इसके अत्याधिक प्रभावशाली होने हेतु सभी या कम से कम अधिकांश राष्ट्र इसमें सम्मिलित होने चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था शक्ति प्रबन्धन को सुचारू रूप से चला सकती है। सैद्धान्तिक रूप से इस व्यवस्था की निम्नलिखत विशेषताएं स्पष्ट रूप से उजागर होती हैं -

(i) यह व्यवस्था मुख्य रूप से सामूहिक प्रयास है जो - "एक के लिए सब तथा सबके लिए एक" के सिद्धान्त पर आधारित है।

(ii) यह व्यवस्था आक्रामक बल प्रयोग का विरोध करती है। इसमें प्रारम्भ में मतभेदों को शान्तिपूर्ण तरीकों के माध्यम से हल करने की कोशिश की जाती है। बल प्रयोग केवल अन्तिम विकल्प के रूप में ही प्रयोग किया जाता है।

(iii) सभी राष्ट्रों के सामूहिक प्रयास व संयुक्त संसाधनों के माध्यम से शक्ति प्रयोग को भंग करने वालों के प्रति निवारक के रूप में होता है।

(iv) सामूहिक सुरक्षा 'शान्ति' को एक अखंडनीय व अविच्छीन मानता है।

(v) इस सिद्धान्त के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथा शक्ति को बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।

(vi) यह सिद्धान्त यह मानता है कि सभी राष्ट्रों के लिए सुरक्षा उसकी सर्वोपरि प्राथमिकता होती है।

(vii) यह मानता है कि विश्व शान्ति हेतु प्रत्येक राज्य की सुरक्षा में सभी राष्ट्रों का सहयोग अति आवश्यक होता है।

इस व्यवस्था का व्यवहारिक स्वरूप 20वीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ व संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत देखने को मिला है जो इस प्रकार है -

(क) ***राष्ट्रसंघ व सामूहिक सुरक्षा***- सर्वप्रथम राष्ट्र संघ के संविदा के अनुच्छेद 10-16 तक इसका वर्णन सम्मिलित किया गया था। इन धाराओं में इसका वर्णन निम्न प्रकार से है-

(i) अनुच्छेद 10 के अंतर्गत सभी सदस्यों को प्रादेशिक एकता एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के सम्मान के खतरे की स्थिति में परिषद् उचित कार्यवाही हेतु कदम उठा सकती है।

(ii) अनुच्छेद 12 में प्रत्येक विवादों को न्यायिक प्रक्रिया द्वारा हल करने के प्रयास किए जाऐंगे लेकिन कम से कम न्यायिक निर्णय के 3 माह तक राज्यों को युद्ध का अधिकार नहीं होगा।

(iii) अनुच्छेद 16 में यह दिया गया है कि जब अन्य तरीकों से समस्या का समाधान नहीं होता तब परिषद् सामूहिक सुरक्षा हेतु उपयुक्त कदम उठा सकती है।

परन्तु उपयुक्त प्रावधानों के होते हुए भी राष्ट्र संघ ने उनका कभी उपयोग नहीं किया। राष्ट्र संघ के असफलता हेतु जिम्मेदार तत्वों ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। इसमें मुख्य रूप से अमेरिका द्वारा राष्ट्रसंघ का सदस्य न बनना, विजित व हारे राष्ट्रों के बीच प्रतिद्वंदिता जारी रहना, जर्मनी व फ्रांस के मतभेद वहीं पर रहना, सोवियत संघ का इस संगठन से बाहर रहना, परिषद् की सदस्यता बदलते रहना, जापान, जर्मनी व इटली द्वारा इसकी खुली अवमानना करना आदि बहुत से ऐसे कारण हैं जिसकी वजह से प्रारंभिक कुछ वर्षो को छोड़ दें तो राष्ट्र संघ विफल रहा। अतः स्वभाविक था कि सामूहिक सुरक्षा की भी विफलता अनिवार्य थी। अतः सामूहिक सुरक्षा के विकास व इसे लागू करने के संदर्भ में राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से दुविधाग्रस्त था तथा प्रारम्भ से ही शक्तिहीन रहा।

(ख) ***संयुक्त राष्ट्र संघ व सामूहिक सुरक्षा***- राष्ट्र संघ के अनुभवों से शिक्षा लेते हुए संयुक्त राष्ट्र चार्टर में इसका अति स्पष्ट आलेख किया गया। यद्यपि सम्पूर्ण चार्टर में "सामूहिक सुरक्षा" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु अध्याय सात में 'संयुक्त कार्यवाही' ही सामूहिक सुरक्षा का स्वरूप है। सैद्धान्तिक रूप में चार्टर में चार व्यवस्थाओं के अंतर्गत इसका उल्लेख है - (i) अनुच्छेद-1 (अध्याय 1); (ii) अनुच्छेद 39-51 (अध्याय 7); (iii) अनुच्छेद 52-54 (अध्याय 8); तथा "शांति के लिए एकता प्रस्ताव" (1950)।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के भाग 1 में इसके उद्देश्यों का वर्णन करते हुए अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा हेतु संयुक्त राष्ट्र / सामूहिक कार्यवाही करेगी। क्षेत्रीय शान्ति व सुरक्षा हेतु ये संगठन संयुक्त राष्ट्र की अनुमति के साथ सामूहिक कार्यवाही कर सकते हैं। 1950 में कोरिया के संकट के समय महासभा द्वारा शांति के लिए एकता प्रस्ताव के माध्यम से यह व्यवस्था की गई है कि यदि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के खतरे की आशंका पर सुरक्षा परिषद् कोई कार्यवाही नहीं करता है तो महासभा सुरक्षा परिषद् को कार्यवाही हेतु कह सकता है। अतः उपरोक्त तीनों परिस्थितियों से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्यों एवं व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है।

वास्तविक रूप में अध्याय 7 में दण्डात्मक कार्यवाही के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। इसके अंतर्गत कार्यवाही से पूर्व अनुच्छेद 41 में गैर सैनिक कदम उठाने पर जोर दिया गया है ताकि आक्रमणकारी राज्य विश्व शान्ति को खतरा न बने। इसके बाद अनुच्छेद् 42 में घेराबन्दी की व्यवस्था की गई है। अन्ततः सैन्य कार्यवाही का प्रावधान है जिसमें सभी राष्ट्रों का दायित्व है कि वे सेना में अपना सहयोग देंगे (अनुच्छेद 43 व 44)। इसके बाद एक सैन्य स्टाफ समिति के गठन की बात की गई है जो एक कमाण्डर के अधीन संयुक्त राष्ट्र के झंडे के नीचे कार्यवाही करेंगे (अनुच्छेद् 47)। अतः इस प्रकार सभी अन्य कार्यवाही के विफलता के बाद युद्ध की कार्यवाही को स्वीकृत किया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस कार्यवाही का अगुवा संयुक्त राष्ट्र का कमाण्डर होगा, किसी एक देश या अन्य संगठन का नहीं। इस कार्यवाही हेतु भाग लेने के लिए अधिकांश देशों का होना अनिवार्य नहीं तो कम से कम वांछनीय अवश्य है।

मूल्यांकन

सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के अधीन शक्ति को रोकने या सीमाबद्ध करने में सक्षम है या नहीं यह इसके सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं के मूल्यांकन के बाद ही कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से, इसकी सफलता के संदर्भ में कई प्रश्न उठाये गये हैं। क्या सभी राष्ट्र आक्रमणकारी को पहचानते हैं? क्या आक्रमण को रोकने हेतु सभी पूर्ण रूप से इच्छुक हैं? क्या सामूहिक समूह आक्रमणकारी से अधिक शक्तिशाली हैं? क्या विश्व शांति शक्ति विस्तार से संभव है? क्या सभी देश राष्ट्रहितों को भुलाकर एकजुट हो सकेंगे? आदि।

सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यवहारिक रूप से भी देखें तो शीतयुद्ध तथा उत्तर शीतयुद्ध कालों में अपनी-अपनी प्रकार से सामूहिक सुरक्षा की अवहेलना की है। शीतयुद्ध काल में युद्ध व शाति का प्रश्न विचारधारा के आधार पर तय किया जाता था। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र के फैसलों पर समर्थन। इसीलिए शायद इस युग में हुई कोरिया (1950) के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही पूर्णतया सफल नहीं हो सकी। बल्कि यह कार्यवाही भी विशेष स्थिति में ही सम्भव हो सकी जब यह निर्णय दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही से गैर-हाजिर रहना वीटो नहीं माना जा सकता। शीतयुद्धोत्तर युग में ईराक के विरुद्ध हुई कार्यवाही (1990 व 2003) को भी वस्तुनिष्ठ एवं संयुक्त राष्ट्र की संज्ञा देना गलत होगा। यह कार्यवाही भी मुख्य रूप से अमेरिका व नाटो देशों या बाद में अमेरिका व ब्रिटेन की संयुक्त कार्यवाही कहा जा सकता है। इस कार्यवाही के दौरान न तो संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धाराओं का पालन किया तथा न ही युद्ध टालने की कोशिशें की गई। बल्कि ऐसा लगा कि अपने कुछ अस्पष्ट हितों की पूर्ति हेतु यह युद्ध लड़ा गया। इसके अतिरिक्त, अब युद्ध में हुए भारी मात्रा में विध्वंस के बाद अमेरिका द्वारा यह स्वीकारना कि हथियारों के संदर्भ में उसे गलत रूप से सूचित किया इस सारे घटनाक्रम को हास्यास्पद बना देता है। परन्तु क्या ऐसा कहने से ईराक के नुकसान की भरपाई हो जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि शीतयुद्धोत्तर युग में अमेरिका के एकमात्र शक्ति रहने के कारण उसकी किसी भी कार्यवाही को रोक पाना असम्भव है। अतः अमेरिका द्वारा किए गए सभी आक्रमण उचित माने जायेंगे।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सिद्धान्त व व्यवहार दोनों की परिस्थितियों में अब सामूहिक सुरक्षा के आधार पर शक्ति पर अंकुश लगाना कठिन है। कारण जो भी हो यह बात शीतयुद्ध काल में भी सत्य थी और आज शीतयुद्धोत्तर युग में भी सही है। इसके साथ-साथ परमाणु, जैविक एवं रासायनिक हथियारों के संदर्भ में युद्धों को रोकना भी कठिन होता जा रहा है। अतः इस सिद्धान्त हेतु शक्ति पर सीमाएं लगाना अधिक कारगर नहीं रहा।

अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law)

अंतर्राष्ट्रीय कानून भी शक्ति पर अंकुश लगाने का एक प्रभावशाली तरीका है। वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय कानून का महत्व बढ़ता जा रहा है। यदि इसकी परिभाषाओं का आकलन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून का दायरा भी बढ़ता जा रहा। परन्तु इन सब बातों का अध्ययन करने से पूर्व इसे परिभाषित करना आवश्यक है जो इस प्रकार से है-

(i) **ओपनहाइम**- अंतर्राष्ट्रीय कानून उन परंपरागत एवं परस्पर समझौतों से निर्मित अभिसमयात्मक नियमों का ऐसा संग्रह है जिन्हें सभ्य राज्य अपने व्यवहार में पालने योग्य समझते हैं।

(ii) **ह्यूज** - अंतर्राष्ट्रीय कानून ऐसे सिद्धान्त का समूह हैं जिनको सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में प्रयोग करना बाध्यकारी समझते हैं। यह कानून प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों की स्वीकृति पर निर्भर रहता है।

(iii) **जे.जी. स्टार्क**- यह एक ऐसे कानून का समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन सिद्धान्तों तथा आचरण के नियमों से हुआ है जिसके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इसका पालन करने हेतु बाध्य हैं। इसमें दो प्रकार के नियम सम्मिलित होते हैं - (क) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं व संगठनों की कार्यप्रणाली से संबंध रखने वाले तथा इन संस्थानों के राज्यों तथा व्यक्तियों से संबंध रखने वाले कानून के नियम; (ख) व्यक्तियों से तथा राज्योपरिसत्ताओं से संबंध रखने वाले कानून के नियम।

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का क्षेत्र बढ़ा व्यापक होता जा रहा है। यह एक तरफ जहां राष्ट्रों, राष्ट्रोपरि संस्थाओं, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों एवं संस्थाओं, इनसे जुड़े व्यक्तियों आदि सभी के अध्ययन का समावेश कर रहा है, वहीं दूसरी ओर विश्व समुदाय के लिए बाध्यकारी संहिता का हिस्सा बनता जा रहा है।

वर्तमान समय में विभिन्न कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इनका महत्व बढ़ता जा रहा है। शक्ति संघर्ष को कम करने तथा अराजकता की स्थिति को दूर करने हेतु कुछ नियमों का होना अनिवार्य हो गया है। इसके अतिरिक्त, दूरगामी विश्वशांति का आधार तैयार करने हेतु भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का अति महत्व है। वर्तमान समय में परमाणु, जैविक व रासायनिक हथियारों के विकास के दौर मे ंराज्यों के बीच समन्वय पैदा करना अनिवार्य ही नहीं अपितु मजबूरी बन गया है। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में राज्यों के मध्य आर्थिक व व्यापारिक हितों का सुचारू संचालक हेतु भी कुछ नियमावली का होना अति आवश्यक है। वर्तमान शीतयुद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए ध्रुवीकरण के पश्चात् गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के कमजोर पड़ने तथा अमेरिका के बढ़ते वर्चस्व के परिणामस्वरूप भी यह अति महत्वपूर्ण हो गया है। अन्ततः ईराक जैसी घटनाओं की पुनराव त्ति को रोकने के लिए भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का महत्व अति आवश्यक है।

परन्तु अंतर्राष्ट्रीय कानून द्वारा किस हद तक शक्ति विस्तार पर अंकुश लगाया जाता है, इससे पूर्व कुछ लोग इसके कानून होने या न होने पर भी प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। जिन विद्वानों का मत है कि यह कानून नहीं है उनके तर्क इस प्रकार से हैं - इनके पीछे बाध्यकारी शक्ति नहीं होती यह सम्प्रभु का आदेश नहीं है इसको बनाने वाली विधानमण्डल का अभाव है; इसकी व्याख्या करने वाली राष्ट्रीय न्यायपालिका जैसी संस्था नहीं है; इसकी संहिता का अभाव है आदि। लेकिन इसके कानून होने के पक्षधर कुछ इस प्रकार की दलीलें देते हैं। नैतिकता के नियम ज्यादा प्रभावी होते हैं; कानून को न मानने का अर्थ इसके अस्तित्व को नकारना नहीं है; सभी राष्ट्र अपने व्यवहार में इनका पालन करते हैं; इसके निर्माण की भी संस्थाएं (संयुक्त राष्ट्र) उपलब्ध हैं, अंतर्राष्ट्रीय न्यायपालिका भी है आदि। इन दोनों पक्षों के वाद-विवाद के बाद हम कह सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, भले ही वास्तविकता में इसका विषय क्षेत्र, अध्ययन पद्धति, कानून निर्माण व्यवस्था, आदि राष्ट्रीय कानूनों के समकक्ष भी न हों।

इस प्रकार सभी पहलुओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून बेसक कमजोर है परन्तु शक्ति पर अंकुश रखने में कई प्रकार से भूमिका निभाता है - प्रथम, राज्य कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि इससे अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में अराजकता की स्थिति न पनपे। क्योंकि यदि राष्ट्रों को अपने राष्ट्रहितों की पूर्ति करनी है तो वह केवल शान्ति व व्यवस्थापरक विश्व में ही सम्भव हो सकती है। अतः कानून शक्ति पर अंकुश लगाकर ही राष्ट्रहित पूर्ति में सहायक हैं। द्वितीय, बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय खतरों को देखते हुए भी यह शक्ति पर अंकुश रखता है। वर्तमान समय में मानव जाति के विध्वंस के हथियारों (परमाणु, जैविक एवं रासायनिक) पर भी रोक अंतर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से ही लगाई जा सकती है। त तीय, अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला विश्व जनमत को अपने विरुद्ध पाता है। इस प्रकार राष्ट्रों के समुदाय में अपनी छवि ठीक रखने हेतु भी राष्ट्रों को ऐसा करना पड़ता है। चतुर्थ, अंतर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही भी हो सकती है। उदाहरण स्वरूप, सुरक्षा परिषद् चार्टर के अनुसार अनुच्छेद् 10, 39, 41, 45 व 94(2) के अंतर्गत कानून तोड़ने वाले राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। अतः अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत दण्डात्मक कार्यवाही। सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही भी राज्यों पर उचित अंकुश रखती है। पंचम, समय-समय पर शान्ति व सुरक्षा से निपटने हेतु अंतर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौतों पर हस्ताक्षर किए जाते हैं। इनके माध्यम से हस्ताक्षरित राष्ट्र अपने आपको प्रतिबन्धित करते हैं। इन समझौतों के उल्लंघन करने की दिशा में ऐसे राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही भी की जा सकती है। अन्ततः अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के माध्यम से राज्यों के विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही के इलावा विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध, राजनयिक तिरस्कार व इस प्रकार के अन्य कदम भी उठाये जा सकते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का स्वरूप व दण्ड देने की क्षमता कितनी भी कम हो, परन्तु यह काफी सीमा तक उपरोक्त तरीकों से शक्ति पर अंकुश लगाने में सक्षम है। शायद यही कारण है कि जब राष्ट्र शक्ति का नग्न प्रदर्शन भी करते हैं तो अपनी उस कार्यवाही को अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत स्पष्टीकरण देते हुए उसे न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की शक्ति पर सीमा लगाने हेतु उपयोगिता है।

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता भी शक्ति पर कुछ हद तक सीमाएं लगाती है। मुख्य रूप से देखें तो यह कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता से अभिप्राय है कि राष्ट्र के उन कुछ मूल्यों का पालन करते हुए विश्व में वही कार्य करना जो करने योग्य हों। परन्तु इसकी परिभाषा व अस्तित्व को लेकर विद्वानों में परस्पर मतभेद व्याप्त है। इसमें कौन-कौन से मूल्यों का समावेश होना चाहिए इस पर भी राष्ट्रों में सर्वसम्मति का अभाव है। इतना भी सुनिश्चित है कि व्यक्ति की नैतिकता व राष्ट्र की नैतिकता दोनों

अलग-अलग होती हैं। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता क्या है? अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता उन मानदण्डों व मूल्यों का संग्रह है जिनका दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार करते समय पालन करना राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय अपरिहार्य समझते हैं।

यद्यपि यथार्थवादियों एवं आदर्शवादियों के बीच नैतिकता को लेकर विपरीत मत हैं। परन्तु नैतिकता से सम्बन्धित तीन महत्त्वपूर्ण पहलू हैं - प्रथम, यदि आन्तरिक रूप से राज्य नैतिक मूल्यों पर चल सकते हैं तो राष्ट्र बाह्य सन्दर्भो में भी इसका पालन कर सकते हैं। द्वितीय, राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति भी व हत विश्व/मानव जाति के संदर्भ में ही कर सकता है। त तीय, किसी भी प्रकार के अत्याचारों के विरोध पर तो सहमति हो सकती है।

इन तीन महत्त्वपूर्ण पहलुओं के साथ-साथ कई विद्वानों का मत है कि विभिन्न बाध्यताओं के स्वरूप भी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का अस्तित्व बना रहता है। ये बाध्यताएं हैं - (i) निर्णायकों की अंतर्रात्मा की; (ii) अंतर्राष्ट्रीय कानून की; (iii) विश्व जगत की; (iv) अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की आदि।

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता पर असहमति, इसकी कमजोरी, यथार्थवादियों द्वारा इसकी अस्वीकृति आदि के उपरान्त भी हम कह सकते हैं कि अपने सीमित सन्दर्भ में यह निम्न प्रकार से प्रभावी होती है-

(i) आज अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में विवादों के समाधान हेतु युद्ध के विकल्प की निंदा की गई है। अतः समस्याओं को राजनयिक रूप से हल करने के प्रयास को उचित माना गया है। इसीलिए यदि किसी स्थिति में युद्ध भी करना पड़े तो अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का समर्थन लेना अनिवार्य है। अतः या तो इस डर से राज्य युद्ध के विकल्प का प्रयोग ही नहीं करते, अथवा न्यायोचित युद्ध की परिकल्पना स्थापित करने की कोशिश करते हैं। अतः आज युद्ध व शांति के मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के स्वरूप / समर्थन को भी ध्यान में रखा जाता है।

(ii) आज राज्य को उचित या अनुचित का निर्देशन भी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के माध्यम से प्राप्त होता है। प्रत्येक राष्ट्र यह समझता है कि उसकी कार्यवाही को जब तक विश्व जनमत का समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता तब तक वह उसे अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता हेतु सही न सिद्ध कर दें। उदाहरण के रूप में अमेरिका द्वारा 1990 व 2003 की कार्यवाहियाँ बेसक अमेरिका के राष्ट्रहितों के अनुरूप की गई लेकिन उसने दोनों समय संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों का सहारा लिया अथवा बहुराष्ट्रीय कार्यवाही का स्वरूप देने की कोशिश की। शायद इसके पीछे उसके द्वारा अपनी कार्यवाही को अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के अनुरूप प्रमाणित करने का प्रयास रहा है।

(iii) कई बार अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का पालन इसलिए नहीं होता कि इसके पीछे कोई बाध्यकारी स्वरूप जुड़ा हुआ है, बल्कि यह इसलिए भी की जाती है क्योंकि यदि विश्व रहेगा तब ही राष्ट्रों के हित पूर्ण होंगे, यदि ऐसा नहीं होगा तो विपरीत स्थिति होगी। वर्तमान समय में शास्त्रों के आधुनिकतम स्वरूप से युद्ध केवल दो राष्ट्रों के बीच आपसी संघर्ष तक ही सीमित नहीं होते, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के विनाश तक कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, परमाणु हथियारों के संदर्भ में अब जीत-हार नहीं होगी बल्कि "परस्पर तय विनाश" निश्चित है। अतः अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आज नैतिकता के दायरे में ही संयोजन करना महत्त्वपूर्ण हो गया है।

(iv) अन्ततः वर्तमान विश्व में सभी क्षेत्रों मे ंराष्ट्रों के मध्य तीव्र प्रतिस्पर्धा विद्यमान है। राजनैतिक, आर्थिक, सामरिक आदि सभी क्षेत्रों में राष्ट्र एक दूसरों से संघर्ष व निरन्तर सर्वोच्चता प्राप्त करने में लगे रहते है। सभी राष्ट्र शक्ति संचय की द ष्टि से अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने हेतु प्रयासरत हैं। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं नैतिकता के द्वारा ही विश्व व्यवस्था को सुनिश्चित व सुव्यवस्थित ढंग से रखा जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो अराजकता व शक्ति हेतु अन्धे संघर्ष की स्थिति बन जायेगी जो किसी भी राष्ट्र हेतु उचित नहीं होगी।

इस प्रकार यह सत्य है कि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती जो इसे लागू कर सके। यथार्थवादी तो इस शक्ति संघर्ष के युग में तो इसके अस्तित्व को ही नकारते हैं। इसके साथ-साथ कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में महत्त्व गिरता जा रहा है। कम होता जा रहा है। लेकिन युद्ध के भयानकता, हथियारों के विनाशकारी स्वरूप, राज्यों के मध्य बढ़ती अंतर्निर्भरता आदि के कारण चाहे इसके प्रभाव में कमी भी हो, परन्तु इसका अस्तित्व अवश्य बना रहेगा। वास्तविकता में ना भी करें, लेकिन सिद्धान्त रूप में सभी राष्ट्र अपने निर्णयों को अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के अनुरूप सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

विश्व जनमत (World Public Opinion)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व जनमत की अवधारणा एक अस्पष्ट अवधारणा है। इसके अतिरिक्त यह मूर्त रूप की बजाय मुख्यतया अनुभूत की स्थिति है। राष्ट्रीय जनमत की तुलना में यह कम विकसित तथा अशिक्षित अवस्था में है। फिर भी इसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कई परिस्थितियों में देखने को मिलता है। परन्तु इसके प्रभाव को जानने से पूर्व इसे परिभाषित करने व इसके स्वरूप के बारे में जानकारी अति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए मारगेन्थाऊ का मानना है कि विश्व जनमत राष्ट्रोपरि होता है तथा यह विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कुछ मूल अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सर्वसम्मति से एकीकृत करता है।

परन्तु यह अवधारणा स्वचालित नहीं है तथा भ्रामक भी है। अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा जनमत की अभिव्यक्ति अपने राष्ट्रहितों के द्वारा प्रभावित होती है। इसीलिए कई विषयों पर एक राष्ट्र एक प्रकार की राय देता है तो दूसरा राष्ट्र ठीक उसके विपरीत। ऐसी स्थिति में सत्य क्या है यह जानना भ्रामक हो जाता है। तीसरा राष्ट्र भी अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ही उन मुद्दों पर अपनी राय कायम करता है। इसीलिए कई विषयों पर विश्व जनमत संगठित हो जाता है तो कई अन्य विषयों पर ऐसा नहीं हो पाता।

मारगेन्थाऊ के अनुसार इस स्थिति हेतु तीन कारण उत्तरदायी होते हैं जो निम्न प्रकार से है-

(i) सर्वप्रथम, विश्व में मनोवैज्ञानिक एकता का अभाव है। उसका मानना है कि सभी तीन बातें - स्वतन्त्रता, शान्ति व व्यवस्था - को अनिवार्य मानते हैं। ये तीनों बुनियादी बातें विश्व जनमत का मूल आधार है तथा विश्व जनमत का प्रतीक भी है। आमतौर पर सभी राष्ट्र इससे सहमत हैं लेकिन नैतिक व राजनैतिक मूल्यांकनों में सभी विभिन्न राय रखते हैं। इस प्रकार के निर्णयों में परिस्थितियों की भी भूमिका होती है। इस प्रकार के राजनैतिक मतभेदों के कारण एक समान विश्व जनमत तैयार नहीं हो पाता।

(ii) द्वितीय, विश्व औद्योगिकरण के विकास के कारण भी एकीकरण की संदिग्धता बनी रहती है। यद्यपि औद्योगिक विकास, विशेषकर सुचना प्रसार के क्षेत्र में विकास, के माध्यम से राज्य नजदीक आ रहे हैं। कुछ लोगों का मानना है कि ''विश्व सरकारकी ओर अग्रसर है। लेकिन इसके बाद भी राजनैतिक रूप से आज भी राष्ट्रीय हितों की प्रधानता को नकारा नहीं जा सकता। कई राष्ट्रों के संदर्भ में आर्थिक व व्यापारिक हित इतने सशक्त हो जाते हैं कि राज्यों के अन्दर एक आम सहमति नहीं विकसित होती।

(iii) अन्ततः, राज्यों के बहुआयामी विकास के बाद भी आज भी राष्ट्रीय हित ही सर्वोत्तम समझे जाते हैं। राष्ट्रीय हित इतने प्रभावी माने जाते हैं कि उनके लिए आज भी राज्य युद्ध लड़ने को तैयार है। आज भी राष्ट्र 'अंतर्राष्ट्रीय' या 'विश्व' राजनीति के हितों के बजाय अपने राष्ट्रीय हितों के लिए ज्यादा सजग हैं। अतः इसके कारण भी विश्व जनमत के निर्माण में व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों कारणों से विश्व जनमत के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कठिनाईयां आ रही हैं।

इस अवधारणा के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह है कि क्या विश्व जनमत वास्तव में होता है? जिनका मानना है कि यह जनमत नहीं है उनके तर्क हैं कि - विश्व समस्याओं का समाधान विश्व की बड़ी शक्तियों की सर्वसम्मति पर ही निर्भर होता है; विकासशील देशों में पिछड़ेपन के कारण यह सम्भव नहीं कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर बड़ी शक्तियां ही अधिक प्रभावी होती हैं; मानवाधिकारों की समस्या सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है; तथा, शीतयुद्धोत्तर युग में एक-शक्ति के वर्चस्व स्थापित करने के कारण अब यह और अधिक कठिन हो गया है।

परन्तु दूसरी ओर कई नई परिस्थितियों के घटनाक्रम से विश्व जनमत की उपस्थिति दर्ज होती है। जैसे - संचार साधनों के द्वारा विश्व का जुड़ना; अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा इन्हें बढ़ावा देना; युद्ध विरोधी, मानवाधिकार व अन्य शान्ति संगठनों द्वारा इसे प्रोत्साहन देना; राज्यों के बीच विभिन्न प्रकार के समझौतों का होना; विभिन्न संकट कालीन परिस्थितियों में एक दूसरे राज्यों की मदद करना आदि।

इस प्रकार विभिन्न अवरोधक कारणों व नकारात्मक अस्तित्व के बाद भी यह सत्य है कि विश्व जनमत है तथा इसके द्वारा निम्न रूप से शक्ति पर अंकुश रखा जाता है -

(i) सर्वप्रथम, शक्ति के विकास के साथ राज्य प्रायः अपने साम्राज्य विस्तार में अग्रसर होते हैं। इसके लिए कई बार वह युद्धों का सहारा भी लते हैं। लेकिन युद्ध के माध्यम से शक्ति प्रदर्शन पर आमतौर पर सभी राज्य उसकी निन्दा करते हैं तथा विरोध जताते है। इसी विश्व जनमत के कारण शायद बड़ी शक्तियां प्राय युद्ध नहीं करती।

(ii) द्वितीय, वर्तमान युग में हथियारों की होड़, अपने चरम पर पहुंची हुई है। इस शस्त्र विकास में बहुत से विनाशकारी शस्त्र भी शामिल हैं। इन शस्त्रों की विध्वंसक क्षमता को देखते सारा विश्व जनमत हमेशा निरस्त्रीकरण पर बल देता है ताकि विश्व को विनाश के कगार पर जाने से रोका जा सके। शायद इसी कारण से समय-समय पर राष्ट्रों के मध्य द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए हैं।

(iii) वर्तमान युग में यह सत्य है कि चाहे कितना भी विकसित देश हो या विकासशील देश, परन्तु वे सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर नहीं है। अर्थात् सभी राष्ट्र आज परस्पर अन्तर्निर्भर हैं। इस परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान की बाध्यता के कारण राष्ट्रों के मध्य आर्थिक संबंध, समानता तथा न्याय पर आधारित हों इसके लिए भी समय-समय पर जनमत की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

(iv) किसी भी देश द्वारा आक्रामक व अत्याचारी विदेश नीति के अपनाने पर हमेशा जनमत ने इसका विरोध किया है। सम्पूर्ण 20वीं शताब्दी में जब भी किसी राष्ट्र ने दूसरे राज्यों के साथ हस्तक्षेप की नीति अपनाई है तभी राष्ट्रों ने मिलकर उसका विरोध व्यक्त किया है।

अतः सीमित ही सही परन्तु जब-जब विश्व में शांति व सुरक्षा को खतरा होता है या राज्य के अस्तित्व को कोई चोट पहुंचती है या विश्व विनाश के कगार पर पहुंचता है तब-तब विश्व जनमत की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान सन्दर्भ में विश्व सभी क्षेत्रों में भूमण्डलीकरण की ओर अग्रसर है इसीलिए अनुमान है इस राज्यों के मध्य बढ़ते सहयोग से विश्व जनमत के विकास को और बल मिलेगा।

राष्ट्रीय हित
(National Interest)

राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि राज्यों के आपसी संबंधों को बनाने में इनकी विशेष भूमिका होती है। किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति मूलतः राष्ट्रीय हितों पर ही आधारित होती है, अतः उसकी सफलताओं एवं असफलताओं का मूल्यांकन भी राष्ट्रीय हितों में परिवर्तन आता है जिसके परिणामस्वरूप विदेश नीति भी बदलाव के दौर से गुजरती है।

राष्ट्रीय हितों सम्बन्धित अन्य जानकारी से पूर्व इन्हें परिभाषित करना अनिवार्य है जो इस प्रकार से है-

(i) **चार्ल्स लर्च व अब्दुल सईद** - राष्ट्रीय हित व्यापक, दीर्घकालीन एवं सतत् उद्देश्यों पर आधारित होते हैं जिनकी प्राप्ति हेतु राज्य, राष्ट्र व सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं।

(ii) **वनर्न वॉन डाईक** - राष्ट्रीय हित की रक्षा या उपलब्धि राज्य परस्पर मुकाबले में करना चाहते हैं।

राष्ट्रीय हित की परिभाषा ही नहीं बल्कि इसके उद्देश्यों को लेकर भी विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें विदेश नीति के उद्देश्यों से जुड़ा मानते हैं तो कुछ इसके मूलभूत मूल्यों से जुड़ा मानते हैं। पहली श्रेणी के विद्वानों के अनुसार यह स्थाई, अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुड़ी अवधारणा है, लेकिन दूसरे इन्हें राष्ट्र के कल्याण, राजनैतिक विश्वास के संरक्षण, सीमाओं से सुरक्षा, क्षेत्रीय अखण्डता व राष्ट्रीय जीवन पद्धति से जुड़ा मानते हैं। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि राष्ट्रीय हित व्यापक सन्दर्भ के रूप में लिए गए हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रीय हितों को कई श्रेणियों में बांटा है। उदाहरण स्वरूप, विद्वान इन्हें प्रथम कोटि के हित, गौण हित, स्थाई हित, अस्थाई हित, सामान्य हित, विशिष्ट हित आदि में वर्गीकृत करते हैं। लेकिन मूलतः इन्हें दो प्रमुख श्रेणियों में रखना ज्यादा स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करता है - (क) प्रमुख हित; (ख) गौण हित।

(क) जहां तक प्रमुख हितों की बात है प्रत्येक राष्ट्र तीन प्रमुख हितों के आधार पर अपनी विदेश नीति के उद्देश्य तय करते हैं। ये तीन प्रमुख हित हैं (i) राष्ट्रीय सुरक्षा/अखण्डता; (ii) आर्थिक विकास; (iii) अनुकूल विश्व व्यवस्था। प्रत्येक राष्ट्र के प्रमुख उद्देश्यों में इन तीनों कारकों का होना इसलिए आवश्यक है कि प्रथम पर राज्य का मूल आधार/अस्तित्व टिका हुआ है। दूसरे पर उसका सुचारू विकास तथा तीसरे का महत्व इसलिए है कि इन हितों की पूर्ति एक विशिष्ट विश्व परिवेश में ही सम्भव है, एकान्तवास में नहीं। अतः कोई भी राष्ट्र इन तीन प्रमुख हितों के सन्दर्भ में ही अपनी विदेश नीति या राज्यों के साथ पारस्परिक संबंध स्थापित करता है।

(ख) गौण हित प्रमुख हितों की भांति महत्वपूर्ण तो नहीं होते लेकिन किसी भी राष्ट्र को सत्ता में बनाये रखने हेतु आवश्यक होते हैं। इन हितों के लिए राष्ट्र अपना सर्वस्य या युद्धों तक जाने के लिए तैयार नहीं होता, परन्तु फिर भी इनकी पूर्ति हेतु प्रयास करता है। इन हितों के माध्यम से राष्ट्र अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, विरासत आदि द्वारा स्थापित आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त, अपने विदेशों में स्थापित कार्यो को पूर्ण करने की कोशिश करता है। इनके माध्यम से विदेशों में बसे अपने नागरिकों के हितों की पूर्ति के प्रयास भी करता है। अतः इन हितों की पूर्ति हेतु भी राष्ट्र काफी प्रयास करते हैं।

परन्तु जैसा उपरोक्त कहा है कि कुल मिलाकर राष्ट्रहित गतिशील होते हैं, स्थाई नही। इसीलिए जितने ज्यादा से ज्यादा हो सकें उतने सम्भावित हितों की पूर्ति हेतु राष्ट्र प्रयासरत रहते हैं।

अभिव द्धि के साधन- राष्ट्रीय हितों के संदर्भ में जो भी बातें कही जाए, अन्ततः सत्य यह है कि सभी राष्ट्र इनकी अभिव द्धि हेतु भरसक प्रयत्न करते हैं। इस संदर्भ में राष्ट्र विभिन्न साधनों का उपयेाग करते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

(क) **राजनय-** किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का कार्यान्वयन राजनय के माध्यम से ही होता है। राजनय अपने आप में नैतिक अनैतिक नहीं होता बल्कि अपने राष्ट्र हितों के अनुरूप होता है। न ही यह एक वस्तुनिष्ठ स्थिति है, बल्कि यह व्यक्तिपरक व्यवस्था है जिसका आकलन प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने द ष्टिकोण के अंतर्गत करता है। राजनय अपने देश के विदेशों में स्थापित दूतावासों व वाणिज्य केन्द्रों के अतिरिक्त विदेश मंत्रालय, राजनैतिक नेत त्व व कई अन्य व्यक्तियों व संस्थाओं की भागीदारी के अनुरूप कार्यान्वित होता है। राजनय द्वि-पक्षीय एवं बहुपक्षीय दोनों प्रकार के होते हैं। राजनय के स्वरूप भी स्थितियों के अनुरूप नये-नये सन्दर्भो में प्रस्तुत होते हैं।

(ख) **प्रचार-** प्रचार भी राष्ट्रीय हितों में व द्धि एवं पूर्ति का महत्त्वपूर्ण तरीका है। प्रचार दूसरे राष्ट्रों के तर्को को गलत सिद्ध करने तथा अपनी बात को फैलाने का हमेशा तरीका रहा है, लेकिन 20वीं शताब्दी में ही प्रचार को एक मुख्य साधन के रूप में उपयोग किया गया है। इसका अति स्पष्ट रूप दो विश्व युद्धों के बीच के काल में देखने को मिला जब विभिन्न विचारधाराओं - साम्यवाद, नाजीवाद, फासिज्म - के माध्यमों से राष्ट्रों ने अपनी शक्ति स्थापित एवं संवर्धन हेतु इनका उपयोग किया। शीतयुद्ध काल में भी दोनों महाशक्तियों ने अपने-अपने वर्चस्व को बनाने हेतु राष्ट्रों के मध्य साम्यवादी व पूंजीवादी विकास के प्रतिमानों को अपनाने हेतु प्रतिस्पर्धा पैदा की। शीतयुद्धोत्तर युग में भी एक मात्र शक्ति द्वारा भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, मुक्त बाजार व्यवस्था आदि केवल राष्ट्रों के पास बचे विकल्प के रूप में तथा अपनी विदेश नीति की हस्तक्षेप की नीतियों को न्यायोचित स्थापित करने हेतु अत्यधिक प्रचार किया जा रहा है। इस प्रकार दो प्रमुख कारणों से पिछली शताब्दी में प्रचार का काफी प्रयोग हुआ है। पहला कारण रहा है संचार साधनों में आई क्रांति जिसने प्रचार को बहुत शीघ्रता, विश्वसनीय व आसानी से उपलब्ध करा दिया। दूसरा शायद अति आधुनिकतम हथियारों की उत्पत्ति से बल प्रयोग के विकल्प की समाप्ति ने भी इस साधन को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। कारण जो भी रहे हों परन्तु वर्तमान में उपलब्ध संचार क्रांति के तरीकों ने प्रचार को विदेश नीति के प्रभावी तन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

(ग) **राजनैतिक युद्ध-** राजनैतिक युद्ध भी राष्ट्रहितों की अभिव द्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। यह न तो युद्ध है परन्तु न ही शान्ति। इसके द्वारा राजनय के माध्यम से राज्यों के मध्य दण्डात्मक स्थिति बनाना या आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना जिससे विरोधियों पर दबाव की स्थिति बनी रहती है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न तरीकों द्वारा राजनैतिक युद्ध की स्थिति पैदा की जाती है -

(i) किसी समुदाय को भ्रमित प्रचार द्वारा विभाजित करना;

(ii) विरोधी राज्य में अल्पसंख्यकों को समर्थन देकर राज्य में राजनैतिक अस्थिरता पैदा करना;

(iii) दूसरे राज्यों के महत्त्वपूर्ण उद्योगों, संचार केन्द्रों, यातायात के साधनों आदि में तोड़-फोड़ की कार्यवाही द्वारा व्यवधान उत्पन्न करना;

(iv) राजनेताओं की हत्या कराकर जन साधारण का मनोबल गिराना;

(v) सरकार का तख्ता पलटने वालों को सक्रिय समर्थन देना

(vi) सीमा पार से आतंकवादी गतिविधियां चलाना आदि।

(घ) **आर्थिक साधन-** वर्तमान युग अन्तःनिर्भरता का युग है। प्रत्येक राष्ट्र, कितना ही शक्तिशाली हो या कितना ही छोटा हो, सभी को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। कोई भी सम्पूर्ण रूप से आत्म निर्भर नहीं है। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु वे राष्ट्र अपने संसाधनों के बल पर अपने राष्ट्रीय हितों की अभिव द्धि करते हैं। इन्हीं संसाधनों के प्रयोग से बड़ी शक्तियां विदेशों में सैन्य अड्डे स्थापित करने; विकासशील देशों में सत्ता परिवर्तन; सस्ता कच्चा माल प्राप्त करने; कमजोर राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करने; राज्यों की मुद्रा के अवमूल्यन करने; व्यापार की शर्ते तय करने आदि में सफलता प्राप्त कर लेती हैं। इस संदर्भ में आर्थिक रूप से शक्तिशाली राष्ट्र अन्य देशों के प्रति दो प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं - मुख्य आर्थिक तन्त्र तथा गौण आर्थिक तंत्र। मुख्य आर्थिक तंत्र का प्रयोग निम्न तरीकों से किया जाता है - (i) आयात शुल्क लगाना; (ii) अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों को अपने पक्ष में रखना; (iii) कम मूल्य पर निर्यात करना; (iv) कर्ज या अनुदान देकर; (v) विदेशी सहायता प्रदान करना आदि। गौण आर्थिक तन्त्र के आधार पर प्रयुक्त होने वाली आर्थिक तंत्र के अंतर्गत - (i) रियासत; (ii) बहिष्कार; (iii) नाकेबन्दी। इन्हीं आर्थिक साधनों के द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों में अभिव द्धि करते हैं।

(ङ) **साम्राज्यवाद**- 1945 से पूर्व अत्याधिक बड़ी शक्तियों ने साम्राज्यवाद का सहारा लेकर अपने राष्ट्रीय हितों की अभिव द्धि की थी। सामान्य तौर पर जब कोई राष्ट्र दूसरे राज्य की सीमा व जनता पर जबरदस्ती कब्जा कर लें तो उसे साम्राज्यवाद कहते हैं। इसकी व्याख्या हेतु अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। साम्राज्यवाद के स्वरूप को कई रूपों में देखा जा सकता है। यह बड़े राज्यों द्वारा कभी आर्थिक कारणों, यथास्थिति बनाये रखने, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा आदि कई कारणों से प्रेरित होती है। साम्राज्यवाद की नीतियों के द्वारा राष्ट्रों को आर्थिक लाभ, शक्ति निर्माण तथा अविकसित देशों के कल्याण आदि प्राप्त होते हैं। इससे शक्तियों के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाए तो कुछ चन्द राष्ट्रों के हितों के पूर्ति हेतु साम्राज्यवाद से ज्यादातर राष्ट्रों का शोषण, अन्याय, पिछड़ापन, गरीबी, भुखमरी आदि बढ़ती है। इसलिए 1945 के बाद के वर्षो में क्षेत्रीय साम्राज्यवाद समाप्त प्राय हो गया है।

(च) **उपनिवेशवाद व नव उपनिवेशवाद**- उपनिवेशवाद के माध्यम से 18वीं व 19वीं शताब्दी में यूरोप की बड़ी ताकतों ने तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों पर राज्य किया है। इसके अंतर्गत विदेशी राज्यों पर बाह्य शक्तियों का शासन चलाया जाता रहा है जो स्थानीय लोगों के सभी विषयों पर अपना नियंत्रण रखते हैं। पूरी राजनैतिक व्यवस्था उनके हाथ में होती थी। सरकार विदेशी ताकतों द्वारा ही चलाई जाती थी। भू-भाग पर भी पूर्ण नियंत्रण बाह्य शक्तियों का ही होता था। स्थानीय लोगों की स्वतन्त्रताएं भी उन्हीं के इशारे पर चलती थी। परन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन के लम्बे संघर्ष ने 1950 व 1960 के दशकों में सभी को आजाद करा दिया तथा उपनिवेशी व्यवस्था का प्रायः अन्त हो गया।

1945 के बाद उपनिवेशवाद का स्थान 'नव' उपनिवेशवाद ने ग्रहण कर लिया। अब क्षेत्रीय व राजनैतिक रूप से तो राज्य स्वतन्त्र हो गए, लेकिन आर्थिक रूप से अभी भी गुलाम बने रहे। आर्थिक संसाधनों की द ष्टि से 30 प्रतिशत जनसंख्या 70 प्रतिशत संसाधनों का उपयोग करती है तथा 70 प्रतिशत जनता मात्र 30 प्रतिशत संसाधनों का प्रयोग करती हैं। आज भी कच्चे माल की कीमतें, व्यापार की शर्ते, आर्थिक आदान-प्रदान, तकनीकी हस्तांतरण आदि सभी तीसरी दुनिया के देशों के विरुद्ध हैं। अब इन राष्ट्रों का शोषण अप्रत्यक्ष रूप से होने लगा है। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, आर्थिक सहायता, पूंजीनिवेश कच्चे माल का आयात व तैयार-शुदा माल का निर्यात, दोयम दर्जे का तकनीकी हस्तांतरण आदि के माध्यम से विकसित देश आज भी विकासशील राज्यों का शोषण कर रहे हैं। विभिन्न गैर जरूरी मुद्दों जैसे बाल श्रम, पर्यावरण, मानवाधिकार आदि के नाम पर आज भी इनके साथ व्यापारिक व अन्य आर्थिक संबंधों में भेदभाव किया जाता है। अतः इन आर्थिक लाभों के कारण शक्तिशाली राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति एवं संवर्धन कर रहे हैं।

(छ) **युद्ध**- युद्ध को भी अन्तिम विकल्प के रूप में राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन हेतु प्रयोग कर लेते हैं। युद्धों हेतु विभिन्न कारण व इसके विभिन्न स्वरूप होते हैं। परन्तु वर्तमान युग में हथियारों की मारक क्षमता एवं उनके विध्वंसक स्वरूप के कारण राष्ट्र युद्धों के प्रयोग से बचते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि युद्धों का त्याग कर दिया गया। बड़ी शक्तियां आज भी अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु इसके प्रयोग से नहीं चूकती हैं। उदाहरण के रूप में वर्तमान समय में भी अमेरिका ने अफगानिस्तान व ईराक पर युद्ध करके अपनी एकमात्र वर्चस्व वाली महाशक्ति होने का परिचय दिया।

अतः उपरोक्त साधनों के माध्यम से शक्तियां अपने राष्ट्रीय हितों में व द्धि करती रहती है। यह शक्ति संवर्द्धन शान्तिपूर्ण तरीकों से लेकर युद्ध तक के अनेक निर्धारण तत्वों के द्वारा किया जाता है। लेकिन वर्तमान अन्तनिर्भरता के युग में कुछ राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन अन्य राज्यों की कीमत पर होता है। इसीलिए राष्ट्रों को अपनी विदेश नीति का आधार बनाते समय दूसरे राष्ट्रों के हितों को भी देखना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीय हितों के उपयोग से विश्व में दूरगामी व निरन्तर शांति व सुरक्षा की स्थापना हो सकती है।

विचारधारा (Ideology)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का विशेष महत्व है। विचारधाराओं के आधार पर विश्व शांति व अंतर्राष्ट्रीय युद्धों की स्थिति होती है। यह शक्ति का अमूर्त रूप होते हुए भी राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख तत्व है। सामान्य रूप से विचारधारा दो अर्थो में मानी जाती है - एक, विचारधारा को विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो एक सुनिश्चित विश्व द ष्टि पर आधारित हो और अपने आप को पूर्ण मानें। दो, विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्यों को छिपाने का आवरण कहा जा सकता है।

20वीं शताब्दी में विभिन्न विचारधाराओं का उदय एवं अन्त देखने को मिला। इनमें सबसे प्रमुख विचारधाराएं रही - साम्यवाद, नाजीवाद, फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद आदि। एक सन्दर्भ में लोकतन्त्रवाद तथा भूमण्डलीकरण को भी प्रमुख विचारधारा माना जा सकता है। परन्तु मारगेन्थाऊ का मानना है कि मुख्य रूप से इन विचारधाराओं को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता हैं - (i) यथास्थिति की विचारधारा; (ii) साम्राज्यवाद की विचारधारा; (iii) अस्पष्ट विचारधारा। इनका विस्त त विवरण इस प्रकार से है-

(i) यथास्थिति का अर्थ है किसी प्रकार के परिवर्तन से इंकार करते हुए विश्वव्यवस्था का उसी रूप में चलते रहना। इस स्थिति का समर्थन वही राष्ट्र करेंगे जिन्हें अधिक सम्मानपूर्वक या मजबूत स्थिति प्राप्त हुई हो। जिन राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय शक्ति वितरण में नुकसान हुआ हो वे राष्ट्र हमेशा यथास्थिति को बदलने की बात कहते हैं। यह स्थिति विशेषकर प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों के उपरांत हुए सत्ता विभाजन के बाद अति स्पष्ट रूप में उजागर हुई। इन युद्धों के उपरान्त हुई सन्धियों व समझौतों से लाभांवित विजित राष्ट्रों ने हमेशा यथास्थिति बनाए रखने पर जोर दिया है तो इनसे हुए नुकसान वाले हारे हुए राष्ट्रों ने हमेशा इस स्थिति को चुनौती दी है। परन्तु इस स्थिति को बनाए रखने हेतु विजित राष्ट्र नई विचारधाराओं जैसे शान्ति की विचारधारा एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून की विचारधारा का स जन कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र संघ व संयुक्त राष्ट्र जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना इन्हीं राष्ट्रों की पहल का परिणाम है। इस पहल के माध्यम से वे अपनी स्थिति को बरकरार रखना चाहते हैं। अतः लाभ की स्थिति वाले राष्ट्र हमेशा ही यथास्थिति की विचारधारा का समर्थन करते हैं तो इससे निराश देश हमेशा इन्हें बदलने हेतु संघर्षरत रहते हैं।

(ii) साम्राज्यवाद की विचारधारा हमेशा राज्यों द्वारा अपनी सीमाओं के विस्तार हेतु अपनाई जाती है। यह यथास्थिति के बिल्कुल विपरीत विचारधारा है इसके कार्यान्वयन हेतु शक्ति के सीधे उपयोग की बजाय इन राष्ट्रों को किसी आवरण की आवश्यकता होती है। बाह्य तौर पर इस प्रकार के औचित्य के पीछे अन्तिम उद्देश्य शक्ति विस्तार व नियंत्रण करना है। कई बार इस प्रकार के शक्ति प्रयोग के विभिन्न बहाने बनाये जाते हैं जैसे - "श्वेत लोगों का बोझ," "राष्ट्रीय कर्तव्य, विनाशकारी हथियारों से बचाने हेतु आदि। परन्तु इन सब पहल का अन्तिम उद्देश्य राज्यों द्वारा अपनी सीमाओं/प्रभावों का विस्तार करना होता है। अपने कार्यो को सिद्ध करने हेतु विभिन्न प्रचलित सिद्धान्तों का सहारा लिया जाता है या उनकी नई व्याख्याएं प्रस्तुत की जाती है।

(iii) कुछ विचारधाराओं को मारगेन्थाऊ "अस्पष्ट विचारधाराओं" की श्रेणी में रखता है क्योंकि ये विचारधाराएँ उपरोक्त वर्णित दोनों प्रकार की विचारधाराओं का मिश्रित प्रयोग करती हैं। जहां एक ओर ये आक्रमणकारी पद्धति से स्थिति के परिवर्तन की बात करती हैं, वहीं दूसरी ओर ये यथास्थिति बनाये रखने की कोशिश भी करती हैं। मारगेन्थाऊ तीन प्रमुख विचारधाराओं को इस श्रेणी में सम्मिलित करता है - राष्ट्रीय आत्म निर्णय की विचारधारा, शान्ति की विचारधारा तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठन की विचारधारा। इन तीनों प्रकार की विचारधाराओं का विभिन्न राष्ट्रों ने दोनों संदर्भो में प्रयोग किया है। उदाहरण के रूप में, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार जहां एक ओर साम्राज्यवाद के विरोध स्वरूप नये राष्ट्रों का उदय हुआ वहीं पर कई नेताओं ने इसका हवाला देकर कई राज्यों को अपने क्षेत्र में विलीन कर लिया। इसी प्रकार शान्ति के नाम पर राज्यों ने शान्ति भंग करने वाले राष्ट्रों के विरुद्ध कार्यवाही कर शोषण व साम्राज्यवादी नीतियों का अन्त किया वहीं दूसरी ओर शान्ति स्थापना के नाम पर शक्तिशाली राष्ट्रों ने छोटे राष्ट्रों पर हस्तक्षेप किया तथा अपने

अनुरूप शासन व्यवस्था स्थापित पर ली। संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठन का विचार जहां एक ओर विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सुचारू व्यवस्था का प्रतीक है वहीं दूसरी ओर विजयी राष्ट्रों हेतु बड़े फायदे का सौदा साबित हुआ, क्योंकि इससे सुरक्षा परिषद् की स्थाई सदस्यता के माध्यम से विजीय राष्ट्रों का स्थाई वर्चस्व स्थापित हो गया।

परन्तु यह सत्य है कि विचारधारा का स्वरूप कुछ भी हो यह राष्ट्रीय हितों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती हैं। बल्कि कई बार तो अपने राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही राज्य अपनी विचारधारा तय करते हैं। इस प्रकार जिस प्रकार हित विचार धारा का निर्माण करता है उसी प्रकार हित भी विचारधारा द्वारा निर्धारित हो सकता है। अतः ये दोनों एक दूसरे से परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

विचारधारा की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का आकलन करें तो निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट रूप से उजागर होते हें - (i) विचार किसी भी देश की विदेश नीति को दिशा प्रदान करती है, इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में इसके मूल्य/मान्यताएं विदेश नीति के माध्यम से प्रभावित करते हैं। (ii) इससे राष्ट्र शक्ति को भी सुद ढ़ता मिलती है। यह तथ्य उस स्थिति में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है जब वह देश विविधता से पूर्ण हो। (iii) विचारधारा कई बार राष्ट्रों में असंगठित विचारों को एकता के सूत्र में पिरोकर एक आन्दोलन का रूप प्रदान कर देते हैं। (iv) कई बार इसका नकारात्मक स्वरूप भी देखने को मिलता है। यह नकारात्मक अभिव्यक्ति कट्टरवाद के रूप में परिलक्षित होती है। (v) कई बार विभिन्न विचारधाराओं के कारण या परस्पर विरोधी विचारधाराओं के कारण विश्व में तनाव व शीतयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के रूप में 1945-1991 तक विश्व राजनीति साम्यवाद व पूंजीवाद की विरोधी विचारधाराओं के कारण शीतयुद्ध के दौर से गुजरी। (vi) विचारधाराओं में कट्टरता के कारण कई बार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विरोधी गुटों में बंट जाती है। दोनों गुटों के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बद्ध सभी निर्णय वस्तुनिष्ठता एवं गुणों के आधार पर न लेकर विचारधाराओं से सम्बद्धता के अनुरूप लिए जाते हैं। शीतयुद्ध काल में विश्व सभी व्यवहारिक द ष्टि से परस्पर दो विरोधी खेमों में बंट गया था तथा सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित निर्णय उसी का परिणाम रहे।

अतः यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का विशेष महत्त्व/स्थान सुनिश्चित है। यद्यपि कुछ समय पूर्व विचारधारा के अंत के सिद्धान्त पर विद्वानों में काफी बहस हुई परन्तु विचारधारा के व्यावहारिक रूप को देखते हुए यह सैद्धान्तिक बहस सफल नहीं हो सकी। वर्तमान समय में फिर से विचारधारा को दो प्रमुख चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। प्रथम, शीतयुद्धोत्तर युग में फुकुयामा ने अपनी नवीनतम पुस्तक के माध्यम से "विचारधारा के अन्त" को स्थाई सिद्ध करने का प्रयास किया है। द्वितीय, 1992 के बाद ज्यादातर राष्ट्र अब एक ही विचारधारा के समर्थक बन गये। और यह विचारधारा है - भूमण्डलीकरण की। अब पाश्चात्य देश ही नहीं लगभग सम्पूर्ण तीसरी दुनिया के देश, जिसमें स्वयं रूस व चीन सहित कई साम्यवादी देश भी सम्मिलित हैं। परन्तु इन चुनौतियों के बाद भी यह मानना कि विचारधारा का अन्त हो गया है यह गलत है, क्योंकि भूमण्डलीकरण भी विचारधारा का ही एक स्वरूप है। इसके अतिरिक्त, अभी बदलाव का दौर चल रहा है इसके बाद शायद पहले जैसी विचारधाराएं न भी उत्पन्न हों, परन्तु नये सन्दर्भ एवं स्वरूप में विचारधाराओं की उत्पत्ति न हो ऐसा पूर्ण प्रमाणिकता से कहना उचित नहीं होगा।

विदेश नीति एवं राजनय

(Foreign Policy and Diplomacy)

(क) **विदेशनीति**- विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करना तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को अपने अनुकूल रखने की व्यवस्था है। इसीलिए इसे विदेशों से संबंध, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रबंध, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का राष्ट्रीय हितों के साथ समायोजन आदि माना गया है। इसके द्वारा अन्य राज्यों से इस प्रकार व्यवहार/संबंध स्थापित करना है कि वे इसके हितों के अनुरूप कार्य करें। इसके साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी स्थिति इस प्रकार अपने अनुरूप रखना कि कम से कम कीमत पर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। इस प्रकार अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के संदर्भ में ही कोई भी देश अपनी विदेश नीति तय करता है। इस प्रकार के हितों में दोनों ही अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन हितों को ध्यान में रखा जाता है।

विदेश नीति का निर्धारण दो प्रकार के तत्वों - आन्तरिक एवं बाह्य - पर निर्भर करता है। आन्तरिक तत्वों में मुख्य रूप से भूगोल, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक प्रणाली, विरासतें, राजनैतिक नेत त्व, सैन्य क्षमता, मनोबल, जनमत आदि सम्मिलित

होते हैं। बाह्य निर्धारक तत्वों में अंतर्राष्ट्रीय संगठन, क्षेत्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय कानून, विश्वजनमत आदि की भूमिका प्रमुख होती है। विदेश नीति निर्माण प्रक्रिया में कार्यपालिका, विधानमण्डल, विदेश मंत्रालय, गुप्तचरी विभाग, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद्, जनमत आदि की विशिष्ट भूमिका होती है।

विदेशनीति अपने अल्पकालिक व दीर्घकालीन लक्ष्यों हेतु प्रयासरत रहती है। इसके लक्ष्यों में निम्न उद्देश्यों को मूल रूप से अहम् स्थान प्राप्त है - राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, अनुकूल विश्वव्यवस्था, सैन्य क्षमता का विकास, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा, विदेशों में बसे नागरिकों की सुरक्षा, धार्मिक व सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति आदि। इनकी प्राप्ति हेतु सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता है। मुख्य रूप से सन्धि, समझौतों, वार्ताओं, आर्थिक सहयोग, क्षेत्रीय संगठनों का गठन, दण्डात्मक राजनय, अनुनय तथा अन्ततः युद्ध आदि उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत गुंप्तचरी, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की मदद, विशेष धमकियों एवं चेतावनी आदि का प्रयोग भी किया जाता है। कई बार विदेश नीति उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु परमाणु, रसायन व जैविक हथियारों को राजनय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

विभिन्न राष्ट्रीय हितों के कारण सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती है। अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के अनुरूप ही उन्हें इस व्यवस्था का प्रयोग करना होता है। इसीलिए शायद राष्ट्र कई प्रकार की विदेश नीतियों का अनुसरण करते हैं। इनमें से प्रमुख विदेश नीतियों के स्वरूप हैं - अलगाववाद की नीति, गुटनिरपेक्षता की नीति, गठबन्धनों की नीति, प्रति गठबन्धनों की नीति, अधीनस्थता की नीति, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, तटस्थता की नीति, यथास्थिति की नीति, साम्राज्यवाद की नीति, राष्ट्रीय सार्वभौमिकता की नीति आदि। इस प्रकार राष्ट्रों के हितों, क्षमताओं, स्थिति, शक्ति समीकरणों, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति आदि को देखते हुए विदेश नीतियों के विभिन्न स्वरूप को देखा जा सकता है।

(ख) **राजनय-** राजनय भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण भाग है। यह राष्ट्रीय हितों की अभिव द्धि में सहायक होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी गतिशीलता पैदा करती है। विदेश नीति को व्यवहारिक रूप देने के कार्य भी राजनय द्वारा ही पूरा किया जाता है अतः इस द ष्टि से भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इसका महत्व बढ़ जाता है। परम्परागत राजनय का मुख्य कार्य राज्यों के साथ मैत्री स्थापित करके राष्ट्रीय हितों में की व द्धि करना है, परन्तु आधुनिक राजनय इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में भी कार्यरत होती है। इसीलिए कूटनीति की परिभाषाओं का सार यह है कि - अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की व्यवस्था; समझौतों, सन्धियों एवं वार्ता की कला; तथा, राष्ट्रीय हितों की अभिव द्धि के साधन के रूप में की जाती है।

राजनय के माध्यम से विदेश नीति के संचालन द्वारा यह निम्न प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति करने हेतु प्रयासरत रहती है। सबसे प्रथम अपने राज्य की सुरक्षा, अखण्डता व एकता बनाए रखना इसका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होता है। इस द ष्टि से इसका दूसरा कार्य मित्र राष्ट्रों से संबंध बनाना तथा विरोधी राष्ट्रों को तटस्थ करने के प्रयास करना। त तीय, अपने राज्य के आर्थिक व व्यापारिक हितों की रक्षा करना चाहे वे द्विपक्षीय, क्षेत्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर से सम्बन्धित हों। चतुर्थ, राष्ट्र के हितों के सुचारू संचालन हेतु सद्भावना पूर्ण संबंधों का होना भी अनिवार्य है। अतः राजनय के माध्यम से सभी राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के अनुसरण का प्रयास करते हैं। अन्ततः, कई बार अन्तिम विकल्प के रूप में युद्ध के संचालन का कार्य भी राजनय के माध्यम से पूरा करना पड़ता है। युद्ध के संचालन के साथ-साथ हार-जीत होने पर भी राजनय के माध्यम से ही सन्धि व समझौतों को अन्तिम रूप दिया जाता है।

परन्तु राजनय स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहे हैं। परम्परागत राजनय एवं वर्तमान राजनय के गुणात्मक रूप से परिवर्तन स्पष्ट रूप से झलकते हैं। परम्परागत राजनय मुख्य रूप से यूरोप केन्द्रित; बड़ी शक्तियों के वर्चस्व; महाशक्तियों के छोटे राष्ट्रागें के हस्तक्षेप; गुप्त सन्धियों, दरबारी राजनय आदि की विशेषताओं से पूर्ण था। परन्तु समसामयिक राजनय बिल्कुल इसका परिवर्तित रूप है। नवीन राजनय में मुख्यतया प्रजातान्त्रिक राजनय; व्यक्तिगत राजनय; सम्मेलनों की कूटनीति; शिखर कूटनीति; वाणिज्यिक राजनय; सांस्कृतिक राजनय; संसदात्मक राजनय; प्रचार राजनय आदि विशेषताओं पर आधारित है। अतः आधुनिक राजनय प्राचीन समय से क्षेत्र, विषय वस्तु, स्वरूप आदि में काफी हद तक बिल्कुल भिन्न है।

इस प्रकार आज राजनय की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका है। यह परस्पर राष्ट्रों के बीच सन्धि, समझौतों एवं मधुर संबंधों की स्थापना का महत्वपूर्ण माध्यम है। यह राजनैतिक परिस्थितियों का निरन्तर निरीक्षण करके राज्यों को इससे अवगत कराता है। यह विदेश में बसे अपने नागरिकों के अधिकारों व दायित्वों की रक्षा व उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। इसके साथ-साथ यह अपने राष्ट्र हितों को दूसरे शब्दों के समक्ष बड़ी सहजता एवं चतुराई से प्रस्तुत करने

में सक्षम है। अन्ततः अपनी नीतियों के प्रति दूसरे राष्ट्रों में सद्भावना उत्पन्न करने तथा उनसे सहयोग प्राप्ति हेतु भी यह सफल है।

राजनय की उपरोक्त भूमिका को कुछ सीमाओं के अंतर्गत रह कर कार्य करना पड़ता है। सर्वप्रथम, कई बार राष्ट्र किसी मुद्दे पर इतना कठोर रुख अपना लेते हैं कि राजनय बिल्कुल विफल हो जाता है। जब तक विवादास्पद राज्य थोड़ा नर्म रुख नहीं रखते राजनय की कार्य हेतु स्थान नहीं मिलता । भारत व पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्या इसका सटीक उदाहरण है। द्वितीय, कई बार शक्ति संबंधों पर आधारित रिश्तों में भी राजनय कुछ करने में सक्षम नहीं रहता। जैसे शीतयुद्ध काल में पूर्व सोवियत संघ व अमेरिका के संबंध रहे। त तीय, अंतर्राष्ट्रीय कानून भी एक सीमा के दायरे में राजनय के संचालन की इजाजत देते हैं। और यह सीमा होगी नैतिकता, औचित्यपूर्ण, न्यायसंगत आदि। चतुर्थ, कई बार जब राज्य मात्र सौदेबाजी पर उतर आयें तब भी राजनय की सफलता पर भी प्रश्नचिन्ह लगा रहता है। अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय जनमत के दबाव के कारण भी राजनय को उसके अनुरूप कार्य करना पड़ता है।

उपरोक्त के अतिरिक्त वर्तमान विश्व में हुए कई बदलावों ने भी राजनय प्रक्रिया को और कमजोर बना दिया है जिसे कुछ लोग इसकी अवनति का कारण मानते हैं। वर्तमान युग में संचार साधनों के विकास; शिखर सम्मेलनों की राजनय; राजनय के अवमूल्यन; अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये बदलाव; राजनेताओं द्वारा सीधे राजनयिक व्यवस्था में भाग लेने; अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने संसदीय प्रक्रियाओं के रूप में राजनय प्रक्रियाओं आदि ने समसामयिक समय में राजनय को काफी कमजोर कर दिया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनय बिल्कुल समाप्त हो गया है। अपितु विध्वंशक हथियारों की उत्पत्ति, भूमण्डलीकरण, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं आदि के कारण आज भी राजनय का महत्त्व बना हुआ है। इसके अतिरिक्त, जब तक राष्ट्रों के बीच संघर्ष रहेंगे राजनय शान्ति स्थापना का सबसे सस्ता साधन रहेगा तथा राज्यों के मध्य संघर्षो की पूर्ण समाप्ति असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य प्रतीत होती है।

(ग) **परस्पर संबंध-** अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति एवं राजनय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। इसी कारण से कई विद्वान तो इन दोनों अवधारणाओं को पर्यायवाची होने की संज्ञा भी देते हैं। परन्तु इतना तो सत्य है कि ये दोनों अवधारणायें समानार्थक नहीं हैं। हां इतना अवश्य है कि इन दोनों के सम्बन्धों में अति घनिष्ठता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इनके परस्पर सम्बन्धों का आवश्यक अध्ययन किया। गहन अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है कि निम्न कारणों से ये दोनों एक दूसरे के पूरक/सहायक हैं तथा घनिष्ठता का रिश्ता रखते हैं। प्रथम, विदेश नीति विभिन्न कारकों/निर्धारक तत्वों के आधार पर तय की जाती है, लेकिन उसका व्यावहारिक स्वरूप उसके लागू होने के बाद ही स्पष्ट हो पायेगा। विदेश नीति को लागू करने का कार्य राजनय के माध्यम से होता है अतः दोनों में घनिष्ठ संबंध होना अनिवार्य हो गया है। द्वितीय, विदेश नीति के प्रभावी होने के लिए शक्ति भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। किसी राज्य की आर्थिक, राजनैतिक या सैन्य क्षमता के आधार पर ही उसकी विदेश नीति निर्धारित होती है। परन्तु यह शक्ति केवल आन्तरिक ही नहीं बाह्य कारणों से भी बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार बाह्य तत्वों के आधार पर शक्ति को समर्पित करने का कार्य राजनय के माध्यम से ही करते हैं। त तीय, किसी राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में छवि केवल उचित विदेश नीति के निर्धारण मात्र से नहीं बनती, बल्कि उसकी इस छवि के पीछे राजनयिकों की मेहनत अति महत्वपूर्ण होती है। विद्वान राजनयिक अपने देश की अच्छी छवि बनाने में विदेश नीति निर्णयों को सुचारू रूप से कार्यान्वित करके बना सकते हैं। चतुर्थ, राजनय शुद्ध व शान्ति दोनों परिस्थितियों में कारगर सिद्ध होती है। राजनय के माध्यम से विदेश नीति के विभिन्न विकल्पों का उचित उपयोग करके युद्ध को टाला जा सकता है। शान्तिकालीन समय में भी परिस्थितियों से अत्यधिक लाभ कमाने हेतु राजनय को लचीला, तर्क संगत एवं अति जागरूक होना अनिवार्य है। पंचम, राष्ट्रों के परस्पर मधुर संबंधों का होना उनकी विदेश नीतियों के प्रारूप पर निर्भर करता है। परन्तु उतना ही महत्वपूर्ण है उन विदेश नीति संबंधों निर्णयों को लागू करने पर। अतः राष्ट्रों के मध्य मधुर संबंधों की स्थापना काफी हद तक राजनय पर निर्भर करती है। षष्ट, राजनय केवल निर्णयों को लागू करने की क्रिया मात्र नहीं है, बल्कि कई संदर्भो में विदेश नीति की समस्याओं का समाधान भी ढूंढता है। जबकि राजनयिक किसी मुद्दे पर विदेशों में बातचीत कर रहा होता है तो उसका उद्देश्य इसमें सफलता पाना है। यदि वह सफल होता है, तो इसका अर्थ है वह समस्या भी हल हो गई है। सप्तम्, राजनय का यह कार्य भी है कि विदेश नीति के संदर्भ में एकमत स्थापित करना। क्योंकि विदेश नीति को व्यवहारिकता प्रदान करने में राजनय विभिन्न असहमतियों को सहमतियों में बदलने की कोशिश करता है। अन्ततः, हम कह सकते हैं कि विदेशनीति की सफलता या असफलता काफी सीमा तक राजनय पर भी निर्भर करती है। शायद इन्हीं कारणों से हम कह सकते हैं कि दोनों में घनिष्ठ संबंध है। दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची न सही, परन्तु सहयोगी एवं पूरक आवश्यक हैं।

अध्याय-4
शीत-युद्ध और शीत युद्ध का अंत
(Cold-War and End of Cold-War)

शीत-युद्ध : उत्पत्ति और विकास
(Cold War : Origin and Evolution)

शीतयुद्ध की अवधारणा का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1945 में हुआ, यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक सच्चाई है जो अमेरिका तथा सोवियत संघ के पारस्परिक सम्बन्धों को उजागर करती है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक नया अध्याय है। इसे एक नया अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक विकास का नाम भी दिया जा सकता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य मित्रता का जो नया अध्याय शुरू हुआ था, वह युद्ध के बाद समाप्त हो गया, दोनों महाशक्तियों में पारस्परिक मतभेद और वैमनस्य की भावना और अधिक गहरी होती गई और दोनों एक दूसरे को नींचा दिखाने के प्रयास करने लग गए। इस प्रयास से दोनों देशों में कूटनीतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग की बजाय एक संघर्षपूर्ण स्थिति का जन्म हो गया। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर दोनों शक्तियां एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने नग गई। अंतर्राष्ट्रीय जगत में अपना-अपना वर्चस्व सिद्ध करने के प्रयास में दोनों महाशक्तियां विश्व के अधिकांश राज्यों को अपने-अपने पक्ष में लाने के लिए नए-नए तरीके तलाश करने लगी। इससे समूचे विश्व में अशांति का वातावरण बन गया और अन्त में विश्व को दो शक्तिशाली गुटों - पूंजीवादी गुट और साम्यवादी गुट में विभाजन हो गया जिसमें प्रथम का नेत त्व अमेरिका और दूसरे का नेत त्व सोवियत संघ करने लगा।

शीतयुद्ध का अर्थ
(Meaning of Cold-War)

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह अस्त्र-शस्त्रों का युद्ध न होकर धमकियों तक ही सीमित युद्ध है। इस युद्ध में कोई वास्तविक युद्ध नहीं लगा गया। यह केवल परोक्ष युद्ध तक ही सीमित रहा। इस युद्ध में दोनों महाशक्तियां अपने वैचारिक मतभेद ही प्रमुख रहे। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध था जो महाशक्तियों के संकीर्ण स्वार्थ सिद्धियों के प्रयासों पर ही आधारित रहा।

"शीत युद्ध एक प्रकार का वाक् युद्ध था जो कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं; रेडियो तथा प्रचार साधनों तक ही लड़ा गया।" इस युद्ध में न तो कोई गोली चली और न कोई घायल हुआ। इसमें दोनों महाशक्तियों ने अपना सर्वस्व कायम रखने के लिए विश्व के अधिकांश हिस्सों में परोक्ष युद्ध लड़े। युद्ध को शस्त्रयुद्ध में बदलने से रोकने के सभी उपायों का भी प्रयोग किया गया, यह केवल कूटनीतिक उपयों द्वारा लगा जाने वाला युद्ध था जिसमें दोनों महाशक्तियां एक दूसरे को नीचा दिखाने के सभी उपायों का सहारा लेती रही। इस युद्ध का उद्देश्य अपने-अपने गुटों में मित्र राष्ट्रों को शामिल करके अपनी स्थिति मजबूत बनाना था ताकि भविष्य में प्रत्येक अपने अपने विरोधी गुट की चालों को आसानी से काट सके। यह युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सावियत संघ के मध्य पैदा हुआ अविश्वास व शंका की अन्तिम परिणति था।

के.पी.एस. मैनन के अनुसार - "शीत युद्ध दो विरोधी विचारधाराओं - पूंजीवाद और साम्राज्यवाद (Capitalism and Communism), दो व्यवस्थाओं - बुर्जुआ लोकतन्त्र तथा सर्वहारा तानाशाही (Bourgeoise Democracy and Proletarian

Dictatorship), दो गुटों - नाटो और वार्सा समझौता, दो राज्यों - अमेरिका और सोवियत संघ तथा दो नेताओं - जॉन फॉस्टर इल्लास तथा स्टालिन के बीच युद्ध था जिसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ा।"

जवाहर लाल नेहरू ने शीत युद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है कि "यह युद्ध निलम्बित म त्युदंड के वातावरण का युद्ध था जो गरम युद्ध से भी अधिक भयानक था।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध दो महाशक्तियों के मध्य एक वाक् युद्ध था जो कूटनीतिक उपायों पर आधारित था। यह दोनों महाशक्तियों के मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न तनाव की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति था। यह वैचारिक युद्ध होने के कारण वास्तविक युद्ध से भी अधिक भयानक था।

शीतयुद्ध की उत्पत्ति

(Origin of Cold War)

शीतयुद्ध के लक्षण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही प्रकट होने लगे थे। दोनों महाशक्तियां अपने-अपने संकीर्ण स्वार्थों को ही ध्यान में रखकर युद्ध लड़ रही थी और परस्पर सहयोग की भावना का दिखावा कर रही थी। जो सहयोग की भावना युद्ध के दौरान दिखाई दे रही थी, वह युद्ध के बाद समाप्त होने लगी थी और शीतयुद्ध के लक्षण स्पष्ट तौर पर उभरने लग गए थे, दोनों गुटों में ही एक दूसरे की शिकायत करने की भावना बलवती हो गई थी। इन शिकायतों के कुछ सुद ढ़ आधार थे। ये पारस्परिक मतभेद ही शीतयुद्ध के प्रमुख कारण थे, शीतयुद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं -

1. **सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते का पालन न किया जाना-** याल्टा सम्मेलन 1945 में रूजवेल्ट, चर्चित और स्टालिन के बीच में हुआ था, इस सम्मेलन में पोलैंड में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था को मान्यता देने की बात पर सहमति हुई थी। लेकिन युद्ध की समाप्ति के समय स्टालिन ने वायदे से मुकरते हुए वहां पर अपनी लुबनिन सरकार को ही सहायता देना शुरू कर दिया। उसने वहां पर अमेरिका तथा ब्रिटेन के पर्यवेक्षकों को प्रवेश की अनुमति देने से इंकार कर दिया और पोलैंड की जनवादी नेताओं को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया। उसने समझौते की शर्तो के विपरीत हंगरी, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा बुल्गारिया में भी अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया, उसने धुरी शक्तियों के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों की मदद करने में भी हिचकिचाहट दिखाई। उसने चीन के साम्यवादी दल को भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुंचाने का प्रयास किया। उसने मंचूरिया संकट के समय अपना समझौता विरोधी रुख प्रकट किया। इस तरह याल्टा समझौते के विपरीत कार्य करके सोवियत संघ ने आपसी अविश्वास व वैमनस्य की भावना को ही जन्म दिया जो आगे चलकर शीत युद्ध का आधार बनी।
2. **सोवियत संघ और अमेरिका के वैचारिक मतभेद-** युद्ध के समय ही इन दोनों महाशक्तियों में वैचारिक मतभेद उभरने लगे थे। सोवियत संघ साम्राज्यवाद को बढ़ावा देना चाहता था जबकि अमेरिका पूंजीवाद का प्रबल समर्थक था, सोवियत संघ ने समाजवादी आन्दोलनों को बढ़ावा देने की जो नीति अपनाई उसने अमेरिका के मन में अविश्वास की भावना को जन्म दे दिया। सोवियत संघ ने अपनी इस नीति को न्यायपूर्ण और आवश्यक बताया। इससे पूंजीवाद को गहरा आघात पहुंचाया और अनेक पूंजीवादी राष्ट्र अमेरिका के पक्ष में होकर सोवियत संघ की समाजवादी नीतियों की निंदा करने लगे। इस प्रकार पूंजीवाद बनाम समाजवादी विचारधारा में तालमेल के अभाव के कारण दोनों महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध का जन्म हुआ।
3. **सोवियत संघ का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरना-** सोवियत संघ ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही अपने राष्ट्रीय हितों में व द्धि करने के लिए प्रयास शुरू कर दिये थे। 1917 की समाजवादी क्रान्ति का प्रभाव दूसरे राष्ट्रों पर भी पड़ने की सम्भावना बढ़ गई थी। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान उसके शक्ति प्रदर्शन ने पश्चिमी राष्ट्रों के मन में ईर्ष्या की भावना पैदा कर दी थी और पश्चिमी शक्तियों को भय लगने लगा था कि सोवियत संघ इसी ताकत के बल पर पूरे विश्व में अपना साम्यवादी कार्यक्रम फैलाने का प्रयास करेगा। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तो वे चुप रहे लेकिन युद्ध के बाद उन्होंने सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति पर चिन्ता जताई। उन्होंने सोवियत संघ विरोधी नीतियां अमल में लानी शुरू कर दी। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों को सोवियत संघ के विरुद्ध एकजुट करने के प्रयास तेज कर दिए। इससे शीत-युद्ध को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था।

4. **ईरान में सोवियत हस्तक्षेप-** सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद 6 महीने के अन्दर ही ईरान से अपनी सेनाएं वापिस बुलाने का समझौता किया था। युद्ध की समाप्ति पर पश्चिमी राष्ट्रों ने तो वायदे के मुताबिक दक्षिणी ईरान से अपनी सेनाएं हटाने का वायदा पूरा कर दिया लेकिन सोवियत संघ ने ऐसा नहीं किया। उसने ईरान पर दबाव बनाकर उसके साथ एक दीर्घकालीन तेल समझौता कर लिया। इससे पश्चिमी राष्ट्रों के मन में द्वेष की भावना पैदा हो गई। बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव पर ही उसने उत्तरी ईरान से सेनाएं हटाई। सोवियत संघ की इस समझौता विरोधी नीति ने शीत युद्ध को जन्म दिया।

5. **टर्की में सोवियत हस्तक्षेप-** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ ने टर्की में अपना दबाव बनाना आरम्भ कर दिया। उसने टर्की पर कुछ प्रदेश और वास्फोरस में एक सैनिक अड्डा बनाने के लिए दबाव डाला। अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। इस दौरान अमेरिका ने ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Theory) का प्रतिपादन करके टर्की को हर सम्भव सहायता देने का प्रयास किया ताकि वहां पर साम्यवादी प्रभाव को कम किया जा सके। इन परस्पर विरोधी कार्यवाहियों ने शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।

6. **यूनान में साम्यवादी प्रसार-** 1944 के समझौते के तहत यूनान पर ब्रिटेन का अधिकार उचित ठहराया गया था। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपने आर्थिक विकास के द ष्टिगत वहां से अपने सैनिक ठिकाने वापिस हटा लिये। सोवियत संघ ने यूनान में ग हयुद्ध छिड़ने पर वहां के साम्यवादियों मी मदद करनी शुरू कर दी। पश्चिमी शक्तियों परम्परागत सरकार का समर्थन करने के लिए आगे आई। अमेरिका ने मार्शल योजना और ट्रूमैन सिद्धान्त के तहत यूनान में अपनी पूरी ताकत लगा दी। इससे साम्यवादी कार्यक्रम को यूनान में गहरा धक्का लगा और सोवियत संघ का सपना चकनाचूर हो गया अतः इस वातावरण में शीतयुद्ध को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था।

7. **द्वितीय मोर्चे सम्बन्धी विवाद-** द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर के नेत त्व में जब जर्मन सेनाएं तेजी से सोवियत संघ की तरफ बढ़ रही थी तो सोवियत संघ ने अपनी भारी जान-माल के नुकसान को रोकने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से सहायता की मांग की। सोवियत संघ ने कहा कि पश्चिमी शक्तियों को जर्मनी का वेग कम करने के लिए सोवियत संघ में जल्दी ही दूसरा मोर्चा खोला चाहिए ताकि रूसी सेना पर जर्मनी का दबाव कम हो सके। लेकिन पश्चिमी शक्तियों ने जान बूझकर दूसरा मोर्चा खोलने में बहुत देर की। इससे जर्मन सेनाओं को रूस में भयानक तबाही करने का मौका मिल गया। इससे सोवियत संघ के मन पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध नफरत की भावना पैदा हो गई जो आगे चलकर शीत-युद्ध के रूप में प्रकट हुई।

8. **तुष्टिकरण की नीति**- द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान पश्चिमी शक्तियों ने धुरी शक्तियों (जापान, जर्मनी व इटली) के आक्रमणों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की रक्षा करने की बजाय तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उन्होंने जानबूझकर अपने मित्र राष्ट्रों को सहायता नहीं पहुंचाई और अपने मित्र राष्ट्रों को धुरी शक्तियों के हाथों पराजित और अपने मित्र राष्ट्रों को धुरी शक्तियों के हाथों पराजित होने देने के लिए बाध्य किया। इससे युद्ध पूर्व किए गए सन्धियों व समझौतों के प्रति अनेक मन में अविश्वास की भावना पैदा हुई जिससे आगे चलकर शीत युद्ध के रूप में परिणति हुई।

9. **सोवियत संघ द्वारा बाल्कान समझौते की उपेक्षा-** बाल्कान समझौते के तहत 1944 में पूर्वी यूरोप का विभाजन करने पर सोवियत संघ तथा ब्रिटेन में सहमति हुई थी। इसके तहत बुल्गारिया तथा रूमानिया पर सोवियत संघ का तथा यूनान पर ब्रिटेन का प्रभाव स्वीकार करने पर सहमति हुई थी। हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव मानने की बात कही गई थी। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ ने ब्रिटेन के प्रभाव की अपेक्षा करके अपने साम्यवादी प्रसार को तेज कर दिया और उन देशों में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करा दी। इससे पश्चिमी राष्ट्रों ने गैर-समझौतावादी कार्य कहा। इससे सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों में दूरियां बढ़ने लगी और शीत युद्ध का वातावरण तैयार हो गया।

10. **अमेरिका का परमाणु कार्यक्रम-** द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका ने गुप्त तरीके से अपना परमाणु कार्यक्रम विकसित किया और सोवियत संघ की सहमति के बिना ही उसने जापान के दो शहरों पर परमाणु बम गिरा दिए। अमेरिका ने अपनी युद्ध तकनीक की जानकारी सोवियत संघ को न देकर एक अविश्वास की भावना को जन्म दिया। इससे सोवियत संघ व पश्चिमी शक्तियों के बीच सहयोग के कार्यक्रमों को गहरा आघात पहुंचा। सोवियत संघ अमेरिका के परमाणु

कार्यक्रम पर एकाधिकार को सहन नहीं कर सकता था। इससे उसके मन में यह शंका पैदा हो गई कि पश्चिमी राष्ट्रों को उससे घ णा है। इसी भावना ने शीतयुद्ध को जन्म दिया।

11. **परस्पर विरोधी प्रचार-** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों महाशक्तियों एक दूसरे के खिलाफ प्रचार अभियान में जुट गई। 1946 में सोवियत रूस ने 'कैनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। इससे सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों में सोवियत संघ के साम्यवादी प्रचार की जोरदार निन्दा हुई। इससे सोवियत संघ भी सतर्क हो गया और उसने अमेरिका की जोरदार आलोचना करना शुरू कर दिया, मुनरो सिद्धान्त इसका स्पष्ट उदाहरण है जिसमें साम्यवादी ताकतों को पश्चिमी गोलार्द्ध में अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रति सचेत रहने को कहा गया। इसी तरह ट्रूमैन सिद्धान्त तथा अमेरिकन सीनेट द्वारा खुले रूप में सोवियत विदेश नीति की आलोचना की जाने लगी। इसके बाद सोवियत संघ ने अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध साम्यवादी ताकतों को इकट्ठा करने के लिए जोरदार प्रचार अभियान चलाया। इस प्रचार अभियान ने परस्पर वैमनस्य की शंका की भावना को जन्म दिया जो आगे चलकर शीतयुद्ध के रूप में दुनिया के सामने आया।

12. **लैंड-लीज समझौते का समापन-** द्वितीय विश्व के दौरान अमेरिका तथा सोवियत संघ में जो समझौता हुआ था उसके तहत सोवियत संघ को जो, अपर्याप्त सहायता मिल रही थी, पर भी अमेरिका ने किसी पूर्व सूचना के बिना ही बन्द कर दी। इस निर्णय से सोवियत संघ का नाराज होना स्वाभाविक ही था। सोवियत संघ ने इसे अमेरिका की सोची समझी चाल मानकर उसके विरुद्ध अपना रवैया कड़ा कर दिया। इससे दोनो महाशक्तियों में आपसी अविश्वास की भावना अधिक बलवती हुई और इससे शीतयुद्ध का वातावरण तैयार हो गया।

13. **फासीवादी ताकतों को अमेरिकन सहयोग-** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही अमरिका तथा अन्य पश्चिमी देश इटली से अपने सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयास करने लग गए। इससे सोवियत संघ को शक हुआ कि इटली में फासीवाद को बढ़ावा देने तथा साम्यवाद को कमजोर करने में इन्हीं ताकतों का हाथ है। इससे सोवियत संघ को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी भूमिका सिमटती नजर आई। इस सोच ने दोनों के मध्य दूरियां बढ़ा दी।

14. **बर्लिन विवाद-** द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही सोवियत संघ का पूर्वी बर्लिन पर तथा अमेरिका तथा ब्रिटेन का पश्चिमी बर्लिन पर अधिकार हो गया था। युद्ध के बाद पश्चिमी ताकतों ने अपने श्रेत्राधिन बर्लिन प्रदेश में नई मुद्रा का प्रचलन शुरू करने का फैसला किया । इस फैसलें के विरुद्ध जून 1948 में बर्लिन की नाकेबन्दी सोवियत संघ ने कर दी। इसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ व अमेरिका या ब्रिटेन के बीच हुए प्रोटोकोल का उल्लंघन हो गया। इसके लिए सोवियत संघ को पूर्ण रूप से दोषी माना गया। सोवियत संघ अपना दोष स्वीकार करने को तैयार नही था। इससे मामला सुरक्षा परिषद् में पहुंच गया और दोनों महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध के बादल मंडराने लग गए।

15. **सोवियत संघ द्वारा वीटो पावर का बार बार प्रयोग किया जाना-** द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इस संस्था में पांच देशों को वीटो पावर प्राप्त हुई। सोवियत संघ ने बार-बार अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके पश्चिमी राष्ट्रों के प्रत्येक सुझाव को मानने से इंकार कर दिया, इस तरह अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में लाए गए प्रत्येक प्रस्ताव को हार का सामना करना पड़ा। इससे अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ की आलोचना करने लगे और उनसे परस्पर तनाव का माहौल पैदा हो गया जिसने शीत युद्ध को जन्म दिया।

16. **संकीर्ण राष्ट्रवाद पर आधारित संकीर्ण राष्ट्रीय हित-** द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका तथा सोवियत संघ अपने अपने स्वार्थो को साधने में लग गए। वे लगातार एक दूसरे के हितों की अनदेखी करते रहे। इससे शक्ति राजनीति का जन्म हुआ। इससे प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे का शत्रु बन गया। दोनों महाशक्तियां अपना अपना प्रभुत्व बढ़ाने के प्रयास में अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का अखाड़ा बन गई। उनके स्वार्थमयी हितों ने धीरे धीरे पूरे विश्व में तनाव का वातावरण पैदा कर दिया।

शीत युद्ध का विकास

(Development of Cold War)

शीत युद्ध का विकास धीरे धीरे हुआ। इसके लक्षण 1917 में ही प्रकट होने लगे थे जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्पष्ट तौर पर उभरकर विश्व रंगमंच पर आए। इसको बढ़ावा देने में दोनों शक्तियों के बीच व्याप्त परस्पर भय और विश्वास की भावना

ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दोनों महाशक्तियों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध चली गई चालों ने इस शीतयुद्ध को सबल आधार प्रदान किया और अन्त में दोनों महाशक्तियां खुलकर एक दूसरे की आलोचना करने लगी और समस्त विश्व में भय व अशान्ति का वातावरण तैयार कर दिया, इसके बढ़ावा देने में दोनों महाशक्तियां बराबर की भागीदार रही। इसके विकास क्रम को निम्नलिखित चरणों में समझा जा सकता है-

(क) **शीत युद्ध के विकास का प्रथम चरण (1946 से 1953)** - इस समय के दौरान शीतयुद्ध का असली रूप उभरा। अमेरिका व सोवियत संघ के मतभेद खुलकर सामने आए। इस काल में शीत युद्ध को बढ़ाने देने वाली प्रमुख घटनाएं निम्नलिखित हैं-

1. 1946 में चर्चिल ने सोवियत संघ के साम्यवाद की आलोचना की। उसने अमेरिका के फुल्टन नामक स्थान पर आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन को मजबूत बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसमें सोवियत संघ विरोधी भावना स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आई। अमेरिकन सीनेट ने भी सोवियत संघ की विदेश नीति को आक्रामक व विस्तावादी बनाया गया। इससे शीत युद्ध को बढ़ावा मिला।
2. मार्च 1947 में ट्रूमैन सिद्धान्त द्वारा साम्यवादी प्रसार रोकने की बात कही गई। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व के किसी भी भाग में अमेरिका हस्तक्षेप को उचित ठहराया गया। यूनान, टर्की तथा यूनान में अमेरिका द्वारा हस्तक्षेप करके सोवियत संघ के प्रभाव को कम करने की बात स्वीकार की गई। अमेरिका ने आर्थिक सहायता के नाम पर हस्तक्षेप करने की चाल चलकर शीतयुद्ध को भड़काया और विश्व शांति को भंग कर दिया।
3. 23 अप्रैल 1947 को अमेरिका द्वारा प्रतिपादित मार्शल योजना ने भी सोवियत संघ के मन में अविश्वास व वैमनस्य की भावना को बढ़ावा दिया। इस योजना के अुनसार पश्चिमी यूरोपीय देशों को 12 अरब डालर की आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम स्वीकार किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य पश्चिमी यूरोपीय देशों में साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। इस योजना का लाभ उठाने वाले देशें पर यह शर्त लगाई गई कि वे अपनी शासन व्यवस्था से साम्यवादियों को दूर रखेंगे। इससे सोवियत संघ के मन में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति घ णा का भाव पैदा हो गया और शीत युद्ध को बढ़ावा मिला।
4. सोवियत संघ ने 1948 में बर्लिन की नाकेबन्दी करके शीत युद्ध को और अधिक भड़का दिया। अमेरिका ने इसका सख्त विरोध करके उसके इरादों को नाकाम कर दिया और वह भी वहां अपना सैनिक वर्चस्व बढ़ाने की तैयारी में जुट गया। इस प्रतिस्पर्धा से शीत युद्ध का माहौल विकसित हुआ।
5. जर्मनी के विभाजन ने भी दोनों महाशक्तियों में विरोध की प्रव ति को जनम दिया, जर्मनी का बंटवारा इसलिए हुआ था कि दोनों शक्तियां अपने-अपने क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ा सकें। लेकिन अमेरिका की मार्शल योजना तथा सोवियत संघ की 'कोमिकान' की नीति ने यूरोप को सोवियत संघ तथा अमेरिका के मध्य शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।
6. 1949 में अमेरिका ने अपने मित्र राष्ट्रों के सहयोग से नाटो (NATO) जैसे सैनिक संघ का निर्माण किया। इसका उद्देश्य उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने के लिए किसी भी बाहरी खतरे से कारगर ढंग से निपटना था। इस सन्धि में सोवियत संघ को सीधी चेतावनी दी गई कि यदि उसने किसी भी सन्धि में शामिल देश पर आक्रमण किया तो उसके भयंकर परिणाम होंगे। इससे अमेरिका और सोवियत संघ के बीच मतभेद और अधिक गहरे होते गए।
7. अक्तूबर 1940 में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना होने से अमेरिका का विरोध अधिक प्रखर हो गया। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन की सदस्यता को चुनौती दी। इससे सोवियत संघ और अमेरिका में शीत युद्ध का वातावरण और अधिक सबल होने लग गया।
8. 1950 में कोरिया संकट ने भी अमेरिका और सोवियत संघ में शीत युद्ध में व द्धि की। इस युद्ध में उत्तरी कोरिया को सोवियत संघ तथा दक्षिणी कोरियों को अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन व सहयोग प्राप्त था, दोनों महाशक्तियों ने परस्पर विरोधी व्यवहार का प्रदर्शन करके शीतयुद्ध को वातावरण में और अधिक गर्मी पैदा कर दी। कोरिया युद्ध का तो हल हो गया लेकिन दोनों महाशक्तियों में आपसी टकराहट की स्थिति कायम रही।

9. 1951 में जब कोरिया युद्ध चल ही रहा था, उसी समय अमेरिका ने अपने मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर जापान से शान्ति सन्धि की और सन्धि को कार्यरूप देने के लिए सान फ्रांसिस्को नगर में एक सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय किया, सोवियत संघ ने इसका कड़ा विरोध किया। अमेरिका ने इसी वर्ष जापान के साथ एक प्रतिरक्षा सन्धि करके विरोध की खाई को और अधिक गहरा कर दिया। अमेरिका की इन कार्यवाहियों ने सोवियत संघ के मन में द्वेष की भावना को बढ़ावा दिया इन सन्धियों को सोवियत संघ ने साम्यवाद के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा माना और उसकी निन्दा की।

(ख) **शीत युद्ध के विस्तार का दूसरा चरण (1953 - 1963)-** इस समय में दोनों महाशक्तियों के व्यवहार में कुछ बदलाव आने की सम्भावना दिखाई देने लगी। इस युग में दोनों देशों के नेत त्व में परिवर्तन हुआ। सोवियत संघ में स्तालिन की म त्यु के बाद खुश्चेव ने शासन सम्भाला और अमेरिका में राष्ट्रपति आइजन हावर ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। सोवियत संघ की तरफ से दोनों देशों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास अवश्य हुए लेकिन उनका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला और अमेरिका तथा सोवियत संघ में शीत युद्ध का तनाव जारी रहा। इस दौरान कुछ घटनाएं घटी जिन्होंने शीत युद्ध को बढ़ावा दिया।

1. 1953 में सोवियत संघ ने प्रथम आणविक परीक्षण किया, इससे अमेरिका के मन में सोवियत संघ के इरादों के प्रति शक पैदा हो गया।

2. 1953 में चर्चिल ने अमेरिका से कहा कि दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए नाटो जैसे संघ का निर्माण किया जाए। उसके सुझाव को मानकर अमेरिका ने कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस में साम्यवादी प्रसार रोकने के उद्देश्य से 8 सितम्बर, 1954 को सीटो (SEATO) का निर्माण किया। उधर सोवियत संघ ने वार्सा पैक्ट की तैयारी कर ली। वार्सा संगठन के निर्माण का उद्देश्य पूंजीवादी ताकतों के आक्रमणों को रोकना था। इस तरह परस्पर विरोधी गुटों की स्थापना द्वारा शीत युद्ध को और अधिक भड़काया गया।

3. हिन्द चीन की समस्या ने भी दोनों महाशक्तियों के मध्य मतभेदों को और अधिक गहरा कर दिया। 1954 में हिन्द-चीन में ग ह युद्ध आरम्भ हो गया। यह क्षेत्र फ्रांस का उपनिवेश था। सोवियत संघ ने होचिन मिन की सेनाओं की मदद की और अमेरिका ने फ्रांसीसी सेनाओं का समर्थन किया। हिन्द-चीन की समस्या को सुलझाने के लिए जेनेवा समझौता हुआ लेकिन कुछ समय बाद ही वियतनाम में ग ह-युद्ध शुरू हो गया। सोवियत संघ ने अमेरिका की इस युद्ध में भूमिका की निन्दा की। उसने अमेरिका के वियतनाम में अनुचित हस्तक्षेप के विरुद्ध आवाज उठाई। इस तरह वियतनाम युद्ध अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का प्रमुख कारण बन गया।

4. 1956 में हंगरी में सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने भी शीत युद्ध को और अधिक भड़काया।

5. 1956 में ही स्वेज नहर संकट ने दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव में व द्धि की। सोवियत संघ ने इस संकट में मिस्र का साथ दिया और अमेरिका को धमकी दी कि यदि ब्रिटेन फ्रांस तथा इज़ाइल का प्रयोग शुरू कर देगा। स्वेज नहर संकट का तो समाधान हो गया लेकिन दोनों महाशक्तियों में तनाव ज्यों का त्यों बना रहा।

6. जून 1957 में आईज़नहावर सिद्धान्त के अंतर्गत अमेरिका की कांग्रेस ने राष्ट्रपति को साम्यवाद के खतरों का सामना करने के लिए सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग करने का अधिकार प्रदान करके पश्चिमी एशिया को शीत युद्ध का अखाड़ा बना दिया।

7. शीतयुद्ध के तनाव को कम करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने सोवियत संघ की यात्रा करने का निर्णय किया। लेकिन यात्र से एक दिन पूर्व ही 1 मई 1960 को अमेरिका का जासूसी विमान U-2 (यू-2) सोवियत सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। विमान चालक ने यह स्वीकार किया कि उसे सोवियत संघ में सैनिक ठिकानों की जासूसी करने के लिए भेजा गया है। इसे सोवियत संघ ने गंभीरता से लिया और अमेरिका से अपनी गलती स्वीकार करने को कहा। लेकिन अमेरिका ने अपनी गलती न मानकर शीत युद्ध को और अधिक बढ़ावा दिया।

8. 16 मई 1960 में पेरिस सम्मेलन में सोवियत राष्ट्रपति खुश्चेव ने U-2 की घटना को दोहराया और कहा कि भविष्य में अमेरिकी राष्ट्रपति को सोवियत संघ न आने की चेतावनी भी थी। सम्मेलन के दूसरे सत्र का भी सोवियत संघ

ने बहिष्कार करके अपनी नाराजगी जाहिर कर दी। इस तरह अमेरिका और सोवियत संघ में तनाव पहले जैसा ही बना रहा।

9. जून 1961 में ख्रुश्चेव द्वारा पूर्वी जर्मनी के साथ एक प थक संधि पर हस्ताक्षर करने की धमकी ने भी शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया।

10. अगस्त 1961 में बर्लिन शहर में सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों के क्षेत्र को अलग करने के लिए दीवार बनानी शुरू कर दी। इसका अमेरिका ने कड़ा विरोध किया। दोनों ने अपनी अपनी सेनाएं युद्ध के लिए एकत्रित करनी आरम्भ कर दी। लेकिन बड़ी मुश्किल से शीतयुद्ध गर्म युद्ध में परिवर्तित होते होते रह गया। लेकिन दोनों के बीच तनाव बरकरार रहा।

11. 1962 में क्यूबा में सोवियत संघ ने अपने सैनिक अड्डे की स्थापना कर दी। इसका अमेरिका के राष्ट्रपति कनैडी ने कड़ा विरोध किया। इस अड्डे की स्थापना को सीधे तौर पर अमेरिका को कमजोर करने वाली कार्यवाही कहा जा सकता है। अमेरिका ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी ताकि क्यूबा में सोवियत सैनिक सहायता न पहुंच सके। विवाद को ज्यादा बढ़ता देख सोवियत संघ ने अपने कदम पीछे हटा लिए और भयंकर विवाद को सुलझा लिया। लेकिन दोनों महाशक्तियों के मन का मैल नहीं साफ हुआ और शीतयुद्ध का वातावरण पहले जैसा ही रहा।

इस प्रकार इस युग में शीत युद्ध को बढ़ावा देने वाली कार्यवाहियां दोनों तरफ से हुई। लेकिन दोनों महाशक्तियों ने शीत युद्ध के तनाव को कम करने की दिशा में भी कुछ प्रयास किए। ख्रुस्टोव ने दोनों देशों के मध्य सम्बन्ध मधुर बनाने और तनाव कम करने के लिए 15 सितम्बर से 28 सितम्बर 1959 तक अमेरिका की यात्रा की। 5 सितम्बर 1963 को अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच 'मास्को पार्शियल टैस्ट बैन सन्धि' (Moscow Partial Test Ban Treaty) हुई। इससे शीत युद्ध को समाप्त करने का सकारात्मक कदम कहा गया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने भी इस दौरान शीत युद्ध को कम करने का प्रयास किया लेकिन इन सभी प्रयासों के परिणाम नकारात्मक ही रहे और दोनों महाशक्तियों में तनाव बना रहा।

(ग) शीत युद्ध के विकास का तीसरा चरण - 1963 से 1979 तक (दितान्त अथवा तनाव शैथिल्य का काल)

1962 में क्यूबा संकट के बाद शीत युद्ध के वातावरण में कुछ नरमी आई और दोनों गुटों के मध्य व्याप्त तनाव की भावना सौहार्दपूर्ण व मित्रता की भावना में बदलने के आसार दिखाई देने लग गए। इससे दोनों देशों के मध्य मधुर सम्बन्धों की शुरुआत होने के लक्षण प्रकट होने लगे। इस नरमी या तनाव में कमी को दितान्त या तनाव - शैथिल्य (Detente) की संज्ञा दी जाती है।

दितान्त अथवा तनाव शैथिल्य (Detente)

क्यूबा संकट के बाद दोनों महाशक्तियों के व्यवहार में आए परितर्वनों को दितान्त का नाम दिया जाात है। ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी मे ंदो राज्यों के तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति को दितान्त कहा गया है। इसे शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व भी कहा जा सकता है। दितान्त फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है - तनाव में शिथिलता (Relaxation of Tensions)। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रायः इसका प्रयोग अमेरिका और सोवियत संघ के बीच द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्याप्त तनाव में कमी और उनमें बढ़ने वाली सहयोग व शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना के लिए किया जाता है।

तनाव शैथिल्य अथवा दितान्त के कारण (Causes of Detente)

अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्याप्त तनाव या शीत युद्ध में आई कमी के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

1. **आर्थिक विकास (Economic Development)** क्यूबा मिसाइल संकट ने दोनों को सबक दिया कि वे परस्पर उलझकर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को पतन की ओर धकेल रही हैं। सोवियत संघ ने इस बात को समझते हुए उसने आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति पर जोर दिया।

2. **परमाणु युद्ध की भयावहता** (Fear of Nuclear War) परमाणु अस्त्रों की भयानकता ने दोनों महाशक्तियों को चेता दिया कि ये युद्ध भयंकर परिणाम वाले होंगे और दोनों देशों के जान माल को बहुत ज्यादा नष्ट कर देंगे। इस भय के कारण दोनों महाशक्तियां शान्ति की दिशा में पहल करने लग गई।

3. **कच्चे माल की आवश्यकता** (Necessity of Raw Material)- अमेरिका ने यह महसूस किया कि उसके उद्योगों के लिए कच्चा माल सोवियत संघ से प्राप्त किया जा सकता है। उसकी अर्थव्यवस्था का विकास कच्चे माल पर ही निर्भर है। सोवियत संघ से व्यापारिक संबंध बढ़ाने से ही कच्चा माल प्रापत किया जा सकता है और लाभ उठाया जा सकता है। इसी कारण से अमेरिका ने टकराव का रास्ता छोड़ने की बात अपना ली।

4. **स्थायी शान्ति का विचार** (Idea of Permanent Peace)- दोनों महाशक्तियां लम्बे समय से एक दूसरे के साथ तनाव को बढ़ा रही थी। इस तनाव के चलने न तो उनके राष्ट्रीय हितों में व द्धि सम्भव थी और न ही स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है। स्थायी शान्ति के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं था। इसलिए दोनों शक्तियां परस्पर भेदभाव भूलकर सहयोग का रास्ता अपनाने को सहमत हो गई।

5. **राष्ट्रीय हितों में व द्धि** (Promotion of National Interests)-'दोनों महाशक्तियों ने अनुभव किया कि लोक कल्याण को बढ़ावा देने, गरीबी निवारण, लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए परस्पर तकनीकी सहयोग द्वारा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। तनाव या युद्ध किसी भी अवस्था में राष्ट्रीय हितों का संवर्धन नहीं कर सकते। इसे तो शान्ति के वातावरण में ही विकसित किया जा सकता है।

6. **वास्तविक युद्ध या गर्म युद्ध का भय** (Fear of Hot War)- शीत युद्ध का वातावरण कभी भी गर्म युद्ध का रूप ले सकता था। इस भय ने दोनों महाशक्तियों को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनाने के लिए बाध्य कर दिया।

7. **साम्यवादी गुटबंदी का ढीलापन** (Looseness in Communist Block)- चीन तथा सोवियत संघ में भी परस्पर मतभेद पैदा हो गए। सोवियत संघ ने महसूस किया कि चीन का मुकाबला करने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से मित्रता करना जरूरी है। इसलिए सोवियत संघ ने अमेरिका विरोधी रुख छोड़ दिया और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने लग गया।

8. **गुट निरपेक्ष देशों की भूमिका** (Role of Non Aligned Countries)- गुटनिरपेक्ष देशों नें दोनों देशों को शीतयुद्ध से बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया। दोनों महाशक्तियों के साथ शामिल देश एक एक करके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य बनने लग गए। इससे दोनों गुटों को विश्व राजनीति में अपनी पकड़ ढीली होती नजर आई। इससे वे अपना पुराना रास्ता छोड़कर यथार्थ दुनिया में कदम रखने को तैयार हो गए। उन्होंने गुट निरपेक्ष देशों की भूमिका को प्रशंसा करनी शुरू कर दी। इससे दोनों में व्याप्त तनाव कम होने लगा।

9. **बहुकेन्द्रवाद का जन्म-** 1963 के बाद ब्रिटेन, फ्रांस और चीन परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बन गए। जापान, जर्मनी, भारत जैसी शक्तियां भी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र में उभरने लगे। 1975 में भारत ने भी परमाणु शक्ति हासिल करके दोनों महाशक्तियों को अपनी उपस्थिति का अहसास करा दिया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का द्विध्रुवीकरण (Bipolarity) अब बहुकेन्द्रवाद (Poly-Centrism) में बदलने लगा। इससे विश्व राजनीति का दो गुटों में विभाजन का विचार भंग होने लगा। ऐसे में दोनों गुटों ने टकराव का रास्ता छोड़कर अपने आप को अंतर्राष्ट्रीय जगत में नई भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया।

   इस प्रकार दोनों देशों के मध्य व्याप्त शीत युद्ध धीरे धीरे तनाव शैथिल्य की दिशा में मुड़ने लगा और नए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वातावरण तैयार हो गया जिसमें भय की बजाय शान्ति व सौहार्द का स्थान सर्वोपरि था।

तनाव-शैथिल्य अथवा दितान्त के प्रयास (Efforts for Detente)

1963 में क्यूबा संकट के बाद दोनों महाशक्तियों ने टकराव का रास्ता छोड़कर शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति अपनाने पर विचार किया। दोनों ने आपसी तनाव को कम करने के लिए कुछ प्रयास किए जो निम्नलिखित हैं:-

1. 25 जुलाई, 1963 को दोनों देशों ने परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि की। इससे दितान्त को बढ़ावा मिला।
2. 1963 में ही दोनों देशों में आकस्मिक दुर्घटना में छिड़ने वाले युद्ध में निपटने के लिए हॉट लाइन समझौता हुआ।
3. दोनों देशों में तनावों को कम करने के लिए ग्लासब्रो शिखर सम्मेलन जून 1967 में हुआ। इसमें दोनों देशों ने वियतनाम तथा मध्यपूर्व पर विचारों का आदान प्रदान किया।

4. 1968 में सोवियत संघ, अमेरिका तथा ब्रिटेन ने मिलकर परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर किये।
5. 1970 में मास्को बोन समझौता हुआ। इस समझौते ने पश्चिमी जर्मनी तथा सोवियत संघ के बीच तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त कर दिया।
6. 1971 में अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ के बीच पश्चिमी बर्लिन के बारे में एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ, जिसके अनुसार पूर्वी व पश्चिमी बर्लिन की जनता को आपसी आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इससे बर्लिन को लेकर दोनों गुटों के बीच व्याप्त तनाव में कमी आई।
7. 1972 में अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने दो जर्मन राज्यों के सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करके जर्मनी की समस्या का समाधान कर दिया।
8. 7 जुलाई, 1973 को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिए फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन हुआ। 1974 में दूसरे यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (ब्लाडिवास्तोक में) द्वारा शीतयुद्ध को समाप्त करने की दिशा में प्रयास किया गया।
9. 1975 में कम्बोडिया युद्ध की समाप्ति ने शीतयुद्ध के अन्य केन्द्र हिन्दचीन को समाप्त कर दिया।
10. 1975 में वियतनाम में युद्ध की समाप्ति तथा एकीकरण की प्रक्रिया से शीतयुद्ध में कमी आई।
11. 1977 में त तीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (बेलग्रेड) में हैलसिंकी समझौते की भावना को मजबूत आधार प्रदान किया।
12. 26 मार्च 1979 को इस्राइल तथा मिश्र के बीच अमेरिका ने कैम्प डेविड समझौता कराकर मध्यपूर्व में संघर्ष को कम किया।

इन प्रयासों के अतिरिक्त 1972 में दोनों महाशक्तियों के बीच मास्को वार्ता, 1972 का साल्ट-I समझौता, सोवियत संघ - अमेरिका आर्थिक सहयोग, बेहनेव की अमेरिकी यात्रा, 1973, अपोलो सोयज का अन्तरिक्ष में मेल, साल्ट-2 समझौता 1979, आदि प्रयासों से भी शीत युद्ध में कमी आई। लेकिन 1963 से 1970 तक शीत युद्ध के कमी के संकेत नाम मात्र के रहे। इस दौरान भारत-पाक युद्ध 1965 को लेकर दोनों महाशक्तियों में तनाव बरकरार रहा। 1967 में अरब-इजराइल युद्ध ने भी शीत युद्ध को जारी रखा। इसके दौरान शीत युद्ध में कमी लाने के प्रयास किए जाते रहे हैं और उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। इसलिए इसे दितान्त का निष्क्रिय काल कहा जाता है। इसकी वास्तविक प्रगति 1970 में शुरू हुई और 1979 तक यह चरम सीमा पर पहुंच गया। इस समय को दितान्त का सक्रिय काल कहा जाता है। इस समय दितान्त ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया और पुराने शीतकालीन सम्बन्ध समाप्त होते नजर जाए।

दितान्त का अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव

(Impact of Detente on International Relations)

दितान्त ने शीतयुद्ध से उत्पन्न पुराने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिद श्य बदलने लगा और विश्व में शांतिपूर्ण वातावरण का जन्म हुआ। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में भी व द्धि हुई और परमाणु युद्ध के आतंक से छुटकारा मिला। दितान्त का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर निम्न प्रभाव पड़ा-

1. इससे महाशक्तियों के बीच सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ।
2. इससे विभाजित यूरोप का एकीकरण हुआ और व्यापारिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान का विस्तार हुआ।
3. इससे आतंक का संतुलन समाप्त हो गया और विश्व में तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति मिल गई।
4. इससे परमाणु शस्त्रों के नियंत्रण के प्रयास तेज हो गए।
5. इससे गुट बन्दी को गहरा आघात पहुंचा। दोनों गुटों के साथ शामिल देश भी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने लगे।
6. इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में व द्धि हुई।
7. इसने गुट निरपेक्षता को अप्रासांगिक बना दिया।

(घ) शीत युद्ध के विकास का अन्तिम काल - 1980 से 1989 तक (नया शीत युद्ध)

1970 के दशक का दितान्त अफगानिस्तान संकट के जन्म लेते ही नए प्रकार के शीत युद्ध में बदल गया। इस संकट को दितान्त की अन्तिम शवयात्रा कहा जाता है। इससे दितान्त की समाप्ति हो गई और दोनों शक्तियों में लगभग एक दशक तक रहने

वाला तनाव शैथिल्य के दिन लग गए और पुराने तनाव फिर से बढ़ने लगे। इसकी उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:

1. सोवियत संघ की शक्ति में व द्धि ने अमेरिका के खिलाफ अपनी पुरानी दुश्मनी आरम्भ कर दी।
2. रीगने ने राष्ट्रपति बनते ही शस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण करने पर बल दिया।
3. अमेरिका तथा सोवियत संघ में अन्तरिक्ष अनुसंधान की होड़ लग गई।
4. अफगानिस्तान में सोवियत संघ ने हस्तक्षेप किया, इससे शीत युद्ध में व द्धि हुई। अमेरिका और सोवियत संघ में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई।
5. सोवियत संघ ने दक्षिण पूर्वी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया।
6. 23 मार्च, 1983 को अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने 'स्टारवार्स परियोजना' (अन्तरिक्ष युद्ध) को मंजूरी दी। इससे नए अस्त्र-शस्त्रों की होड़ लग गई।
7. हिंद महासागर में सोवियत संघ ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी।
8. सोवियत संघ ने खाड़ी क्षेत्र तथा पश्चिमी एशिया में भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने का प्रयास किया।
9. सोवियत संघ ने क्यूबा में अपनी ब्रिगेड तैनात कर दी।
10. निकारागुआ में अमेरिका ने अपना प्रभुत्व बढ़ाना शुरू कर दिया।

इन सभी कारणों से नए शीत का जन्म हुआ और दितान्त का अन्त हो गया। इससे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नई खटास पैदा हुई अमेरिका ने खाड़ी सिद्धान्त के द्वारा विश्व शान्ति के लिए खतरा पैदा कर दिया। इस नए शीत युद्ध ने विश्व को त तीय विश्व युद्ध के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। इससे दितान्त की हानि हुई और निशस्त्रीकरण को गहरा धक्का लगा। इससे तनाव के केन्द्र अफगानिस्तान, कम्पूचिया, निकारागुआ आदि देश हो गए। यह युद्ध विचारधारा विरोधी न होकर सोवियत संघ विरोधी था। इसके अभिकर्ता अमेरिका और सोवियत संघ न होकर ब्रिटेन, फ्रांस व चीन भी थे। इस युद्ध ने सम्पूर्ण विश्व का वातावरण ही दूषित कर दिया। इसने बहुध्रुवीकरण को जन्म दिया और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नई चुनौतियों को पेश किया।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत-युद्ध का प्रभाव

(Impact of Cold War on International Politics)

शीतयुद्ध ने 1946 से 1989 तक विभिन्न चरणों से गुजरते हुए अलग-अलग रूप में विश्व राजनीति को प्रभावित किया। इसने अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य तनाव पैदा करने के साथ-साथ अन्य प्रभाव भी डाले। इसके अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े-

1. इससे विश्व को दो गुटों में - सोवियत गुट तथा अमेरिकन गुट में विभाजन हो गया। विश्व की प्रत्येक समस्या को गुटीय स्वार्थो पर ही परखा जाने लगा।
2. इससे यूरोप का विभाजन हो गया।
3. इसने विश्व में आतंक और भय में व द्धि की। इससे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास की भावना का जन्म हुआ, गर्म युद्ध का वातावरण तैयार हो गया। शीतयुंद्ध कभी भी वास्तविक युद्ध में बदल सकता था।
4. इससे आणविक युद्ध की सम्भावना में व द्धि हुई और परमाणु शास्त्रों के विनाश के बारे में सोचा जाने लगा। इस सम्भावना ने विश्व में आणविक शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा दिया।
5. इससे नाटो, सीटो, सेण्टो तथा वारसा पैक्ट जैसे सैनिक संगठनों का जन्म हुआ, जिससे निशस्त्रीकरण के प्रयासों को गहरा धक्का लगा और इससे निरंतर तनाव की स्थिति बनी रही।
6. इसने संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में कमी कर दी। अब अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ दोनों महाशक्तियों के निर्णयों पर ही निर्भर हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ समस्याओं के समाधान का मंच न होकर अंतर्राष्ट्रीय संघर्षो का अखाड़ा बन गया जिसमें दोनो महाशक्तियां अपने-अपने दांव चलने लगी।

7. इससे शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला और विश्वशान्ति के लिए भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया, दोनो महाशक्तियां अपनी-अपनी सैनिक शक्ति में व द्धि करने के लिए पैसा पानी की तरह बहाने लगी जिससे वहां का आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।
8. इसने सुरक्षा परिषद् को पंगु बना दिया। जिस सुरक्षा परिषद के ऊपर विश्व शान्ति का भार था, वह अब दो महाशक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन गई। परस्पर विरोधी व्यवहार के कारण अपनी वीटो शक्ति का उन्होंने बार बार प्रयोग किया।
9. इससे जनकल्याण की योजनाओं को गहरा आघात पहुंचा। दोनो महाशक्तियां शक्ति की राजनीति (Power Politics) में विश्व रखने के कारण तीसरी दुनिया के देशों में व्याप्त समस्याओं के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाती रही।
10. इसने शक्ति संतुलन के स्थान पर आतंक के संतुलन को जन्म दिया।
11. इसने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को सबल आधार प्रदान किया।
12. विश्व में नव उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।
13. विश्व राजनीति में परोक्ष युद्धों की भरमार हो गई।
14. इससे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों का विकास हुआ।
15. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार तथा कूटनीति के महत्व को समझा जाने लगा।

इस तरह कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर व्यापक प्रभाव डाले। इसने समस्त विश्व का दो गुटों में विभाजन करके विश्व में संघर्ष की प्रव ति को बढ़ावा दिया। इसने शक्ति संतुलन के स्थान पर आतंक का संतुलन कायम किया। लेकिन नकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ इसके कुछ सकारात्मक प्रभाव भी पड़े। इससे तकनीकी और प्राविधिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। इससे यथार्थवादी राजनीति का आविर्भाव हुआ और विश्व राजनीति में नए राज्यों की भूमिका को भी महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

अध्याय-5
शीत युद्ध का अंत
(End of Cold-War)

एक लंबे समय तक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करने वाली शीत युद्ध की अवधारणा 1985 ई. के बाद समाप्त होती दिखाई देने लगी, द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद दो महाशक्तियों के बीच तनाव का जो वातावरण था, वह शांति के वातावरण में बदलता प्रतीत होने लगा। यद्यपि शीत युद्ध में 1970 में भी कमी आई थी लेकिन 1979 में अफगानिस्तान संकट ने इसके स्थाई अंत की सम्भावनाओं को धराशायी कर दिया और एक नए प्रकार के शीत युद्ध को जन्म देकर विश्व को फिर से नए विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा कर दिया था। लेकिन अपरिहार्य कारणों से अमेरिका और सोवियत संघ तथा इनके सहयोगी राष्ट्र अब विश्व में स्थायी शान्ति के प्रयास करने पर सहमत दिखाई देने लगे और अन्त में वे अपने इस उद्देश्य में सफल हो गए तथा शीत युद्ध का विश्व से सफाया होना अवश्यम्भावी हो गया।

शीत युद्ध के अन्त के प्रयास

1985 से अमेरिका, सोवियत संघ तथा कुछ अन्य राष्ट्रों ने शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में ठोस कदम उठाने शुरू कर दिये और उन्होंने आपसी विश्वास की भावना कायम करके अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नए युग की शुरुआत की। अब विश्व में आतंक का संतुलन समाप्त होने लगा और धीरे धीरे स्थायी शान्ति की नींव पड़ने लगी। अमेरिका और सोवियत संघ ने पुरानी शत्रुता भुलाकर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहयोग की नीति अपना ली। शीतयुद्ध का स्थान शान्ति, सम द्धि तथा विकास के प्रयासों ने ले लिया। 1985 से शुरू होने वाले शान्ति प्रयासों को अन्त में 1991 में सफलता मिल गई और शीत युद्ध की समाप्ति हो गई। दोनो महाशक्तियों द्वारा शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा में किए जाने वाले प्रयास निम्नलिखित हैं।

1. दोनों महाशक्तियों में नवम्बर, 1985 में जेनेवा में एक बैठक हुई जिसमें परमाणु अप्रसार पर जोर दिया गया तथा दोनों देशों में सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ावा देने पर विचार किया गया। शीतयुद्ध को कम करने का यह सर्वप्रथम प्रयास था जो स्थायी शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ।
2. 11 अक्तूबर, 1986 में राष्ट्रपति रीगन तथा मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच आइसलैंड में वार्ता हुई। इसमें सामरिक हथियारों में 50 प्रतिशत तक कटौती करने, यूरोप तथा एशिया में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या कम करने तथा स्टारवार्स कार्यक्रम (अन्तरिक्ष कार्यक्रम) दस वर्ष तक रोकने पर विचार हुआ। लेकिन राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने स्टारवार्स कार्यक्रम स्थगित करने पर असहमति जताई जिससे शान्ति के इस प्रयास को धक्का लगा।
3. 9 दिसम्बर, 1987 को अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत राष्ट्रपति मिखाईल गोर्बाव्योव के बीच आई.एन.एफ. सन्धि हुई, जिसके अनुसार 1139 परमाणु हथियारों को नष्ट करने पर दोनों देश सहमत हो गए। यह दोनों देशों की तरफ से निरस्त्रीकरण का प्रथम और महत्वपूर्ण प्रयास था। इस सन्धि के अनुसार दोनों देश परस्पर निरीक्षण पर सहमत हो गए। इस सन्धि ने दोनों देशों में लम्बे समय से चले आ रहे तनाव के वातावरण में कुछ कमी की।
4. 1 जून 1988 को दोनों देशों के बीच भूमिगत परमाणु विस्फोटों, अंतरामहाद्वीपीय बैलिस्टिक मिसाइल कार्यक्रम की सूचना एक दूसरे को देने की बात पर सहमति हुई। इसमें पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी सहमति दी गई।
5. 8 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने पूर्वी यूरोप के देशों से अपने 5 लाख सैनिक वापिस बुलाने की घोषणा की। इससे सोवियत संघ की विदेश नीति में अमेरिका के प्रति आए बदलाव के स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे। इससे विश्व शान्ति का आधार मजबूत हुआ।

6. 2 दिसम्बर, 1989 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश तथा सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के मध्य भूमध्यसागर में एक वार्ता हुई। इसमें अमेरिकन राष्ट्रपति ने सोवियत राष्ट्रपति को अमेरिका आने का निमंत्रण दिया। इसमें आपसी बातचीत के कार्यक्रम को जारी रखने पर सहमति हुई।
7. 9 नवम्बर, 1989 को बर्लिन दीवार को तोड़ दिया गया और दोनों देशों ने इस पर अपनी सहमति जता दी।
8. 1 जुलाई, 1990 को जर्मनी का एकीकरण हो गया और दोनों देशों ने इस अपनी सहमति की मुहर लगा दी। इससे लम्बे समय से दोनों देशों में चला आ रहा पारस्परिक तनाव भी खत्म हो गया।
9. 8 सितम्बर, 1990 को राष्ट्रपति बुश व गोर्बाच्योव के बीच हेलसिंकी में आपसी वार्ता हुई। दोनों ने ईराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण की निन्दी की और संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूत बनाने पर सहमति जताई।
10. 9 नवम्बर 1990 को जर्मनी तथा सोवियत संघ ने परस्पर तनाव कम करने के लिए एक अनाक्रमण समझौता किया, इससे यूरोप में नई शान्ति की शुरुआत हुई।
11. सोवियत संघ ने 1 जुलाई, 1991 को अपने सैनिक गठबन्धन 'वारसा पैक्ट' की समाप्ति की घोषणा कर दी।
12. 31 जुलाई, 1991 में दोनों देशों में मास्को में एक बैठक हुई जिसमें सर्वाधिक खतरनाक व विनाशकारी हथियारों में कटौती के लिए स्टार्ट सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए।
13. अक्तूबर, 1991 में नाटो सदस्य देशों ने अपने परमाणु हथियारों में 80 प्रतिशत कटौती करने की घोषणा की।
14. 12 सितम्बर, 1991 को मास्को में दोनों महाशक्तियों ने अफगानिस्तान में शान्ति बहाल करने की बात पर एक समझौता किया।

शीतयुद्ध की समाप्ति के कारण

(Causes of the End of the Cold War)

विश्व में लगभग तीन दशक तक आतंक का संतुलन काम रखने वाली शीत युद्ध की अवधारणा आखिरकार 1991 को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से लुप्त हो गई। इसकी समाप्ति के निम्नलिखित कारण हैं-

1. **सोवियत संघ का विघटन-** प्रथम विश्व युद्ध के समय 1917 की साम्यवादी क्रांति के बाद एक शक्तिशाली देश के रूप में उभरने वाले तथा 1945 से 1991 तक विश्व सम्बन्धों में एक महाशक्ति के रूप में जाने वाले देश सोवियत संघ का 1991 में विघटन हो गया। उसके तीन बाल्टिक राज्य - एस्तोनिया, लैटविया तथा लिथुआनिया तो पहले ही स्वतन्त्र हो चुके थे। शेष राज्य भी एक एक करके स्वतन्त्रता के प्रयास करने लगे। आन्तरिक आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के कारण इनको एक सूत्र में बांधकर रखना सम्भव नहीं था। इन्होंने मिखाइल गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियों का पूरा लाभ उठाया और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, अपने समय में महाशक्ति के रूप में पहचान रखने वाला देश सोवियत संघ अपने राजनीतिक बिखराव को नहीं रोक सका, उस साम्यवादी दल भी समाप्त हो गया। गोर्बाच्योव की आर्थिक नीतियां, साम्यवाद की हठधर्मिता, बाल्टिक राज्यों की भूमिका, मुकत बाजार व्यवस्थ, लोकतन्त्र का आकर्षण आदि तत्वों ने सोवित संघ के विघटन में योगदान दिया और इससे शीत युद्ध स्वतः ही समाप्त हो गया।
2. **सोवियत संघ का आर्थिक दिवालियापन -** 1945 के बाद सोवियत संघ लगातार अपना अधिकतर पैसा शस्त्र निर्माण व अन्तरिक्ष अनुसंधान पर खर्च करता चला आ रहा था। उसने अपने देश में ऐसे कारखानों या उत्पादन ईकाईयों की स्थापना व विकास पर ध्यान नहीं दिया जिससे उसके व्यापार में व द्धि हो, लोगों को रोजगार मिले और उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत हो। उसकी पश्चिमी शक्तियों के साथ सामरिक प्रतिस्पर्धा ने उसको दिवालिया बना दिया। उसकी राष्ट्रीय आय लगातार घटती रही। उसका निर्यात लगातार कम होते होते शून्य स्तर पर पहुंच गया। उसका कृषि उत्पादन भी चौपट हो गया। लगातार श्रमिक हड़ताल करने लगे। खाड़ी युद्ध ने उसके शस्त्र निर्यात को गहरा आघात पहुंचाया। उसके लगातार गिरते उत्पादन ने लोगों में गरीबी व भ्रष्टाचार को जनम दिया। लोगों की क्रय शक्ति कम हो गई। उसने पश्चिमी देशों से आर्थिक सहायता की मांग की। पश्चिमी देशों ने उस पर कठोर शर्तें लगा दी और प्राप्त सहायता से वह अपनी सैनिक प्रतिस्पर्धा जारी नहीं रख सकता था। इसी कारण से वह अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता के लिए उठने वाले आन्दोलनों को भी नहीं रोक सका। सभी राज्यों ने एक एक करके स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अन्त में इस साम्यवादी देश

का विघटन हो गया। इस तरह उसका आर्थिक दिवालियापन या आर्थिक मजबूरियां ही उसके अन्त का कारण बनी और इसी से शीत युद्ध का भी अन्य हो गया।

3. **लोकतन्त्रीय विचारधारा का अन्त-** साम्यवाद की हठधर्मिता ने जनता को लोकतन्त्रीय विचारधारा की ओर जाने पर विवश कर दिया। जनता साम्यवादी अत्याचारों से मुक्ति पाने को तैयार थी। जनता को 1991 में एक ऐसा अवसर मिल गया। पूर्वी यूरोप के देश स्वतन्त्र निर्वाचन वाली बहुदलीय लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था को अपनाने लगे। सोवियत संघ के सभी नवोदित स्वतन्त्र राज्यों ने मिखाईल गोर्बाच्योव के उदारवादी स्वभाव का फायदा उठाकर साम्यवाद को नष्ट कर दिया। सोवियत संघ में भी 1990 में साम्यवादी पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और जन भावनाओं को व्यापक महत्व दिया गया, लोगों के मन पश्चिमी देशों के प्रति सहयोग व प्रेम की भावना का जन्म हुआ। साम्यवादी देश के रूप में पश्चिमी देशों के प्रति अविश्वास की भावना की पूरी तरह समाप्ति हो गई।

4. **मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था-** 1990 में पूर्वी यूरोप के अधिकतर देशों ने लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था के साथ साथ मुक्त बाजार व्यवस्था को भी स्वीकार कर लिया। आर्थिक विकास का कम्युनिस्ट मॉडल अप्रासांगिक प्रतीत होने लगा था। केन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्था ने जनता की क्रय शक्ति में कमी कर दी थी। गोर्बाच्योव के उदारवादी कार्यक्रम में मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था को प्रमुख स्थान दिया। गोर्बाच्योव ने स्वयं अपनी इस नीति की घोषणा की। लोगों की लम्बे समय से चली आ रही मांग अब पूरी हुई। इससे सोवियत संघ और पश्चिमी देशों में व्यापार में व द्धि होने लगी और जी-7 देशों से भी उसे आर्थिक सहायता प्राप्त होने की सम्भावना में व द्धि हुई। अमेरिका तथा जर्मनी ने सोवियत संघ को आर्थिक मदद देकर जनता के मन में अपनी प्रति चली आ रही वैमनस्य की भावना को समाप्त कर दिया। जनता ने अपने साम्यवादी नेताओं और उनके आर्थिक कार्यक्रमों की आलोचना शुरू कर दी। इससे उनकी मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था का स्वप्न पूरा हुआ और अन्त में रूप से शीत युद्ध का भी अन्त हो गया।

5. **गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियां-** 1985 में सत्ता सम्भालते ही मिखाईल गोर्बाच्योव ने अमेरिका के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व व सहयोग की नीति अपनाई, उसने शीत युद्ध को समाप्त करने के लिए अमेरिका के साथ कम और मध्यम दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने वाली सन्धि (I.N.F.) पर हस्ताक्षर किए। उसने ग्लास्नोस्त (खुलेपन) तथा 'पेरेस्त्रोइका' (पुनर्निर्माण) की नीति लागू की। इससे राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय जगत में नई व्यवस्था की शुरुआत हुई। उसकी इस नीति ने सोवियत संघ में अलगाववाद की प्रव ति को जन्म दिया। उसने पूर्वी यूरोप के देशों की स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र का भी समर्थन करके अपने उदारवादी कार्यक्रम को स्पष्ट किया। उसने वार्सा पैक्ट भंग करने की घोषणा करके साम्यवादी कार्यक्रम को गहरा आघात पहुंचाया। भ्रष्टाचार व आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार जनता ने उनकी उदारवादी नीतियों का पूरा फायदा उठाया और स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने शुरू कर दिए। इससे सोवियत संघ का विघटन हुआ और इस विघटन ने शीत युद्ध का भी अन्त कर दिया।

इस प्रकार सोवियत संघ के अवसान (Disintegration), गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियां, सोवियत संघ का आर्थिक दिवालियापन, लोगों का लोकतंत्र के प्रति बढ़ता रुझान आदि ने शीत युद्ध को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वारसा पैक्ट समाप्त कर दिया गया और अमेरिका के साथ सहयोग व शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की भावना में व द्धि होने लगी। लम्बे समय से चला आ रहा तनाव समाप्त हो गया और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई।

शीतयुद्ध के अन्त का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर प्रभाव

(Impact of the End of Cold War on International relations)

1945 के बाद से अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य चला आ रहा शीत युद्ध सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत द्वारा सोवियत संघ की समाप्ति का प्रस्ताव पारित होने के साथ ही समाप्त हो गया। इसके विश्व सम्बन्धों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े-

1. इससे विश्वशान्ति का आधार मजबूत हुआ और दोनों देशों में लम्बे समय से चलते आ रहे तनाव का अन्त हो गया।
2. इससे विश्व में आतंक के संतुलन के स्थान पर हितों का संतुलन स्थापित हुआ। इसने त तीय विश्व युद्ध की सम्भावना को समाप्त कर दिया।
3. विश्व में अब सुरक्षा और विचारधारा के स्थान पर व्यापार और पूंजी निवेश के मुद्दों का विकास होने लगा।

4. सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग की भावना में व द्धि हुई। अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सोवियत संघ को G-7 के देशों व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों से आर्थिक सहायता मिलने लगी।
5. सोवियत संघ को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की सदस्यता प्रदान की गई।
6. इससे निरस्त्रीकरण के प्रयासों में व द्धि हुई।
7. सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों में लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का विकास हुआ।
8. इससे संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में व द्धि हुई।
9. विश्व में अमेरिका एक प्रमुख शक्ति बन गया।

शीत युद्ध के अन्त ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नए ढंग से निर्धारित करने के लिए विवश कर दिया। इससे अंतर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिकन दादागिरी को बढ़ावा मिला। उसका प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी सोवियत संघ अब इस स्थिति में नहीं रहा कि वह अपनी शत्रुता जारी रख सके। लेकिन उसकी दादागिरी अधिक लम्बे समय तक नहीं चल सकती। आज अनेक देश आर्थिक व सैनिक शक्ति के रूप में उभर रहे हैं।

शीत युद्ध की वर्तमान स्थिति

(Contemporary Situation of Cold War)

1991 ई. में जिस शीत-युद्ध का अन्त हुआ है, वह धीरे-धीरे नए रूप में फिर से जन्म लेने लगा। आज जब भारत, जापान, जर्मनी जैसे देश भी आर्थिक महाशक्तियां बन चुके हैं, ऐसे में पांच वीटो पावर प्राप्त देशों को ही महाशक्तियां बन चुके हैं, ऐसे में पांच वीटो पावर प्राप्त देशों को ही महाशक्तियां मानना न्याय संगत नहीं है। आज रूस फिर से एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर चुका है। उसके चीन के साथ कुछ बातों पर मतभेद हैं; इसी तरह के मतभेद भारत और चीन में भी है। आज कश्मीर समस्या पर अमेरिका और रूस के विचार अलग अलग हैं। इसी तरह ब्रिटेन और अमेरिका के भी परस्पर कुछ बातों पर मतभेद है। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि विश्व से शीतयुद्ध पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका है। आज भी विश्व की अनेक आर्थिक व राजनैतिक शक्तियों के परस्पर किसी न किसी बात को लेकर तनाव व्याप्त है। इसलिए जब तक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रहेंगे तब तक शीत युद्ध का भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व रहेगा।

अध्याय-6
गुटनिरपेक्षता
(Non-Alignment)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सम्पूर्ण विश्व का दो गुटों - पूंजीवादी गुट तथा साम्यवादी गुट में बंट जाना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत-युद्ध की अवधारणा को जन्म दिया। अमेरिका तथा सोवियत संघ अपने अपने धड़ों को मजबूत बनाने के प्रयास करने लगे जिससे त तीय विश्वयुद्ध की सम्भावना प्रबल हो गई। तीसरी दुनिया के सामने अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो गया। अब उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि वे किस गुट में शामिल हों या न हों, नवोदित स्वतन्त्रता राष्ट्र फिर से पराधीनता की जंजीर में जकड़े जाने से भयभीत थे। इसलिए उन्होंने इन गुटों से दूर रहकर ही अपनी स्वतन्त्रता को सुद ढ़ आधार प्रदान किया। उन्होंने गुटों से दूर रहकर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया, जिससे गुटनिरपेक्षता की नीति का जन्म हुआ।

भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, मिश्र के कर्नर नासिर तथा युगोस्लाविया के नेता मार्शल टीटो ने 1961 में गुटनिरपेक्षता की नीति को सुद ढ़ आधार प्रदान किया। उन्होंने नवोदित अफ्रीका तथा एशिया के देशों के सामने कुछ सिद्धान्त रखे जो गुटनिरपेक्ष देश को परिभाषित करने में पूर्ण समक्ष थे। उनके सिद्धान्तों को एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों द्वारा सहर्ष स्वीकार करके गुटनिरपेक्षता के प्रति उन्होंने अपनी निष्ठा तथा गुटनिरपेक्षता की बढ़ती लोकप्रियता को दर्शाया।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ

'गुटनिरपेक्षता' शब्द को सर्वप्रथम लिस्का द्वारा वैज्ञानिक अर्थ प्रदान किया गया, बाद में अन्य विद्वानों ने इसे अलग-अलग रूप में परिभाषित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसे पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा व्यवस्थित रूप दिया गया जिसको कर्नल नासिर तथा मार्शल टीटो ने भी स्वीकार कर लिया। जवाहर लाल नेहरू ने गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करते हुए कहा है - "गुटनिरपेक्षता का अर्थ है अपने आप को सैनिक गुटों से दूर रखना तथा जहां तक सम्भव हो तथ्यों को सैनिक द ष्टि से न देखना। यदि ऐसी आवश्यकता पड़े तो स्वतन्त्र द ष्टिकोण रखना तथा दूसरे देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना गुटनिरपेक्षता के लिए आवश्यक है।" इससे स्पष्ट होता है कि केवल आंख बंद करके विश्व घटनाक्रम को देखते रहना गुटनिरपेक्षता नहीं है। यह सही और गलत में अन्तर करते हुए सही का पक्ष लेने की भी नीति है। लेकिन गुटनिरपेक्ष देश वही हो सकता है जो गुटों से दूर रहकर ही अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए।

गुटनिरपेक्षता का सरल अर्थ है कि विभिन्न शक्ति गुटों से तटस्थ या दूर रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार सही या न्याय का साथ देना। आंख बंद करके गुटों से अलग रहना गुटनिरपेक्षता नहीं हो सकती। गुटनिरपेक्षता का अर्थ है - सही और गलत में अन्तर करके सदा सही नीति का समर्थन करना।

जार्ज लिस्का ने इसका सही अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि सबसे पहले यह बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है। इसका अर्थ है - उचित और अनुचित का भेद जानकर उचित का साथ देना।

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है?

I. गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है
(Non - Alignment is not Neutrality)

तटस्थता शब्द का प्रयोग प्रायः युद्ध के समय किया जाता है। शान्तिकाल में भी यह एक प्रकार से युद्ध की मनोव त्ति को प्रकट करती है। यह उदासीनता का द ष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह एक प्रकार की नकारात्मक प्रव ति है। जबकि गुटनिरपेक्षता का

विचार सक्रिय एवं सकारात्मक है। इससे विश्व समस्याओं का बिना गुटों के भी समाधान किया जा सकता है। इस तरह गुटनिरपेक्षता एक सक्रिय विचार है। गुट निरपेक्षता युद्धों में शामिल होकर भी बरकरार रहती है। भारत ने चीन और पाकिस्तान के साथ युद्ध करने पड़े फिर वह गुटनिरपेक्ष देश है। तटस्थता युद्धों में भाग लेने पर समाप्त हो जाती है। स्वीटज़रलैंड एक तटस्थ देश है क्योंकि वह न तो किसी युद्ध में शामिल हुआ है और न ही उसे किसी सैनिक संगठन की सदस्यता प्राप्त है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता की नीति नहीं है।

II. गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या प थकतावाद नहीं है
(Non - Alignment is not Isolationism)

प थकतावाद का अर्थ होता है - प्रायः अपने को दूसरे देशों की समस्याओं से दूर रखना। अमेरिका ने प्रथम विश्व युद्ध से पहली इसी नीति का पालन किया। लेकिन गुटनिरपेक्षता अलगाववाद की नीति नहीं है। गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं में स्वयं रूचि लेने व सक्रिय भूमिका निभाने की नीति है। उदाहरण के लिए भारत में शीत युद्ध में किसी गुट में शामिल न होकर भी इस समस्या के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया और दोनों गुटों में तनाव कम कराने के प्रयास भी किए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थतावाद तथा अलगाववाद की नीति नहीं है। यह एक ऐसी नीति है जो सैनिक गुटों से दूर रहते हुए भी उनके काफी निकट है।

गुट निरपेक्ष देश कौन हैं?
(Which is a Non-Aligned Country?)

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ जानने के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के तीन कर्णधारों - पंडित जवाहर लाल नेहरू, नासिर व टीटो के विचारों को जानना आवश्यक है। इन तीनों नेताओं ने 1961 में गुटनिरपेक्षता को सही रूप में परिभाषित करने वाले निम्नलिखित 5 सिद्धान्त विश्व के सामने रखेः

1. जो राष्ट्र किसी सैनिक गुट का सदस्य नहीं हों।
2. जिसकी अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति हो।
3. जो किसी महाशक्ति से द्विपक्षीय समझौता न करता हो।
4. जो अपने क्षेत्र में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न देता हो।
5. जो उपनिवेशवाद का विरोधी हो।

इन सिद्धान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऐसा देश जो सैनिक गुटों से दूर रहकर स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करता हो और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक हो गुट-निरपेक्ष देश कहलाता है।

गुट निरपेक्षता की विशेषताएं
(Characteristics of Non-Alignment)

गुटनिरपेक्षता का जन्म विशेष तौर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ। भारत, मिस्त्र व युगोस्लाविया आदि देशों के सहयोग से इस अवधारणा का पूर्ण विकास हुआ। आज गुटनिरपेक्षता की अवधारणा एक पूर्णतया विकसित स्वयं विस्त त रूप धारण कर चुकी है। इसको समुचित रूप में समझने के लिए इसकी विशेषताओं को जानना जरूरी है। गुटनिरपेक्षता की महत्वूपर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. यह सभी प्रकार के सैनिक, राजनीतिक, सुरक्षा-सन्धियों तथा गठबन्धनों का विरोध करने की नीति है। गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध के दौरान उत्पन्न NATO, SEATO तथा WARSA समझौतों का विरोध करती है। गुटनिरपेक्षता की नीति का मानना है कि सैनिक गठबन्धन साम्राज्यवाद, युद्ध तथा नव-उपनिवेशवाद को बढ़ावा देते हैं। ये शीत युद्ध या अन्य तनावों को जन्म देते हैं। इन्हीं से विश्व शान्ति भंग होती है। अतः इनसे दूर रहना तथा विरोध करना आवश्यक है।
2. गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध का विरोध करती है। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश शीत-युद्ध को अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने वाला तत्व मानते हैं। इसलिए गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध से दूर रहने की नीति का पालन करती है। और शीत युद्ध के सभी तनावों को दूर करने का प्रयास करती है।

3. गुटनिरपेक्षता स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करने में विश्वास करती है। उसका मानना है कि गुटबन्दियां राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक हैं। इसीलिए भारत हमेशा से अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता को आधार मानता रहा है।
4. गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या तटस्थता की नीति नहीं है। यह अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक रहने तथा उन समस्याओं के समाधान के लिए सहयोग देने की नीति है।
5. गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा आपसी सहयोग की नीति है। यह शक्ति के किसी भी रूप का खण्डन करती है। यह राष्ट्रों के बीच तनावों संघर्षो को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने में विश्वास करती है।
6. यह राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का कूटनीतिक साधन नहीं है। यह युद्ध का लाभ उठाने के किसी भी अवसर का विरोध करती है। यह एक सकारात्मक गतिशील नीति है। यह विदेशों के साथ मधुर सम्बन्धों की स्थापना करके राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति करने पर बल देती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना को विकसित करने, अंतर्राष्ट्रीय संघर्षो का विरोध करने व उनके समाधान का प्रयास करके विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के प्रयास की नीति है। गुटनिरपेक्षता किसी समस्या के प्रति आंख बंद करके बैठ जाने या अलग रहकर जीने की नीति नहीं है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की नीति है। यह एक गतिशील धारणा है जो भारतीय विदेश नीति व अन्य त तीय विश्व के राष्ट्रों की स्वतन्त्र विदेशा नीति का आधार है। यह किसी राष्ट्र की सम्प्रभुता को सुद ढ़ करने की नीति है।

गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले तत्व

(Factors Promoting Non-Alignment)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गुटनिरपेक्षता की अवधारणा धीरे धीरे विकसित होने लगी और गुटनिरपेक्ष आंदोलन का भी तेजी से विकास होने लगा। 1961 में संस्थापक देशों सहित इसकी संख्या 25 थी, लेकिन आज यह संख्या 115 है। धीरे-धीरे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक महत्वपूर्ण आन्दोलन बन गया। विश्व में नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र एक एक करके इसकी सदस्यता प्राप्त करते गए। उन देशों द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के पीछे निम्नलिखित कारण हैं :

1. **साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का भय -** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में दो गुटों का नेत त्व करने वाले देश अमेरिका और सोवियत संघ तथा उनके मित्र राष्ट्र साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रमुख प्रेणता रहे थे। त तीय विश्व के देश साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के कष्टों को अच्छी तरह भाग चुके थे। यदि उन्होंने इन गुटों की सदस्यता स्वीकार की हो तो उन्हें पता था कि वे फिर से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के नए रूप में जकड़ लिए जायेंगे। उन्हें शीत युद्ध में घसीटकर पुरानी प्रक्रिया का अंग बना लिया जाएगा। इससे उनकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। इसीलिए नवोदित स्वतन्त्र अफ्रीका व एशिया के देशों ने किसी भी गुट में शामिल न होने का निर्णय लिया और गुटनिरपेक्षता की नीति में ही अपना विश्वास व्यक्त करके विश्व शान्ति का आधार सुद ढ़ किया। इसी नीति के आधार पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को बचाकर आत्म रक्षा का उपकरण बना लिया।
2. **शीत युद्ध का वातावरण -** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ के बीच व्याप्त तनाव ने त तीय विश्व के देशों ने विश्व शान्ति को बनाए रखने के लिए सोचने पर विवश कर दिया। शीत युद्ध की स्थिति में प्रत्येक महाशक्ति अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयास करने लगी। इस दौरान अमेरिका द्वारा परमाणु शक्ति हासिल कर लेने के बाद उसकी सर्वोच्चता स्थापित करने की भावना प्रबल हो गई। इससे सोवियत खेमे का चिंतित होना स्वाभाविक ही था। उसने साम्यवादी गुट को मजबूत बनाने के अथक प्रयास शुरू कर दिए। धीरे-धीरे दोनो महाशक्तियों में यह तनाव इतना अधिक बढ़ गया कि त तीय विश्वयुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने इस वातावरण को अपने लिए सबसे खतरनाक समझा। उन्होंने जागरूक राष्ट्रों के रूप में अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए एक तीसरी शक्ति को मजबूत बनाने का विचार किए जो इस तनाव को कम कर सकें। इसलिए इन त तीय विश्व के देशों ने प थक रहकर विश्वशान्ति को बनाए रखने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति का ही विकास किया। अतः शीत युद्ध के वातावरण ने इस नीति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3. **स्वतन्त्र विदेश नीति की इच्छा -** स्वतन्त्र नवोदित राष्ट्रों के सामने अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वतन्त्र विदेश नीति की आवश्यकता महसूस हुई। उनका मानना था कि यदि वे किसी गुट में शामिल होंगे तो इससे उनकी स्वतन्त्रता सीमित हो जाएगी और वे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकेंगे। गुटबन्दी को स्वीकार करने का अर्थ होगा - स्वतन्त्रता का त्याग। इसलिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को ही आधार बनाकर अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति के संचालन की इच्छा को पूरा किया।

4. **गठबन्धन राजनीति का विरोध -** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व का पूंजीवादी और साम्यवादी दो गुटों में बंटवारा हो गया। दोनों गुट शीत युद्ध के वातावरण में अपनी अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए सैनिक गठबन्धनों का निर्माण करने लगे। इस प्रक्रिया में नाटो, सीटो तथा वार्सा पैक्ट (NATO, SEATO, WARSA PACT) आदि सैनिक संगठनों का जन्म हुआ। अमेरिका ने नाटों तथा सीटो तथा सोवियत संघ ने वार्सा पैक्ट की स्थापना करके विश्व में तनावपूर्ण वातावरण में और अधिक बढ़ोतरी कर दी। इससे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र ज्यादा भयभीत हो गए। वे इनसे दूर रहना चाहते थे ताकि उनके राष्ट्रीय हितों को कोई नुकसान न पहुंचे। उन्होंने इन संधियों या गठबंधनों को अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व राज्यों की स्वतन्त्रता के लिए भयंकर खतरा मानकर इनका विरोध किया। वे किसी गठबंधन में शामिल होकर विरोधी गुट से दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहते थे। यदि वे गठबन्धन की राजनीति के चक्रव्यूह में फंस जाते तो उन्हें अपने राष्ट्रों की समस्याओं का समाधान करने के अवसर गंवाने पड़ते। इसलिए उन्होंने गठबन्धन राजनीति से दूर रहने का ही निर्णय किया। इससे गुटनिरपेक्षता का आधार मजबूत हुआ।

5. **राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय हित की भावना-** नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रवादी भावना प्रबल होने लगी। उन देशों के मन में राष्ट्रीय हितों में व द्धि करने का विचार भी पैदा होने लगा। इसके लिए वे देश स्वतन्त्र विदेश नीति की स्थापना के प्रयास करने लग गए। स्वतन्त्रता के बाद ये राष्ट्र अपना ध्यान अपने आर्थिक विकास की ओर केन्द्रित करने लगे। इसके लिए उन्हें नए साधनों की आवश्यकता थी। उन्हें भय था कि यदि वे किसी गुट में शामिल हुए तो इससे उनकी राष्ट्रवाद की भावना को आघात पहुंचेगा और वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतन्त्र भूमिका अदा नहीं कर पाएंगे। इसलिए अपनी सुरक्षा और आन्तरिक पुनर्निर्माण की समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति पर ही चलने का निर्णय लिया। अतः कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को ही प्रोत्साहन दिया।

6. **आर्थिक विकास की आवश्यकता -** नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के सामने आर्थिक विकास की समस्या सबसे प्रमुख थी। यद्यपि उनके पास प्राकृतिक साधन तथा मानव शक्ति तो थी लेकिन उनको प्रयोग करने के लिए उचित तकनीकी ज्ञान का अभाव था। यदि वे किसी एक गुट में शामिल हो जाते तो इससे दूसरे देशों से आर्थिक सहायता का मार्ग रुक जाता। इसलिए उन्होंने तकनीकी कौशल प्राप्त करने के लिए गुटों से दूर रहने का ही निर्णय किया। दूसरी बात यह थी कि आर्थिक विकास शान्तिपूर्ण वातावरण में ही सम्भव हो सकता था। यदि वे शीत-युद्ध का अंग बन जाते तो उनको आर्थिक विकास का वातावरण नहीं मिल सकता था। इसलिए उन्होंने देश में शान्तिपूर्ण वातावरण व सुरक्षा के लिए गुट-राजनीति से दूर रहने का ही निर्णय किया। इससे गुटनिरपेक्षता का आधार सुदुढ़ हुआ।

7. **अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिया भूमिका अदा करने की भावना -** सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र चाहते थे कि बिना अपनी स्वतन्त्रता नष्ट किए और राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुंचाए बिना अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भूमिका अदा की जाए। उन्हें यह पता था कि यदि वे किसी गुट में शामिल हुए तो उनकी भूमिका सीमित हो जाएगी। उन्हें गुट के नियमों के अनुसार ही नाचना होगा। अपने वैचारिक स्वरूप को मजबूती प्रदान करने के लिए गुटों से दूर रहना ही उन्हें अपने हित में समझा ताकि वे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर विशेष भूमिका निभा सकें। उनकी इसी सोच ने गुटनिरपेक्षता को सुद ढ़ बनाया। सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र एक-एक करके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल होते गए।

8. **युद्ध का भय और विश्व शान्ति का विचार -** शीत युद्ध के तनावों से भरे वातावरण ने त तीय विश्व के देशों के मन में तीसरे विश्व युद्ध का भय पैदा कर दिया। बढ़ती सैनिक प्रतिस्पर्धा ने विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न कर दिया था। समस्त विश्व एक आतंक के संतुलन के वातावरण या सम्भावित म त्यु के वातावरण में जी रहा था। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों को त तीय विश्व युद्ध का आभास होने लगा तथा उन्होंने शीत युद्ध के तनावों को कम करके विश्व शान्ति के विचार को मजबूत बनाने के उद्देश्य से तीसरी शक्ति के रूप में गुटनिरपेक्षता को बढ़ावा देने का विचार किया। उनके प्रयासों के

परिणामस्वरूप शीत युद्ध का तनाव कम हुआ और विश्व शान्ति को मजबूती मिली। इससे गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या धीरे धीरे बढ़ने लगी।

गुटनिरपेक्षता का ऐतिहासिक विकास

आज विश्व के 115 देश जो विश्व का 2/3 हैं, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग ले रहे हैं। जब द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ, उस समय से ही गुटनिरपेक्षता के प्रयास तेज होने लगे थे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 10 वर्ष बाद 1956 में भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, मिस्त्र के कर्नल नासिर तथा यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने मिलकर ब्रियोनी में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नींच रख दी। जब इसका पहला औपचारिक सम्मेलन 1961 में बेलग्रेड में हुआ तो इसके सदस्य देशों की संख्या 25 थी जो आज विशाल स्तर पर पहुँच गई है। इसकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण एशिया व अफ्रीका के सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र इसके सदस्य बनते गए और गुटनिरपेक्षता एक विचार से एक विशाल आन्दोलन में तबदील हो गई।

इसके ऐतिहासिक विकास क्रम पर नजर डाली जाए तो यह बात प्रमुख रूप से उभरकर आती है कि सर्वप्रथम भारत, वर्मा, इंडोनेशिया, मिस्त्र, यूगोस्लाविया, घाना आदि देशों द्वारा इसे विदेश नीति के मूल सिद्धान्त के रूप में अपनाया गया। 1947 में नई दिल्ली में प्रथम एशियाई सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करा दी गई। आगे चलकर 1955 में एशियाई - अफ्रीकी सहयोग सम्मेलन (बाण्डुंग सम्मेलन) ने इसकी शुरूआत के लिए मजबूत आधार प्रदान किया। इस सम्मेलन में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व व सहयोग की भावना ने गुटनिरपेक्षता का महत्व अनुभव करा दिया। 1956 में नेहरू, नासिर तथा टीटो ने गुटनिरपेक्षता को अंतर्राष्ट्रीय आधार प्रदान कर दिया। गुटनिरपेक्ष देशों ने संगठित होकर 1961 में बैलग्रेड में एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जो सैद्धान्तिक रूप से गुटनिरपेक्षता का प्रथम व्यवस्थित अंतर्राष्ट्रीय प्रयास था। उस समय से अब तक इसके 12 सम्मेलन हो चुके हैं और 13वां जार्डन में प्रस्तावित है।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन (NAM) के शिखर सम्मेलन-

गुट निरपेक्ष आन्दोलन के अब तक 12 शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है-

1. **प्रथम शिखर सम्मेलन-** गुटनिरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन सितम्बर 1961 में बैलग्रेड (युगोस्लाविया) में हुआ। इसमें 25 देशों ने भाग लिया। इससे गुटनिरपेक्ष देशों को एक स्वतन्त्र मंच मिल गया। इस सम्मेलन में शीत युद्ध के तनाव को कम करने के लिए निरस्त्रीकरण पर विचार किया गया। इसमें विश्व के सभी भागों में किसी भी रूप में विद्यमान उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद की निन्दा की गई इस सम्मेलन ने विश्व के 25 देशों ने एक मंच पर एकत्रित होकर महाशक्तियों को अपनी उभरती शक्ति का अहसास करा दिया।

2. **दूसरा शिखर सम्मेलन-** यह सम्मेलन 5 से 10 अक्तूबर 1964 तक मिस्त्र की राजधानी काहिरा में हुआ। इस सम्मेलन में 47 देशों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में "शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का कार्यक्रम" नामक शीर्षक से घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ। इस सम्मेलन में झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीके से निपटाने की नीति पर बल दिया गया। इसमें परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि के विस्तार पर भी व्यापक चर्चा हुई। इसमें राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का समर्थन किया गया। इस दौरान भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू की म त्यु हो चुकी थी इसलिए भारत का नेत त्व लाल बहादुर शास्त्री ने किया। इस सम्मेलन में भारत की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं रही।

3. **तीसरा शिखर सम्मेलन-** यह सम्मेलन सितम्बर 1970 में लुसाका (जाम्बिया) में हुआ। इसमें 60 देशों ने भाग लिया लेकिन गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्य संख्या केवल 54 थी। इस सम्मेलन के घोषणा पत्र का शीर्षक था -' "गुटनिरपेक्षता तथा आर्थिक प्रगति।" इस सम्मेलन में भारत का नेत त्व श्रीमति इंदिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग पर चर्चा हुई। इस सम्मेलन में दक्षिणी अफ्रीका तथा पुर्तगाल की उपनिवेशवाद विरोधी तथा नस्लवाद के प्रति असहयोग की भावना पर भी विचार किया गया।

4. **चौथा शिखर सम्मेलन-** यह सम्मेलन 5 सितम्बर से 9 सितम्बर, 1973 तक अल्जीयर्स (अल्जीरिया) में हुआ। इस समय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में 75 देश सदस्यता ग्रहण कर चुके थे। लेकिन इस सम्मेलन में केवल 47 सदस्यों ने ही भाग लिया। इस सम्मेलन में शीत युद्ध के तनाव में आई कमी पर विचार किया गया और झगड़ों को शान्ति प्रक्रिया द्वारा हल करने पर जोर दिया गया। इस सम्मेलन में इजराईल को सारे छीने गए अरब प्रदेश वापिस लौटाने को कहा गया। इस सम्मेलन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में भी व्यापक चर्चा की गई।

5. **पांचवां शिखर सम्मेलन-** यह केवल 16 से 19 अगस्त, 1976 तक श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में हुआ। इस शिखर सम्मेलन तक गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या 88 तक पहुंच गई। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों ने एक समन्वय कार्यालय की स्थापना करने का निर्णय किया। इस सम्मेलन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना, सुरक्षा परिषद् के निषेधाधिकार को समापत करने तथा त तीय राष्ट्रों में परस्पर आर्थिक सहयोग में व द्धि करने के उपायों पर भी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई। इसमें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियों पर भी विस्तार से विचार हुआ।

6. **छठा शिखर सम्मेलन-** यह शिखर सम्मेलन 3 से 9 सितम्बर, 1979 तक हवाला (लेटिन अमेरिका) में हुआ। इस दौरान गुटनिरपेक्ष देशों का आंकड़ा 94 पर पहुंच गया। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सामने अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो गया। इस सम्मेलन में कुछ देशों ने अमेरिकी गुट से तथा कुछ ने सोवियत गुट से जुड़ने की बात कही ताकि अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त की जा सके। लेकिन भारत ने स्पष्ट तौर पर कहा कि गुटनिरपेक्षता तीसरा गुट नहीं है। अरब देशों ने मिस्र को इजराइल के साथ कैम्प डेविड समझौता करने के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से बाहर निकालने की धमकी दी लेकिन मिस्र की सदस्यता प्राप्त नहीं की गई। इस सम्मेलन में हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित किया गया और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को भी दोहराया गया। इसमें NAM को सुद ढ़ करने के लिए ठोस उपायों को अपनाने की बात भी की गई।

7. **सातवां शिखर सम्मेलन-** यह सम्मेलन 7 से 11 मई, 1983 तक भारत की राजधानी नई दिल्ली में हुआ। इस समय NAM की सदस्य संख्या 101 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में NAM व भारत का नेत व्य प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी ने किया। इसमें नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को फिर से दोहराया गया। इसमें विकसित देशों की आर्थिक नीतियों की जोरदार निन्दा की गई। इस सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इसमें हिन्द महासागर में सैनिक प्रतिस्पर्धा कम करने तथा डियागो गार्शिया मॉरिशीयस को वापिस करने पर बात हुई। इसमें ईराान और ईराक से युद्ध बन्द करने की प्रार्थना भी की गई। इस सम्मेलन में NAM के सदस्य देशों ने एकजुटता का परिचय देकर NAM की बढ़ती लोकप्रियता को दर्शाया। एशिया व अफ्रीकी देशों की परस्पर एकता में व द्धि करने की द ष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण सम्मेलन सिद्ध हुआ।

8. **आठवां शिखर सम्मेलन -** यह सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर, 1986 तक जिम्बाब्वे की राजधानी हरारे में हुआ। इस सम्मेलन में कोई नया देश सदस्य नहीं बनाया गया, इसलिए NAM की सदस्य संख्या 101 ही रही। इस सम्मेलन में जिम्बाब्वे के प्रधानमन्त्री राबर्ट मुंगावे को आगामी तीन वर्ष के लिए NAM का अध्यक्ष बनाया गया। इस सम्ममेलन में अफ्रीका के नस्लवादी शासन के अत्याचारों पर व्यापक ध्यान दिया गया। इस शासन के शिकार राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए अफ्रीका कोष (Africa-Fund) की स्थापना का फैसला किया गया। इसमें नामीबिया की स्वतन्त्रता के बारे में भी चर्चा हुई। इस सम्मेलन में घोषणा की गई कि NAM (गुट निरपेक्ष आन्दोलन), साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नस्लवाद तथा नव उपनिवेशवाद के खिलाफ एक संघर्ष है। इस सम्मेलन में भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने किया।

9. **नौवां शिखर सम्मेलन-** यह सम्मेलन सितम्बर, 1989 में यूगोस्लाविया की राजधानी बैलग्रेड में हुआ। इस समय NAM की सदस्य संख्या 102 तक पहुंच गई थी। इसमें केवल 98 सदस्य ही शामिल हुए। इस सम्मेलन में सारा ध्यान आर्थिक विषयों पर केन्द्रित किया गया। भारत का नेत त्व इस सम्मेलन में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने किया। इस सम्मेलन में पर्यावरण से संबंधित समस्याओं पर भी चर्चा हुई। इसमें अफ्रीका कोष को जारी रखने पर सहमति हुई। इससे निःशस्त्रीकरण के उपायों तथा विश्व अर्थव्यवस्था को और अधिक व्यापक आधार प्रदान करने की बात भी कही गई ताकि GATT (व्यापार एवं संरक्षण पर सामान्य समझौता) की समस्याओं का समाधान किया जा सके। इसमें अल्पविकसित देशों के ऋण माफ करने तथा गुटनिरपेक्ष तथा अन्य विकासशील देशों द्वारा 'देनदार मंच' (Deboss Forum) स्थापित करने की भी बात हुई।

10. **दसवां शिखर सम्मेलन -** यह सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर 1992 में इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में हुआ। इसमें 108 सदस्य देशों ने भाग लिया। इसमें विकाशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने पर चर्चा की गई। इसमें भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री नरसिम्हा राव ने किया। भारत द्वारा दिए गए राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों पर सुझावों को इस सम्मेलन में स्वीकार किया गया। इसमें सोमालिया के झगड़े पर भी विचार-विमर्श किया गया। इस सम्मेलन में विकसित राष्ट्रों के विकासशील राष्ट्रों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी भी दी गई। इसमें आतंकवाद को जड़ से उखाड़ने तथा

उप-संरक्षणवाद का विरोध किया गया। इसमें त तीय दुनिया के देशों के आर्थिक विकास के लिए नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक अर्थव्यवस्था का भी आह्वान किया गया।

11. **ग्यारहवां शिखर सम्मेलन**- यह सम्मेलन अक्तूबर, 1995 में कार्टेगेना (कोलम्बिया) में हुआ। इस समय NAM की सदस्य संख्या 113 पर पहुंच गई, लेकिन इसमे केवल 108 राष्ट्रों ने ही भाग लिया। इसमें परमाणु शस्त्र विहीन क्षेत्रों की स्थापना तथा अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विषयों पर चर्चा की गई। इसमें द्विपक्षीय विवादों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन में न घसीटने की भारत की प्रमुख मांग को स्वीकार कर लिया गया।
12. **बारहवां शिखर सम्मेलन**- यह शिखर सम्मेलन सितम्बर, 1988 को दक्षिणी अफ्रीका के डरबन शहर में हुआ। इस समय NAM की सदस्य संख्या 114 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने तथा परमाणु शस्त्रों को 2000 तक पूर्ण रूप से समाप्त करने के बारे में एक अंतर्राष्ट्रीय बैठक बुलाने की मांग उठाई गई। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त किया गया। इसमें नई न्याययुक्त अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात कही गई ताकि गरीब देशों को भी विश्वीकरण की प्रक्रिया के लाभ प्राप्त हो सकें। इसमें IMF, WORLD BANK तथा WTO की भूमिकाओं की समीक्षा करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।
13. **तेरहवां शिखर सम्मेलन**- यह सम्मेलन 2001 में बंगलादेश की राजधानी में होना था लेकिन अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध के वातावरण में इसे स्थगित कर दिया गया और आगे इसे जार्डन में आयोजित करने का फैसला किया गया।

गुटनिरपेक्षता के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of Non-Alignment)

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद गुटनिरपेक्षता की आवश्यकता को एक बेईमानी कहा जाने लगा। अनेक विकसित राष्ट्रों ने इस पर आरोप लगाने शुरू कर दिए कि अब बदलते अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में इसका कोई औचित्य नहीं रह गया है। लेकिन उनका यह आरोप निराधार है। आज विश्व के अनेक देशों में शीत-युद्ध जैसा ही तनाव है। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्षता का महत्व स्वतः ही सिद्ध होता है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-

1. गुटनिरपेक्षता शक्ति संतुलन के लिए आवश्यक है।
2. गुट-निरपेक्ष देशों की संख्या निरंतर बढ़ रही है।
3. यह संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों में ही विश्वास करती है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ को उद्देश्यों को प्राप्त कराने में इसका सहयोग अनिवार्य है।
4. यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास करती है। आज के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परमाणु युद्ध के भय के वातावरण में अधिक उपयोगिता है।
5. यह शस्त्रीकरण का विरोध करती है और निःशस्त्रीकरण में विश्वास करती है। इससे विश्व शन्ति का आधार सुद ढ़ होता है।
6. यह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के किसी भी रूप की विरोधी है। इससे राष्ट्रवाद की भावना का विकास होात है और प्रत्येक देश को स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण करने व संचालन करने में मदद मिलती है।
7. यह विश्व बंधुत्व की भावना पर आधारित है। इससे संकीर्ण राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय हितों के साथ मिला दिए जाते हैं। इससे विश्व संगठनों की भूमिका में व द्धि होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी शीत युद्ध के दौरान थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के 2/3 राष्ट्र इसको स्वीकार कर चुके हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति के अनुसार संचालित करने पर जोर देती है। इससे विश्व में अनावश्यक तनाव कम होते हैं और विश्व शान्ति का विचार सुद ढ़ होता है जो सम्पूर्ण मानव जाति के हित में है।

गुट-निरपेक्षता : एक मूल्यांकन

(Non Alignment : An Evaluation)

आज गुटनिरपेक्षता एक विश्वव्यापी आंदोलन का रूप ले चुकी है। इसका महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इसका अपना एक इतिहास है। इसने अपने यात्रा काल में कुछ खोया है और कुछ पाया है। इसकी उपलब्धियों की सर्वत्र प्रशंसा की

जाती है, लेकिन इसकी कमियों पर विचार किया जाता है। इसलिए यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि इसका क्या उपलब्धियां रही हैं और क्या कमियां हैं? इसी से इसके भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियां

विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में अलग-अलग विषयों पर व्यापक चर्चा की गई और उनकी दिशा में सकारात्मक प्रयास भी किए गए। निर्गुट-शिखर सम्मेलनों के कुछ सकारात्मक परिणाम निकले जो निम्नलिखित हैं-

1. ***अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में व द्धि-*** गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए। गुटनिरपेक्ष देशों ने आपसी झगड़ों को पारस्परिक सहमति से सुलझाने के प्रयास किए और महाशक्तियों को भी इसी आधार पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। इससे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिला।

2. ***शीत युद्ध को गर्म युद्ध में बदलने से रोकना-*** गुट निरपेक्ष देशों ने निरन्तर शीत युद्ध के तनाव को कम करने के प्रयास किए। इससे विश्व में तीसरे युद्ध के होने की सम्भावनाएं क्षीण हुई।

   गुट निरपेक्ष देशों ने गुटों की राजनीति से दूर रहकर किसी गुट को अधिक शक्तिशाली नहीं होने देने का भरसक प्रयास किया। इन देशों ने दोनों महाशक्तियों के मनों में व्याप्त अविश्वास की भावना को दूर करने के पूरे प्रयास किए। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की सम्भावनाएं प्रबल हो गई और शीत युद्ध गर्म युद्ध में तबदील होने से बच गया।

3. ***अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का टालना-*** गुटनिरपेक्ष देशों ने अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए सहयोग दिया। इन देशों ने या तो युद्ध को टाल दिया या उनका समाधान कराने में मदद की। इन्होंने इण्डोचीनी संघर्ष, स्वेज नहर संकट, कोरिया संकट, आदि के दौरान न्यायोचित भूमिका निभाई। इससे गतिरोध कम हुआ और संघर्ष टल गए। स्वयं महाशक्तियों ने भी उनकी मध्यस्थ की सराहनीय भूमिका की प्रशंसा की। इन देशों ने अंतर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किए।

4. ***निशस्त्रीकरण को बढ़ावा-*** इन देशों ने अपनी सम्मेलनों में बार बार परमाणु अप्रसार तथा शस्त्रों को नष्ट करने के प्रति अपनी वचनबद्धता को दोहराया। भारत के प्रधानमन्त्री ने विश्व शान्ति को मजबूत बनाने के लिए जो पंचशील के सिद्धान्त रखे थे, उनको विश्व के अधिकतर देशों द्वारा सराहा गया। उसके द्वारा रखे गए आणविक शस्त्रों के परीक्षण सम्बन्धी सुझाव 1963 में आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के रूप में अपना लिए गए। इससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला।

5. ***संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में व द्धि-*** गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन किया। इससे उनकी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति निष्ठा में व द्धि हुई। सभी गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करके उसके प्रयासों को सफल बनाया। गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर एकता का परिचय देकर विश्व शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की मदद की।

6. ***नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग-*** गुट निरपेक्ष देशों ने विकसित देशों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि वर्तमान विश्व व्यवस्था गरीब देशों के हितों की पोषक नहीं है। आज विश्वीकरण की प्रक्रिया का लाभ प्राप्त करने के लिए इसका नए सिरे से गठन करने की आवश्यकता है। अपने काहिरा सम्मेलन में 1962 में प्रथम बार आर्थिक समस्याओं पर विचार करके अप्रत्यक्ष रूप से विकसित देशों को इस अन्यायपूर्ण साधनों के बंटवारे के प्रति चेता दिया और 1974 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की घोषणा का प्रस्ताव पास कराया। उनकी इस मांग ने विकसित राष्ट्रों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था की नए सिरे से समीक्षा करनी आवश्यक है।

7. ***दक्षिण-दक्षिण सहयोग में व द्धि-*** 1976 में कोलम्बो शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष देशों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने का आह्वान किया। इसी के चलते दक्षिण-दक्षिण सहयोग की शुरुआत हुई जो आज विकासशील देशों के पारस्परिक आर्थिक सहयोग में व द्धि के लिए आवश्यकता बन गया है। अब गरीब राष्ट्रों के पास आर्थिक विकास के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग की बात प्रमुख मुद्दा बन गई है। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धि कही जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुट-निरपेक्ष देशों ने शीतयुद्ध के तनावों को कम करके तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को क्षीण किया है। इसने अंतर्राष्ट्रीय संघर्षो को टालने में पूरी मदद की है। इसने निःशस्त्रीकरण के प्रयास करके विश्वशान्ति

को मजबूत बनाना है। इसने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग करके विकसित देशों को इस बारे में सोचने के लिए विवश किया है। लेकिन फिर भी आलोचक इसे अप्रासंगिक मानकर इसे महत्वहीन आंदोलन की संज्ञा देते हैं। उनकी आलोचना के कुछ ठोस आधार हैं।

गुटनिरपेक्षता की विफलताएं

(Failure of Non-Alignment)

आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता की नीति अप्रासांगिक है। गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी तनाव है। वे इस स्थिति में नहीं हैं कि महाशक्तियों के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकें। न ही गुटनिरपेक्ष देशों के पास अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ावा देने का कोई बाध्यकारी साधन है। आज निरन्तर गुट सापेक्ष राष्ट्रों की संख्या में निरन्तर व द्धि हो रही है। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्षता का काम करना कठिन हो जाता है। इसलिए आलोचक गुटनिरपेक्षता के विरुद्ध निम्न तर्क देते हैं-

1. आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता अव्यवहारिक नीति है। सिद्धान्त तौर पर तो गुटनिरपेक्ष राष्ट्र साम्यवादी तथा पूंजीवादी राष्ट्रों का विरोध करते हैं; लेकिन व्यावहारिक धरातल पर वे अपने को उनसे ज्यादा दूर नहीं पाते हैं। भारत द्वारा सोवियत संघ के प्रति झुकाव तथा उसके साथ किए गए समझौते इस बात का संकेत हैं कि यह नीति सिद्धान्त के अधिक पास तथा व्यवहार से अधिक दूर है। कई बात तो यह अपने मूलभूत सिद्धान्तों के ही विरुद्ध काम करने लगती है।
2. यह सुरक्षा की भी नीति नहीं है। इसके पास आक्रमणकारी देश को रोकने के लिए बाध्यकारी शक्ति का पूर्ण अभाव है। अब भारत पर 1962 में चीन ने आक्रमण किया तो इसकी सुरक्षा की पोल खुल गई। किसी भी देश ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत की सहायता नहीं की। इस प्रकार इसमें सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं है।
3. गुटनिरपेक्ष देशों के पास आर्थिक शक्ति का अभाव है। इन्हें आर्थिक मदद के लिए दूसरे विकसित देशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सहायता प्रदान करने वाले देश के प्रति उसका भावनात्मक तनाव तो जुड़ ही जाता है। ऐसे में गुटनिरपेक्षता कहां रह जाती है।
4. आलोचकों का यह भी कहना है कि गुटनिरपेक्षता अवसरवादी नीति है। इसमें टिकाऊपन नहीं है। गुटनिरपेक्ष देश विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए दोहरे मापदण्ड अपनाते हैं। उनका ध्येय अधिक से अधिक लाभ उठाने का है। इसलिए यह काम निकालने की नीति है।
5. स्वंय गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी फूट व तनाव रहता है। गुटनिरपेक्ष देश सदैव एक दूसरे का शोषण करने की ताक में रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे विकसित देशों के प्रति संगठित नहीं हो सकते। इस बुनियादी एकता के अभाव में गुटनिरपेक्षता की सफलता की आशा करना व्यर्थ है।
6. आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता-एक दिशाहीन आन्दोलन है। हवाना सम्मेलन (1979) में सभी गुटनिरपेक्ष देश तीन भागों में बंट गए थे। इनकी विचारधारा में मूलभूत अंतर स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आए। क्यूबा और वियतनाम ने साम्यवादी गुट की ओर झुकाव की बात कही। सिंगापुर तथा जायरे ने पश्चिमी गुट के साथ सहयोग करने की वकालत की। भारत जैसे देशों ने ही केवल गुट-निरपेक्षता को बनाए रखने में सहयोग दिया। इस प्रकार परस्पर विरोधी विचारों ने गुटनिरपेक्षता को एक दिशाहीन आन्दोलन बना दिया।
7. गुटनिरपेक्षता केवल आदर्शवाद का पिटारा है। इसका अपना कोई मौलिक सिद्धान्त नहीं है। गुटनिरपेक्ष देश कई बार द्विपक्षीय मामलों को सम्मेलनों में उठाते रहते हैं। इसमें शामिल सभी देश प थक प थक तरह की विचारधारा रखते हैं। इसमें तानाशाही व लोकतन्त्रीय दोनों व्यवस्थाओं वाले देश एक साथ शामिल हैं। उनकी मौलिक विचारधारा में अन्तर होने के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक असफल आन्दोलन सिद्ध होता है।
8. इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में कोई प्रमुख परिवर्तन नहीं हुआ है। शीत-युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों में आपसी तनाव में कमी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रयासों से न होकर उनकी आपसी सूझ-बूझ का ही परिणाम था। 1962 में क्यूबा संकट के समय दोनों महाशक्तियों में टकराव का टलना उनकी आपसी सहमति थी। अरब-इजराईल युद्धों में भी गुट-निरपेक्ष देश विशेष भूमिका नहीं निभा सके। अनेक अफ्रीकी देशों ने अपनी मुक्ति अपने खूनी संघर्ष से प्राप्त की। इसमें गुटनिरपेक्ष देशों की कोई विशेष भूमिका नहीं रही। अतः गुटनिरपेक्षता कोई प्रभावी उपाय नहीं है। जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अपनी उपस्थिति सिद्ध करा सके।

9. आलोचकों का यह भी कहना है कि यह नीति शीत युद्ध के दौरान तो ठीक थी, लेकिन अब जब शीत-युद्ध को समाप्त हुए भी एक दशक हो चुका है, इसको जारी रखना एक बेईमानी है।

गुटनिरपेक्षता का भविष्य

(Future of Non-Alignment)

आज विश्व के सामने प्रमुख मुद्दा सुरक्षा और विकास का है। आलोचकों द्वारा गुटनिरपेक्षता को अप्रासांगिक बताना अनुचित है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ के 2/3 देश इसकी सदस्यता ग्रहण कर चुके हैं। इसकी लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यह नव उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा शक्ति राजनीति विरोधी आन्दोलन से शुरू होकर आज सुद ढ़ त तीय विश्व आंदोलन का रूप ले चुका है। यह शान्ति और सम द्धि का प्रमुख प्रोत्साहक बन गया है। यह त तीय विश्व की एकता, स्वतन्त्र विदेश नीति, विकासशील राष्ट्रों के अधिकारों, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में व द्धि व अंतर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रमुख अभिनेता बन चुका है। यद्यपि इसकी कार्यकुशलता में तो कुछ कमी आई है लेकिन यह पूर्णतया महत्वहीन आन्दोलन नहीं हो सकता। आज गुटनिरपेक्ष देश अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने की दिशा में कार्यरत हैं। इसलिए गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में एक नए विकल्प के तौर पर अपना स्थान बना चुकी है।

आज त तीय विश्व के देशों के सामने सबसे बड़ा खतरा आर्थिक साम्राज्यवाद का है। बहुराष्ट्रीय निगमों के बढ़ते हस्तक्षेप से इन देशों के सामने अपनी स्वतन्त्रता को बचाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। नव-औपनिवेशिक शोषण से बचाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों का आन्दोलन विकसित देशों पर दबाव बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आज अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद जो त तीय विश्व के देशों के आर्थिक विकास में बाधा है और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे रहा है, उसे समाप्त करने में त तीय विश्व के देश आपसी सहयोग देकर उसका सफाया कर सकते हैं। आज शस्त्र दौड़ में कमी लाने के लिए त तीय दुनिया के देश एकजुट होकर प्रयास कर सकते हैं ताकि इन देशों में घातक हथियारों का जमावड़ा न हो, नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को पुरजोर बनाने के लिए उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग में व द्धि करने के लिए गुटनिरपेक्ष देश महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। ये देश संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के लिए विकसित देशों पर दबाव बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। आज अमेरिका की दादागिरी को नीति का विरोध करने का साहस NAM ही कर सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने, नव - उपनिवेशवाद का विरोध करने, निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने और संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रजातन्त्रीकरण करने के लिए दबाव डालने के साधन के रूप में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की महती आवश्यकता है। गुट निरपेक्ष देशों को अपनी भूमिका में व द्धि करने के लिए आपसी झगड़ों व तनावों को सहयोग की नीति के आधार पर हल करने की जरूरत है। आज तीसरी दुनिया के देशों के पास भी पर्याप्त आर्थिक साधन व तकनीकी ज्ञान है। इसका सदुपयोग करने के लिए तकनीकी ज्ञान के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। यदि त तीय विश्व के देश आपसी मतभेदों को भुलाकर सहयोग को बढ़ावा दें तो वे विकसित देशों के सामने एक चुनौती पेश कर सकते हैं। यदि त तीय राष्ट्र अपने इस उद्देश्य में सफलत हो जाते हैं तो NAM का भविष्य उज्जवल होगा अन्यथा अन्धकारमय है। गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सुद ढ़ बनाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों को इसकी सभी कमियों को दूर करना होगा ताकि यह एक सशक्त आन्दोलन बनकर उभरे।

भारत और गुटनिरपेक्षता

(India and Non-Alignment)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाने वाला प्रथम देश भारत है। नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत के सामने सबसे प्रमुख समस्या अपनी सुरक्षा व आर्थिक विकास की थी, वह उपनिवेशवादी शोषण को अच्छी तरह पहचान चुका था, वह किसी भी शक्ति गुट के खिलाफ था, इसलिए उसने शक्ति गुटों से दूर रहकर ही अपनी भूमिका निभाने का निर्णया किया और गुट निरपेक्षता को ही अपनी विदेश नीति का प्रमुख आधार बनाया। भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुट निरपेक्षता निरन्तर विकास की ओर अग्रसर रही। 1949 में अमेरिकी कांग्रेस ने नेहरू जी ने कहा था कि भारत अपने विदेशी सम्बन्धों में गुट निरपेक्षता की नीति का पालन करेगा, लेकिन वह अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति मूकदर्शक बनकर भी नहीं रहेगा। वह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुट राजनीति से दूर रहकर भूमिका निभाने को प्राथमिकता देगा।

भारत ने अपनी स्वतन्त्रता के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को तनावपूर्ण पाया। उसका विश्वास था कि किसी भी गुट के साथ शामिल होने से तनाव में और अधिक व द्धि होगी। उसने अपने विश्व शान्ति के ऐतिहासिक विचार को ही आगे बढ़ाने का निर्णय किया। इसी पर उसकी राष्ट्रीय पहचान निर्भर हो। उसने महसूस किया कि उसके पास पर्याप्त आर्थिक साधन व मानवीय शक्ति है, इसलिए वह भी विश्व की महान शक्ति बन सकता है। इसलिए नेहरू जी ने गुटनिरपेक्षता को ही अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल पाया। नेहरू जी ने मित्र तथा युगोस्लाविया देशों के साथ मिलकर गुटनिरपेक्षता को सैद्धान्तिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। भारत ने इसे एक आन्दोलन का रूप देकर तीसरी दुनिया के देशों को एक सांझा मंच प्रदान किया। अब नवोदित विकासशील राष्ट्रों को अपनी विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए उचित अवसर प्राप्त हो गया।

एक गुटनिरपेक्ष देश के रूप में भारत की भूमिका को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है -

1. कोरिया संकट के समय भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें उत्तरी कोरिया को दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण के लिए दोषी ठहराया गया था। भारत ने 1950 के अन्त में संयुक्त राष्ट्र की सेनाएं जब चीन की तरफ बढ़ने लगी तो भारत ने अमेरिका की आलोचना की। कोरिया संकट के समय भारत द्वार स्वतन्त्र फैसला लेने की क्षमता को सर्वत्र सराहा गया। युद्ध की समाप्ति के बाद वह तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग का अध्यक्ष भी बन गया। इस युद्ध में उसकी गुट निरपेक्ष देश के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका रही। उसने आक्रमणकारी देश की आलोचना करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई।
2. उसने 8 दिसम्बर 1951 को जापान-अमेरिका शांति संधि की शर्तो पर आपत्ति करके अपने स्वतन्त्र द ष्टिकोण का ही परिचय दिया, भारत ने इस सन्धि को अन्यायपूर्ण बताकर इस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।
3. भारत ने हिन्द चीन क्षेत्र में 1954 में अमेरिकी हस्तक्षेप की भी निन्दा की। भारत ने विश्व को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि यह साम्राज्यवाद की पुनः स्थापना का बिगुल है। इस संकट के समाधान के लिए भारत ने जेनेवा समझौते का स्वागत किया और भारत की सकारात्मक भूमिका के लिए प्रशंसा की गई।
4. 1954 में भारत ने 'पंचशील के सिद्धान्तों' का प्रतिपादन करके विश्व में अपनी विश्व शान्ति की स्थापना वाले देश के रूप में भूमिका को सिद्ध कर दिया। भारत को एक शांतिप्रिय देश मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हुई। उसके पंचशील के सिद्धान्तों को विश्व शान्ति के लिए आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। विश्व जनमत उसके पक्ष में हो गया। इस प्रकार गुटनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत ने अपनी पहचान सुद ढ़ की।
5. भारत ने 1954 में सीटो (SEATO) संगठन की सदस्यता अस्वीकार कर दी। पाकिस्तान इसका सदस्य बन गया। भारत ने इस पर आपत्ति की तो अमेरिका ने उसे आश्वस्त किया कि इससे भारत को कोई खतरा नहीं होगा। एक शान्तिप्रिय देश के रूप में भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इससे भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर बढ़ गया लेकिन भारत ने सोवियत संघ से कोई औपचारिक समझौता न करके गुट निरपेक्षता की ही नीति का पालन किया।
6. 1954 में नेहरू जी ने हिन्दी-चीनी समझौते द्वारा अपनी शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को मजबूत आधार प्रदान किया।
7. 1955 में वाण्डुंग सम्मेलन में भरात ने एशियाई अफ्रीकी एकता पर बल दिया। इससे गुटनिरपेक्षता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। त तीय विश्व के देशों में एकता के प्रयास तेज हुए।
8. 1956 में स्वेज नहर संकट के समय भारत ने पश्चिमी राष्ट्रों की आलोचना की। उसने इजराइल तथा मिस्र के बीच गाजापट्टी में अस्थाई युद्ध विराम के लिए संयुक्त राष्ट्र सेना के लिए एक टुकड़ी भी भेजती।
9. भारत ने 1956 में ही हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की। इससे उसकी गुटनिरपेक्षता की कार्यप्रणाली पर आरोप लगाए जाने लगे। आलोचकों ने इसे अवसरवादी नीति कहा।
10. 1960 में कांगों संकट के समय भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रार्थना पर अपनी सेना भेजी। इस तरह उसने विश्व शांति के लिए अपना पूरा सहयोग दिया। उसने अपनी सक्रिय गुटनिरपेक्षता का पालन करके विकसित देशों को अपने प्रति सोचने को विवश कर दिया।
11. भारत ने 1961 के बेलग्रेड सम्मेलन तथा 1964 के काहिरा सम्मेलन में शीतयुद्ध के तनाव को दूर करने के लिए निर्गूट देशों के साथ मिलकर विचार किया। भारत ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अंतर्मुखी बनाने का विचार प्रस्तुत किया। इस तरह भारत ने गुट निरपेक्षता को ही मजबूत बनाने के प्रयास किए।

12. 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय गुट-निरपेक्ष देशों से कोई सहायता नहीं प्राप्त हुई। इससे उसकी गुट निरपेक्षता को गहरा धक्का लगा। लेकिन भारत को दोनों महाशक्तियों से ही सहायता प्राप्त हुई। अनेक देश ऐसा विश्वास करने लगे थे कि अब भारत गुटों की राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने लगेगा लेकिन उनका अनुमान गलत निकला। भारत ने आक्रमणकारी देशों के विरुद्ध शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर सम्बन्धों को सुधारने को प्राथमिकता दी।
13. 1965 में भारत-पाक युद्ध में भारत की गुट-निरपेक्षता की अग्नि परीक्षा फिर से हुई। भारत ने जिस तरह बिना किसी अन्य देश की सहायता के इस युद्ध में विजय प्राप्त की, इसने विश्व को यह दिखा दिया कि भारत के पास एक विश्व शक्ति बनने की योग्यता है। इस दौरान भी भारत ने अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति का समुचित पालन किया।
14. 1968 में चेकोस्लोवाकिया में हुए विद्रोह को दबाने के लिए सोवियत संघ के हस्तक्षेप की भारत द्वारा आलोचना की जाने लगी। अनेक देशों ने मांग की भारत को इस नीति का त्याग कर ही देना चाहिए।
15. 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत ने पाकिस्तान को करारी मात दी। इस दौरान उसने अगस्त 1971 में सोवियत संघ के साथ एक मैत्री सन्धि भी की। भारत ने इस दौरान गुटनिरपेक्षता को नए सिरे से परिभाषित करके अपनी इस नीति को ओर अधिक सुद ढ़ बनाया। भारत ने कहा कि यह कोई सैनिक सन्धि नहीं है, जिसका युद्ध में प्रयोग किया जा सके।
16. 1977 में भारत में सत्ता परिवर्तन से यह आशा की जाने लगी कि भारत इस नीति का परित्याग करके किसी न किसी गुट के साथ अवश्य शामिल हो जाएगा। लेकिन नई सरकार ने भी अपनी पुरानी नीति को ही व्यापक आधार प्रदान किया।
17. 11 मार्च, 1983 को भारत को गुट-निरपेक्ष आंदोलन का अध्यक्ष बनाया गया, वह लगातार गुटनिरपेक्षता को सुद ढ़ बनाने की दिशा में कार्य करता रहा। 1990 में शीत युद्ध की समाप्ति पर इसकी प्रासांगिकता पर प्रश्न चिन्ह लग गया।

लेकिन भारत आज भी गुट निरपेक्ष देश के रूप में एक सक्रिय भूमिका निभा रहा है। भारत ने 2002 में अफगानिस्तान में अमेरिका द्वारा की गई आतंकवादी विरोधी कार्यवाही पर मिली-जुली प्रतिक्रिया की। आज भी भारत इस नीति को मजबूत बनाने के लिए निरन्तर प्रयासरत है। भारत गुटनिरपेक्षता को बदलते अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के अनुसार परिभाषित करने की दिशा में काम कर रहा है। आज गुटों से दूर रहना गुट-निरपेक्षता की आवश्यक शर्त नहीं है, भारत का मानना है कि किसी सैनिक संधि में शामिल देश भी गुटनिरपेक्ष देश हो सकते हैं। आज गुटनिरपेक्षता को अधिक सार्थक व उपयोगी बनाने के लिए भारत दक्षिण-दक्षिण सहयोग में व द्धि करने के लिए कार्यरत है। भविष्य में भारत का स्वरूप है कि गुट निरपेक्षता एक ऐसे सशक्त आन्दोलन के रूप में उभरे कि यह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग मनवा सके और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का निर्धारण नए सिरे से हो, ऐसी स्थिति में भारत की गुटनिरपेक्ष नीति का महत्व और बढ़ जाता है।

अध्याय-7
विश्वीकरण
(Globalisation)

विश्वीकरण की अवधारणा वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा है। 1990 में साम्यवाद के पतन ने एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था को जन्म दिया। अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एकमात्र नियामक बन गया। उसने ब्रिटेन के साथ मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की दिशा में प्रयास शुरू किया, 1990 के दशक में ब्रिटेनवुड व्यापार प्रणाली के स्थान पर बहुराष्ट्रीय निगमों का विस्तार होने लगा। इस दौरान यूरोपीय अर्थव्यवस्था सांझे बाजार से निकलकर यूरोपियन संघ के रूप में परिवर्तित हो गई। प्रशान्त क्षेत्र तथा दक्षिण पूर्व एशिया में भी ऐसी ही आर्थिक व्यवस्थाएं उत्पन्न हुई। न्यूयॉर्क, टोक्यो, और लन्दन में वित्तीय एवं प्रतिभूति बाजारों का उद्‌भव क्षेत्रीय एवं अन्तर क्षेत्रीय गठबन्धन के जरिए होने लगा। अब स्थानीय व राष्ट्रीय बाजारों का स्थान अंतर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था ने ले लिया। पुरानी मौद्रिक प्रणाली का अन्त हो गया। नई मौद्रिक प्रणाली के जन्म ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया और नई उदारवादी आर्थिक प्रणाली के जन्म ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया और नई उदारवादी आर्थिक प्रणाली की स्थापना का रास्ता साफ कर दिया। आज आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियां घरेलू क्षेत्र से निकलकर विश्वीय क्षेत्र में प्रवेश करने लगी हैं। आज उदारीकरण तथा निजीकरण के दौर में बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का नारा महत्वपूर्ण हो गया है। अब अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की संस्थाएं - अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) तथा विश्व व्यापार संगठन (WTO) अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। ये सब विश्वीकरण के ही लक्षण हैं जो 1990 से शुरू होकर आज अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके हैं।

विश्वीकरण का अर्थ
(Meaning of Globalisation)

इसे भूमण्डलीकरण भी कहा जाता है। यह प्रक्रिया वस्तुतः व्यापारिक क्रिया-कलापों के अंतर्राष्ट्रीयकरण की द्योतक है जिसमें सम्पूर्ण विश्व बाजार को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जाता है। यह राष्ट्रीय बाजारों को विश्व बाजार में बदलने की प्रक्रिया है। इससे विश्व बाजारों में पारस्परिक निर्भरता में बदलने की प्रक्रिया है। इससे विश्व बाजारों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती है और व्यापार राष्ट्रीय सीमाओं से निकलकर विश्व व्यापार की ओर बढ़ने लगता है। यह राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार वस्तुओं एवं सेवाओं के आदान-प्रदान की प्रक्रिया है, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय निगमों या बहुराष्ट्रीय निगमों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ विद्वान सम्पूर्ण संसार को एक भूमण्डलीय गांव (Global Village) मानने की अवधारणा को ही विश्वीकरण या भूमण्डलीकरण कहते हैं।

"विश्वीकरण संकीर्ण राष्ट्रीय व्यापारिक हितों के स्थान पर विस्त त अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक हितों की स्थापना का नाम है। इसमें सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक हो जाता है।"

"विश्वीकरण से तात्पर्य राष्ट्रीय बाजारों को अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में परिवर्तन करना है। इसमें विश्व व्यवस्था में आया खुलापन तथा आपसी निर्भरता का विस्तार भी शामिल है।"

एडवर्ड एस. हरमन के अनुसार, "विश्वीकरण या भूमण्डलीकरण राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के फैलाव की सक्रिय प्रक्रिया भी है तथा साथ ही आर्थिक सम्बन्धों की एक संरचना भी है जिसका निरन्तर विकास हो रहा है।"

"अपने व्यापक अर्थ में विश्वीकरण केवल शुद्ध आर्थिक प्रक्रिया नहीं है, अपितु यह तो विश्व के सभी भागों में बहने वाले लोगों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक संबंधों के विकास की व्यापक प्रक्रिया है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्वीकरण अंतर्राष्ट्रीयवाद को दर्शाने वाली एक प्रक्रिया है। इसमें विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनको बनाए रखने के प्रयास भी शामिल हैं। इसके अंतर्गत राष्ट्रीय हितों का अंतर्राष्ट्रीयकरण किया जाता है ताकि विश्वीकरण की प्रक्रिया को उद्देश्य प्राप्त करने में सुविधा रहे। इसका आधार मुक्त विश्व व्यापार व्यवस्था है। इसी पर सभी तरह के सम्बन्ध आधारित होते हैं।

विश्वीकरण की विशेषताएं

(Characteristics of Globalisation)

बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती भूमिका ने पूंजी व मुद्रा पर लेग नियंत्रण तोड़ दिए हैं और मुक्त व्यापार को बढ़ावा दिया है। उनका कहना है कि इससे विकास दर में व द्धि होगी, निर्धनता में कमी आएगी और विकासशील देशों का कल्याण होगा। इसलिए उन्होंने विश्व व्यापार संगठन (WTO) का निर्माण किया है और अर्थव्यवस्था को बाजारोन्मुख बनाने के लिए IMF तथा World Bank की भूमिका में बदलाव की अपेक्षा की है। जिस नए प्रकार की व्यवस्था की ओर हम जा रहे है, उसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

1. श्रम बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। 1965 में 7½ करोड़ व्यक्ति रोजगार की द ष्टि से दूसरे देशों में प्रवाहित हुए थे। अब यह संख्या 12½ करोड़ तक पहुंच गई है।
2. आज विज्ञान प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व के देशों में भौगोलिक दूरियों को कम कर दिया है। इसके न केवल व्यापार, तकनीकी एवं सेवा क्षेत्र बल्कि आवागमन को भी सरल एवं सस्ता बना दिया है। आज कम्प्यूटर तथा इंटरनेट तेजी से दुनिया को जोड़ रहे हैं।
3. श्रम बाजार की मांगों को पूरा करने के लिए कई व्यवस्थित माध्यम तैयार हो गए हैं। आज श्रम एजेंटों की सक्रियता से श्रमिकों का अवैध या वैध व्यापार हो रहा है। श्रम आज तक देशों में पुराने प्रवासियों के नेटवर्क के कारण नए प्रवासियों को मार्ग दर्शन मिल रहा है।
4. इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रचार के कारण ग्लोबल संस्कृति (Global Culture) का विकास हुआ है। पाप संगीत, हॉलीवुड फिल्म, जीन्स, टी शर्ट आज की युवा पीढ़ी की संस्कृति है जो विश्व के प्रत्येक देश में पाई जाती है। आज विश्व में उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ है। आज भ्रष्टाचार तथा अपराधों की प्रव ति व उन्हें रोकने के तरीके समान हैं। आज आतंकवाद का स्वरूप भी अंतर्राष्ट्रीय हो गया है।
5. आज बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रोजगार प्रदायक की हो गई है। पहले ये केवल उत्पादित वस्तुओं, सेवाओं, तकनीक आदि की ही आवाजाही के साधन थे, आज विश्व में व्यापार विशेषज्ञों, प्रबन्धकों, कुशल-अकुशल श्रमिकों की नियुक्ति इन्हीं के द्वारा की जाती है। ये श्रम प्रवाह का सबल साधन है।
6. आज शिक्षा का भूण्डलीकरण हो गया है। आज अमेरिका जैसे विकसित देशों मे ंउच्च शिक्षा के लिए जो विद्यार्थी जाते हैं, वहीं पर रोजगार प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी तरफ आज शिक्षा संस्थानों का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। किसी भी देश से शिक्षा प्राप्त व्यक्ति कहीं भी किसी भी देश में रोजगार प्राप्त कर सकता है।
7. आज ब्रेनड्रेन (Brain - Drain) की समस्या अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की हो गई है। पहले की तुलना में आज डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षाविद् तथा वैज्ञानिक अधिक मात्रा में विदेशों की तरफ आकर्षित हो रहे हैं। आज विदेश आवागमन पहले की तुलना में अधिक आसान हो गया है।

विश्वीकरण का ऐतिहासिक विकास

(Historical Development of Globalisation)

आज विश्वीकरण की अवधारणा इतनी विकसित हो चुकी है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यह अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों की प्रमुख भाषा बन गई है। यह कोई नवीन अवधारणा नहीं है। इसके बीच 1870 के आस-'पास भी मिलते हैं। उस समय भी आज की अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था जैसे लक्षण स्पष्ट रूप से मौजूद थे। आज जो देश OECD (आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन) में शामिल हैं, उन सभी प्रमुख 16 औद्योगिक देशों का सकल घरेलू उत्पादन वर्ष 1900 में 18.2 प्रतिशत था और 1913 में 21. 2 प्रतिशत हो गया था। विदेशी निवेश का भी यही हाल था। विश्व उत्पाद का 9 प्रतिशत हिस्सा निवेश में लगा हुआ था। स्थिर

कीमतों पर यह निवेश 1980 के निवेश का 4/5 भाग था, अंतर्राष्ट्रीय बाजार की स्थितियां भी एक जैसी थी, उन दिनों दो देशों के बीच सामान, पूंजी और श्रम के आवागमन पर कोई रोक नहीं थी, यातायात के साधनों के विकास ने अर्थव्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिए थे। उद्योगों में नई नई प्रबन्ध तकनीकों का प्रयोग हो रहा था, उन दिनों ब्रिटेन का विश्व के अनेक देशों पर आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व था, पाउण्ड स्टरलिंग अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा की भूमिका निभा रहा था। श्रमिकों का अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह हो रहा था। 1830 से 1880 तक 5 करोड़ श्रमिकों का विदेशों में प्रवास हुआ। 1914 तक यह प्रवास 6 करोड़ तक पहुंच गया। द्वितीय विश्वयुद्ध तक इसमें अधिक व द्धि नहीं हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आई अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के प्रयास हुए। अमेरिका ने इस व्यवस्था को अपने हाथ में लेकर अंतर्राष्ट्रीय मेलजोल के संदर्भ में स्वतन्त्र व्यापार को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अपने प्रयास तेज कर दिए। उनके प्रयासों के परिणाम स्वरूप पुरानी अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबन्धन की प्रणाली नई अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में बदल गई। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संवर्द्धन, आर्थिक विकास और विश्व के विकसित बाजारों के बीच राजनीतिक सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस नई व्यवस्था को ब्रिटेनवुड व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। इसके बाद बहुराष्ट्रीय निगमों तथा क्षेत्रीय आर्थिक उप-व्यवस्थाओं ने विश्व बाजार की तरफ अर्थव्यवस्थाओं को प्रवाहित कर दिया। 1990 के दशक में यूरोपीय व्यवस्था यूरोपीयन संघ में बदल गई। एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। इस तरह क्षेत्रीय तथा अन्तर क्षेत्रीय गठबन्धन के जरिए भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तेज होने लगी। आज बहुराष्ट्रीय निगम अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आज भूमण्डलीकरण या विश्वीकरण अपने चरम लक्ष्य के काफी समीप पहुंच गया। विश्व बाजार तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आज विश्वीकरण की प्रक्रिया का नियंत्रण अमेरिका, ब्रिटेन आदि विकसित देशों के हाथ में है।

विश्वीकरण क्यों?

(Why Globalization?)

विश्वीकरण के समान इसके पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह विश्व के सभी लोगों के लिए विकास प्राप्त कर सकता है, तथा उन्हें लगातार कायम रहने वाले विकास के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता कर सकता है। महासचिव कोफी अन्नान ने अपने भाषण के शीर्षक - "हम दुनिया के लोग : 21वीं शताब्दी में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका" में कहा कि विश्वीकरण के लाभ स्पष्ट हैं - अधिक तेज गति से विकास, रहन-सहन का उच्चतर स्तर, देशों और व्यक्तियों के लिए नए-नए अवसर। इसके लिए हमें इसमें अपना महत्वपूर्ण योगदान देना चाहिए। श्रम मानदण्ड न्यायोचित होने चाहिए, मानवाधिकारों का आदर किया जाना चाहिए और पर्यावरण की सुरक्षा करनी चाहिए।

विश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व अर्थव्यवस्था की कई रुकावटें दूर कर दी हैं। इससे व्यापार में खुलापन आया है और विदेशी निवेश के प्रति उदारता में व द्धि हुई है। इसके कारण वित्तीय व व्यापार क्षेत्र में उदार नीतियों का निर्माण किया गया है। आज जेट विमान, उपग्रह, इंटरनेट की वजह से देशकाल की सीमाएं अर्थहीन हो गई है। आज अंतर्राष्ट्रीय बाजार का उदारीकरण हो गया है। राष्ट्रीय सम्प्रभुताएं सीमाविहीन होने लगी हैं। दुनिया सिकुड़कर एक 'Global Village' बन गई है। इसने विश्व अर्थव्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए हैं। आज विश्व व्यापार पर अंतर्राष्ट्रीय निगमों का ही कब्जा हो गया है। 1970-90 के दौरान विश्व के सकल घरेलू उत्पादन में विश्व व्यापार की भागेदारी 12 प्रतिशत से बढ़कर 18 प्रतिशत हो गई है। 1980-1996 के दौरान प्रत्यक्ष पूंजी निवेश 4.8 प्रतिशत से बढ़कर 10.6 प्रतिशत हो गया है। इस दौरान अंतर्राष्ट्रीय वित क्षेत्र का भी विकास हुआ है। विदेशी मुद्रा बाजार का विकास चौंकाने वाला है। 1983 में प्रतिदिन विदेशी मुद्रा बाजार का विकास चौंकाने वाला है। 1983 में प्रतिदिन विदेशी मुद्रा बाजार में 60 अरब डॉलर का लेन देन होता था जो 1996 में 1200 अरब डॉलर तक पहुंच गया।

इस प्रकार विश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण सम्प्रभुता, स्वायत्तता और स्वतन्त्रता की संकीर्ण परिभाषाएं सिकुड़ गई हैं। संचार क्रांति और विश्वीकरण ने जातीयता को गतिशील बना दिया है। आज विश्व का प्रत्येक देश एक दूसरे के काफी पास आ गया है। भौगोलिक दूरियां समाप्त हो गई है। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध नए रूप में पेश हुए हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति व देश को आर्थिक विकास में भागेदारी के अवसर प्रदान किए गए हैं। इसलिए अधिक तेज आर्थिक विकास तथा विकास के नए अवसर प्रत्येक को प्रदान करने के लिए भूमण्डलीकरण अथवा विश्वीकरण बहुत अधिक जरूरी है।

विश्वीकरण के विपक्ष में तर्क

(Arguments Against Globalisation)

यद्यपि विश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व के देशों को कुछ लाभ भी पहुंचाया है, लेकिन उसने लोगों को नकारात्मक रूप में अधिक प्रभावित किया है। इसके लाभ न्यायोचित व समान नहीं हैं। विश्व बाजार अब तक सहभागी सामाजिक लक्ष्य पर आधारित नहीं हो सकता है। इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-

1. विश्वीकरण कमजोर देशों के लिए हानिकारक है। पार-सीमा व्यापार तथा निवेश कमजोर देशों के आर्थिक हित में नहीं है। यह इन देशों में लोकतन्त्रीय नियंत्रण को शिथिल कर देता है। इसमें आर्थिक सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्धों पर भारी पड़ते हैं। इसमें मुक्त व्यापार तथा सुरक्षावाद के बीच टकराव पैदा हो जाता है।
2. विश्वीकरण विकसित देशों के हितों का पोषक है। बड़ी बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विकसित देशों के हितों के संवर्द्धन में ही कार्य करती है। इसके कारण उत्पादकता तथा निवेश दरें काफी गिरी हैं। बढ़े हुए वित्तीय प्रवाह ने पूंजी बाजारों में अधिक तरलता तथा वास्तविक ब्याज दरों को काफी ऊँचा किया है। इससे शेयरों की खरीद तथा सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला है। इस प्रक्रिया ने विकसित देशों को ही ज्यादा लाभ पहुंचाया है, विकासशील देशों को नहीं।
3. इसने विकसित और विकासशील देशों के बीच आय की असमानता को बढ़ा दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने कम वेतन पर ही अच्छा कारोबार करके विकसित देशों को अधिक लाभ पहुंचाया है। 1960 में यह अन्तर 30:1 का था, जो अब 82:1 का हो गया है। इसी कारण विकासशील देश पूंजी पलायन का सहन करके भी विदेशी पूंजी निवेश को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं।
4. इसने विकासशील देशों पर ऋणों के भार को बढ़ा दिया है और इससे विश्व में वित्तीय संकट आने की संभावना बढ़ गई है।
5. विश्वीकरण का संस्थागत ढांचा भी भेदभावपूर्ण है। इसमें एक तरफ तो व्यापार तथा पूंजी प्रवाह को मुक्त आधार प्रदान किया गया है और दूसरी तरफ तकनीक तथा श्रम प्रवाह को रोका जा रहा है। विकसित देशों की तो यह इच्छा है कि विकासशील देश अपने बाजारों को उनके लिए खोल दें लेकिन तकनीकी हस्तांतरण की मांग न करें।
6. यह प्रक्रिया राष्ट्रीय सम्प्रभुता का हनन करती है। विश्व व्यापार संगठन के दायरे में राष्ट्रीय सम्प्रभुता के विषय भी आ गए हैं। विश्वीकरण किसी राष्ट्र की आर्थिक गतिवधियों और सामाजिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करने में सक्षम हैं।
7. इससे स्थानीय व्यापारिक हितों को अधिक हानि हो रही है। इसने स्थानीय व्यापारिक निगमों को बहुराष्ट्रीय निगमों का पिछलग्गू बना दिया है।
8. यह नव-उपनिवेशवाद को मजबूत बना रहा है। मौजूदा विश्व आर्थिक संस्थाएं विकसित देशों को लाभ पहुंचा रही हैं और विकासशील देशों का शोषण कर रही हैं।

इस प्रकार विश्वीकरण की प्रक्रिया ने विकासशील देशों को ही अधिक नुकसान पहुंचाया है। इसने लोकतंत्र को कमजोर किया है। इसने आर्थिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति पर हावी कर दिया है। इससे बहुराष्ट्रीय निगम विकसित देशों के हितों में कार्य करने वाली संस्था बन गए हैं। इसमें अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं IMF, WTO, World Bank विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं को सुद ढ़ करने की दिशा में ही कार्य कर रहे हैं। आज अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौते विशिष्ट व्यापारिक वर्ग के हितों के पोषक हो गए हैं, इसने विकसित देशों के उद्योगों की तो सुरक्षा की है, लेकिन विकासशील देशों के उद्योगों को पतन की ओर धकेल दिया है। इसने विकसित तथा विकासशील देशों में आय के अन्तर को अधिक बढ़ा दिया है।

इन कमियों के बावजूद भी यह कहा जा सकता है। कि इस प्रक्रिया ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ और इससे संबंधित आर्थिक संस्थाओं की भूमिका के महत्व को बढ़ा दिया है। इसमें अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया है। इसलिए आवश्यकता इसको समाप्त करने की नहीं है, बल्कि आवश्यकता इसके संकीर्ण लक्ष्यों को समाप्त करने की है। इसके लिए मुक्त व्यापार नीतियों को दबाव मुक्त बनाया जाना चाहिए। विश्व के सभी देशों को अत्यधिक सहयोग देना चाहिए। वर्तमान विश्व आर्थिक संस्थाओं की कुशलता में व द्धि की जानी चाहिए। आज WTO के विश्वव्यापी खतरों से निपटने के लिए काफी सहयोगी की आवश्यकता है। इसलिए इसके आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दुष्प्रभावों को समाप्त करके अंतर्राष्ट्रीय विकास एवं सम द्धि की प्रक्रिया के रूप में इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाए। इससे विश्वीकरण के लाभ विकासशील देशों को भी मिलने लगेंगे और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में एक नए युग की शुरुआत होगी।

अध्याय-8
नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था
(New International Economic Order)

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के सामने सबसे बड़ी समस्या आर्थिक विकास की थी। इन सभी राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतन्त्र भूमिका अदा करने के रास्ते में आर्थिक साधनों की कमी आड़े आई। अधिकतर नवोदिन राष्ट्रों को अपने आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों का मुंह ताकना पड़ा। विकसित देशों ने आर्थिक सहायता के नाम पर उनके ऊपर इतनी अधिक कठोर शर्तो लगा दी कि ये सभी देश एक एक करके नए प्रकार के साम्राज्यवाद के शिकार हो गए, जिसे आर्थिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है। इसके अंतर्गत दी जाने वाली आर्थिक सहायता प्रदान करने वाली आर्थिक संस्थाओं की शर्मनाक भूमिका के कारण सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति अत्यंत चिन्ताजनक होती गई। इससे विकसित व नवोदित विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों में गहरी खाई उत्पन्न हो गई। इसने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अधिक शोषणपूर्ण तथा भेदभावपूर्ण बना दिया और विकासशील देशों को इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने को बाध्य कर दिया। धीरे-धीरे त तीय विश्व (विकासशील) के देशों में एकता व एकीकरण के प्रयास तेज होने लगे जिनका उद्देश्य नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग करना था ताकि विकसित और विकासशील देशों के डील की आर्थिक असमानता को कम किया जा सके। इस तरह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग का जन्म हुआ और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1974 में महासभा के विशेष अधिवेशन में इसका अनुमोदन कर दिया गया।

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ
(Meaning of New International Economic Order)

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य वर्तमान भेदभावपूर्ण आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण नए सिरे से करना है। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के समर्थक देशों का मानना है कि विकसित और विकासशील देशों में गहरी आर्थिक असमानता है। वर्तमान व्यवस्था धनी या विकसित देशों के हितों की ही पोषक है। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करके इसे न्यायपूर्ण व समान बनाना है ताकि यह विकासशील देशों के भी हितों की पोषक बन जाए। इसका प्रमुख ध्येय नव-उपनिवेशवाद को समाप्त करके अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं को अधिक तर्कसंगत बनाना है ताकि थोड़े से विकसित देशों द्वारा बड़ी संख्या वाले विकासशील देशों के आर्थिक शोषण को रोका जा सके।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वर्तमान भेदभावपूर्ण व आर्थिक असमानता पर आधारित अर्थव्यवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से त तीय विश्व के देशों द्वारा उठाई गई मांग है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध न्यायपूर्ण व अधिक तर्कसंगत बने और नव-उपनिवेशवाद के सभी साधन इस तरह से संचालित हों कि विकासशील देश भी विकसित देशों की तरह आर्थिक विकास के मार्ग पर चल सकें।"

साधारण शब्दों में, नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वर्तमान अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नए सिरे से स्थापित करने का मार्ग है ताकि विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों का औपनिवेशिक शोषण रुक जाए और विश्व की आय तथा साधनों का न्यायपूर्ण व समान बंटवारा हो ताकि उत्तर-दक्षिण का अन्तर समाप्त हो जाए।

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्त
(Basic Principles of NIEO)

वर्तमान पक्षपातपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य विद्यमान आर्थिक समानता को कम करना है ताकि विकासशील देश भी आर्थिक

विकास के रास्ते पर चल सकें। इसके लिए विकासशील देशों ने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के बारे में कुछ सिद्धान्त बताएं हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. विश्व मुद्रा प्रणाली का सामान्यीकरण करना
2. विकासशील तथा विकसित देशों के बीच विद्यमान तकनीकी भेद को कम करना
3. विकसित देशों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के वित्तीय बोझ को कम करना
4. बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं को तर्कसंगत बनाना
5. विकासशील देशों को विकसित देशों के साथ व्यापार की वरीयता देना
6. विकासशील देशों द्वारा उत्पादित औद्योगिक माल के निर्यात को प्रोत्साहन देना
7. कच्चे माल की कीमत घटना-बढ़ाने की प्रव ति का विरोध तथा कच्चे माल व तैयार माल की कीमतों में कम अन्तर होना
8. कच्चे माल तथा समस्त आर्थिक क्रियाकलापों पर राष्ट्रीय सम्प्रभुता को स्वीकार करना।

उपरोक्त सभी सिद्धान्त नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक हैं। ये एक तरह से विकासशील देशों द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना करने हेतु सुझाई गई प्रमुख बातें हैं। इन्हीं पर नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ढांचा खड़ा किया जा सकता है।

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ऐतिहासिक विकास

(Historical Development of NIEO)

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग सर्वप्रथम 1962 में आयोजित गुटनिरपेक्ष देशों के काहिरा सम्मेलन में उठाई गई, इसके बाद 1970 के लुसाका गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में इसी बात को दोहराया गया। 1973 में गुटनिरपेक्ष देशों के अलजीयर्स सम्मेलन में धनी या विकसित देशों की शोषक प्रव ति को बढ़ावा देने वाली अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का घोषणा पत्र अपनाया गया। इसमें प्राकृतिक देशों को तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने, उनके व्यापार को वरीयता देने तथा बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने का सिद्धान्त अपनाया गया। इसके बाद 1975 के लीमा सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों द्वारा निर्यातित कच्चे माल के मध्यवर्ती भण्डारों तथा प्राथमिक उत्पादों के लिए वित्तीय सहायता देने हेतु एक संचित कोष की स्थापना करने पर सहमति हुई। 1975 में ही विकसित तथा विकासशील देशों के 28 प्रतिनिधियों ने पेरिस में बैठक की। इसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की समस्या पर विचार करना था लेकिन इसके कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। 1976 के कोलम्बो गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में भी इस बारे में विचार किया गया। इसमें विकासशील देशों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देने की बात कही गई।

1981 की केनकुन शिखर वार्ता में भी विकासशील तथा विकसित देशों के बीच विश्व अर्थव्यवस्था सम्बन्धी वार्तालाप हुआ। लेकिन यह वार्ता उत्तर-दक्षिण के आर्थिक सम्बन्धों पर सर्वमान्य निर्णय तक नहीं पहुंच सकी। 1982 में नई दिल्ली में दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने के लिए एक बैठक का आयोजन हुआ। इसमें सामूहिक आत्मनिर्भरता के लिए सहयोग के महत्व को सर्वसम्मति से मान्यता देने के साथ यह सम्मेलन समाप्त हो गया। इसके बाद रक्षिण दक्षिण सहयोग पर जुलाई 1985 को नई दिल्ली में बैठक हुई। इसमें भी सामूहिक आत्म-निर्भरता के लिए कार्य करने का आह्वारन किया गया। इसके बाद जून 1987 में दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर गुटनिरपेक्ष देशों की बैठक हुई। यह नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की ओर अच्छा कदम था। इसके बाद मार्च 1988 में दक्षिण-दक्षिण आयोग की बैठक कुआलालम्पुर में हुई। इसमें विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं से लड़ने के लिए एक बहुमुखी रणनीति का निर्माण करने पर विचार हुआ। इसके बाद G-15 की बैठक 1990 में कुआलालम्पुर में हुई। G-15 विकासशील देशों का एक समूह है। इसमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने के प्रयास किए गए। G-15 की कारकास बैठक में यह कहा गया कि विकासशील देश भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महान भूमिका निभा सकते हैं। इसलिए त तीय विश्व की एकता व सहयोग पर बल देना चाहिए। इसमें क्षेत्रीय तथा उपक्षेत्रीय व्यापार संगठन कार्यक्रमों को त तीय विश्व के हितों में तकनीकी हस्तांतरण पर निर्भर हुआ। इसमें G-7 के साथ निरन्तर वार्तालाप को जारी रखने की वचनबद्धता को भी दोहराया गया। इसके बाद G-15 का नई दिल्ली में शिखर सम्मेलन हुआ। इसमें दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का लोकतन्त्रीकरण करने की मांग का समर्थन किया गया। इसके बाद G-15 के

ब्यूनेस ऐरिस सम्मेलन में G-7 के साथ सभी अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर वार्तालाप शुरू करने की सिफारिश की गई। इसमें वर्तमान विश्वीकरण की प्रक्रिया को विकासशील देशों के हितों के विपरीत बताया गया। इसके बाद G-15 की जमैका बैठक में विश्व आर्थिक व्यवस्था में विकासशील देशों को अधिक महत्व दिए जाने तथा इसमें संस्थागत सुधारों की मांग की गई। G-15 के काहिरा (2000) सम्मेलन में भी असमान विश्व अर्थव्यवस्था पर विचार किया गया और WTO को अपने उत्तरदायित्वों को विकसशील देशों की समस्याओं के सन्दर्भ में निर्धारित करने का आह्वान किया। इस तरह G-77, दक्षिण-दक्षिण सहयोग, G-15 गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आदि द्वारा NIEO की मांग बार बार उठाई जाती रही है। लेकिन विकसित राष्ट्रों का रुख अब तक नकारात्मक ही रहा है।

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग के निर्धारक तत्व

(Factors Deteminating the Demand for NIEO)

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों ने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को नए ढंग से स्थापित करने की जो पुरजोर मांग की है, उसके पीछे कुछ ठोस कारण हैं। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को जन्म देने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

1. **नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) :** नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों पर पुराना साम्राज्यवादी नियंत्रण तो समाप्त हो चुका है और उसकी जगह नए प्रकार के साम्राज्यवाद ने ले ली है। इसे नव उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। आज अधिकतर विकासशील या पिछड़े देश विकसित देशों के उपनिवेशीय नियंत्रण में रह रहे हैं। राजनीतिक रूप से देखने मे ंतो विकासशील देश प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं लेकिन व्यवहार में विकसित देशों द्वारा नव उपनिवेशीय नियंत्रण के रूप में उनकी राजनीतिक क्रियाओं में पूरा हस्तक्षेप है। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ये देश निरन्तर आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता के रूप में विकसित देशों की अन्यायपूर्ण आर्थिक नीतियों का शिकार हैं। उनकी दयनीय आर्थिक स्थिति के लिए साम्राज्यवादी शक्तियां भी उत्तरदायी हैं। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भी इन विकसित देशों ने इनका आर्थिक शोषण किया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यह प्रक्रिया बन्द नहीं हुई। विकासशील देशों की वित्तीय सहायता प्राप्त करने की आर्थिक मजबूरियां नव उपनिवेशीय शोषण की प्रव ति का ही परिणाम हैं। आज नव उपनिवेशवाद के अंतर्गत सैनिक सहायता, बहुराष्ट्रीय निगम, संरक्षणवादी व्यापार, संधियों में साझेदारी, हस्तक्षेप आदि साधनों द्वारा विकसित राष्ट्र विकासशील देशों को अपनी आर्थिक नीतियों का शिकार बना रहे हैं। आज WTO, IMF जैसी विश्व आर्थिक संस्थाएं भी इन विकसित देशों के हितों की ही पोषक हैं। इसलिए इस नव-उपनिवेशीय नियंत्रण को विकासशील राष्ट्र समाप्त करने की दिशा में ठोस उपाय कर रहे हैं। दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयास करना इसी का परिणाम है ताकि क्षेत्रीय सहयोग में व द्धि करके तथा विकसित देशों पर पारस्परिक अन्तर्निर्भरता में कमी करके उपनिवेशीय नियंत्रण में कमी लाई जा सके। दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देना नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ही एक सिद्धान्त है। जो NIEO की मांग में व द्धि करता है।

2. **बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जापूर्ण भूमिका (The Inglorious Role of the Multinational Corporations)** ये निगम विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में दीमक की तरह प्रवेश कर रहे हैं और अपनी कार्यप्रणाली द्वारा उनकी अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचा रहे हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि विकसित देशों के 800 बड़े बड़े बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में विकसित राष्ट्रों की भुजा के रूप में कार्य कर रहे हैं। विकासशील देशों में पूंजी निवेश करके इनको कई गुणा मुनाफा प्राप्त हो रहा है। समस्त विश्व के कुल उत्पादन के 50 प्रतिशत से अधिक भाग पर इनका ही कब्जा है। विकसित देशों की विकसित तकनीक इनका प्रमुख साधन है। जिसके बल पर ये विकासशील देशों में कच्चे माल को तैयार माल में बदलकर वही मंडियों में बेचकर भारी लाभ प्राप्त कर रहे हैं। भारत जैसे अति विकासशील देश भी इनके जाल में फंसते जा रहे हैं। कम विकासशील देशों की स्थिति तो ज्यादा बदतर है। इन निगमों ने विकासशील देशों की मंडियों और तकनीक के रास्ते में बहुत सारी रुकावटें पैदा कर रखी हैं जिससे विकासशील देशों की उत्पादित वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाती हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका के कारण विकासशील देश लगातार कच्चे माल की मंडियां बनती जा रही हैं और इस पर विकसित राष्ट्रों की पकड़ मजबूत होती जा रही है। विकासशील देशों के पास बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पैदा किए गए अवरोधों की कोई काट नहीं है। ये निगम नव-उपनिवेशवाद का एक मजबूत साधन होने के नाते विकसित देशों के हितों में ही व द्धि कर रहे हैं और विकासशील देशों का भरपूर आर्थिक शोषण कर रहे हैं। आज अधिकतर विकासशील देश विकसित देशों की इस चाल को समझ

चुके हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम भी विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर पिना नियंत्रण स्थापित करने का एक साधन हैं। इसलिए विकासशील देश बहु-राष्ट्रीय निगमों की शोषणकारी भूमिका को समान्त करने के उद्देश्य से नई अंतराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की मांग करते हैं।

3. **उत्तर तथा दक्षिण देशों में गहरा अन्तर (The wide gap between the North and South Countries) -** आज उत्तर-दक्षिण में गहरी खाई है। उत्तर के विकसित देश जो 30 प्रतिशत जनसंख्या वाले हैं, विश्व के 70 प्रतिशत जनसंख्या वाले विकासशील देशों पर अपना आर्थिक वर्चस्व कायम किए हुए हैं। विकासशील देशों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय औसतन 100 पौंड है, जबकि विकसित देशों में यह 3000 से 6000 पौंड तक है। आज विकासशील देशों में आर्थिक विकास के नाम पर गरीबी, भुखमरी, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएं विद्यमान हैं, जबकि विकसित देश विलासितापूर्ण जीवन जी रहे हैं। ये सभी देश विकासशील देशों का आर्थिक शोषण करके ही फल-फूल रहे हैं। आज विकासशील देशों के पास शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए आर्थिक साधनों की कमी आड़े आ रही है। इन देशों में लोगों को भरपेट भोजन भी नहीं मिल रहा और कुपोषण की समस्या निरंतर बढ़ रही है। विश्व अर्थव्यवस्था के असंतुलित विकास ने विकासशील देशों की समस्याओं को और अधिक बढ़ाया है। इससे उत्तर-दक्षिण में गहरा अन्तर पैदा हो गया है। विकासशील देशों की यही मांग है कि विश्व अर्थव्यवस्था का नए रूप में गठन हो ताकि विकसित व विकासशील देशों में पैदा हुई गहरी खाई को पाटा जा सके। अर्थात् नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना ही विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील देशों का आर्थिक शोषण रोककर उत्तर दक्षिण के अन्तर को कम कर सकती है।

4. **विकसित और विकासशील देशों में निरन्तर बढ़ता अन्तर (Ever-Widening Gap between the Developed and Developing Countries)** आज अमीर राष्ट्र और अमीर होते जा रहे हैं और गरीब राष्ट्र अधिक गरीब होते जा रहे हैं। यह सब वर्तमान अन्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का ही परिणाम है। इसी से विकसित तथा विकासशील देशों में अन्तर निरन्तर बढ़ रहा है। ऊर्जा संकट ने विकसित देशों को उन्नत तकनीक के बल पर विकासशील राष्ट्रों का शोषण करने के योग्य बनाया है। इसने उत्तर दक्षिण के अन्तर को बढ़ाया है। आज UNCTAD तथा GATT जैसी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं भी इस अन्तर को कम करने में नाकामयाब रहे हैं। इन संगठनों की प्रव ति भी विकसित देशों की ओर ही है। इन्होंने विकासशील देशों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। ऊर्जा संकट, विश्व व्यापार में कड़ी प्रतिस्पर्धा, बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका, विश्व व्यापार संगठन (WTO) की अपर्याप्तता, विकासशील राष्ट्रों को प्राप्त होने वाली कम आर्थिक सहायता, विकासशील देशों का तकनीकी पिछड़ापन आदि ने उत्तर दक्षिण (विकसित विकासशील) के अन्तर में व द्धि करने में सहायता की है। इससे विकासशील देशों में मुद्रा स्फीति की दर बढ़ रही है और उनका भुगतान संतुलन का घाटा अत्यंत रूप से बढ़ चुका है। जिसे नियंत्रित करना विकासशील देशों के वश की बात नहीं है। आज तीसरा विश्व भयानक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के दौर से गुजर रहा है। विश्व व्यापार में विकासशील देशों का योगदान निरन्तर घट रहा है। आज त तीय विश्व के देश मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित हैं। विश्व के विकसित देशों का विलासपूर्ण जीवन निरंतर बढ़ रहा है। 1990 के बाद तो विकासशील देशों का आर्थिक पिछड़ापन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इससे विकासशील देशों का चिन्तित होना स्वाभाविक है। इसलिए वे इस अन्तर को कम करके न्यायपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात करते हैं।

5. **विश्व की आय व साधनों का एक पक्षीय शोषण-** आज विश्व के थोड़े से ही विकसित राष्ट्र बहुसंख्यक विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक साधनों पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं और ऐसा करके वे विकासशील राष्ट्रों का आर्थिक शोषण कर रहे हैं। तकनीकी ज्ञान के बल पर विकसित राष्ट्र आर्थिक साधनों पर अपने वर्चस्व को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं। इनका कच्चे माल और निर्मित माल पर पूरा एकाधिकार है। वे विकासशील देशों को कच्चा माल बेचने तथा तैयार माल बेचने के उद्देश्य में नव-उपनिवेशीय तरीकों का प्रयोग करके सफल हो जाते हैं। उनका ध्येय अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। इसलिए वे त तीय विश्व को इसके सर्वथा अनुकूल समझते हैं और उसके आर्थिक साधनों का खूब शोषण करते हैं। IMF, Bank, तथा WTO भी उसकी इस काम में पूरी मदद करते हैं। इनकी आड़ में विकसित देश विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करके अपने आर्थिक हितों को ही पोषित करते हैं। ये संस्थाएं ही उनके आर्थिक साम्राज्यवाद को सुद ढ़ बनाती हैं और विश्व के आर्थिक साधनों को एक पक्षीय झुकाव में सहायता करती है। इससे त तीय विश्व के देशों का आर्थिक शोषण बढ़ जाता है और NIEO की मांग का उदय होता है।

6. **बढ़ती अंतर्निर्भरता (Increasing Interdependence)** - आज विश्व के विकसित तथा विकासशील राष्ट्रों में पारस्परिक निर्भरता में लगातार व द्धि हो रही है। विकसित देशों को कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने के लिए मंडियों की आवश्यकता है जिसे विकासशील देश ही पूरा कर सकते हैं। इसी तरह कम-विकसित या विकासशील देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता व तकनीकी ज्ञान प्राप्त करने के लिए विकसित देशों की ओर देखना पड़ रहा है। लेकिन विकसित राष्ट्र विकासशील देशों का शोषण करने की नीतियों को अमल में ला रहे हैं। विकसित तकनीक तथा राजनीतिक व सैनिक श्रेष्ठता के बल पर विकसित राष्ट्र विकासशील देशों पर अपना आर्थिक नियंत्रण सुद ढ़ कर रहे हैं। विकासशील देशों का यह सोचना कि पारस्परिक अन्तर्निर्भरता से उनका भला होगा, गलत साबित हो रहा है। पारस्परिक अन्तर्निर्भरता ने आज विकसित राष्ट्रों की भूमिका को नकारात्मक बना दिया है। इसने नव-उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया है। इसलिए विकासशील राष्ट्र यह अनुभव करने लगे हैं कि सार्वभौमिक अंतनिर्भरता के कारण वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था अधिक अप्रासांगिक बन गई है। इसलिए इसे अधिक न्यायसंगत बनाने के लिए इसकी पुनः संरचना करना आवश्यक हो गया है। लेकिन विकसित राष्ट्र इसका विरोध करके इसके मार्ग में बाधाएं उत्पन्न कर रहे हैं।

7. **गैट तथा विश्व व्यापार संगठन की अप्रभावशीलता (Ineffectiveness of GATT and WTO)** इन संगठनों का निर्माण इसलिए हुआ था कि इससे बहुपक्षीय व्यापार को बढ़ावा मिले। पहले यह काम GATT का था, अब WTO करता है। इसकी स्थापना का उद्देश्य सदस्य देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाना है। अंतर्राष्ट्रीय सन्धियों के तहत इसे विश्व व्यापार के पुलिसमैन की भूमिका अदा करें। लेकिन आज नया GATT या WTO विकसित और विकासशील देशों की समस्याओं का हल करने में नाकामयाब रहा है। इसने श्रम कानूनों, पेटेंट तथा कॉपीराइट के बारे में कानूनों को और अधिक जटिल बना दिया है। आज आलोचक यह कहते हैं कि WTO बहुराष्ट्रीय निगम के लिए विश्व विजय का प्रतीक है। इससे विकासशील देशों को आर्थिक शोषण में व द्धि हुई है। इसलिए त तीय विश्व के देश नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना की पुरजोर मांग करते हैं ताकि न्यायपूर्ण आर्थिक सम्बन्धों का विकास हो।

8. **नई अंतर्राष्ट्रीय प्रव त्तियां (New International Trends)** 1990 के बाद शीत युद्ध के अन्त ने त तीय विश्व की समस्याओं को और अधिक बढ़ा दिया है। आज विकसित देशों का रुख पूर्वी यूरोप के देशों की ओर है। अये देश पूर्वी यूरोप को अधिक से अधिक आर्थिक लाभ पहुंचा रहे हैं ताकि वहां पर साम्यवाद का अजगर सिर से न आ जाए। इससे विकासशील देशों को आर्थिक सहायता बहुत कम ही मिलने लगी है। इसने उनकी आर्थिक विकास की गति को बहुत धीमा कर दिया है। इसलिए त तीय दुनिया के देश और अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए विश्व अर्थव्यवस्था को न्यायपूर्ण व समान बनाने की वकालत करते हैं।

9. **ब्रेटनवुड की असफलता (The Failures of Brettonwood)** वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ब्रेटनवुड में हुए व्यापार समझौते के ही तहत हो रहा है। इसने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अन्यायपूर्ण व असमान बना दिया है। बढ़ते भुगतान घाटे तथा भेदभावपूर्ण ऋण व्यवस्था ने यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था अन्यायपूर्ण है। यह विकसित देशों की शोषणकारी प्रव त्ति को और अधिक बढ़ावा दे रही है। इससे विकासशील देशों के हितों की बजाय विकसित देशों के ही हितों का पोषण हो रहा है। इसलिए विकासशील देश वर्तमान ब्रेटनवुड प्रणाली को समाप्त करके अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को अधिक सामान्य बताना है ताकि विकासशील देशों को भी व्यापार में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने का अवसर प्राप्त हो और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना हो।

इस प्रकार उत्तर-दक्षिण में गहरे अन्तर, सावैभौतिक पारस्परिक अन्तर्निर्भरता, नव-उपनिवेशवाद, आर्थिक साधनों का एक पक्षीय शोषण, बहुराष्ट्रीय निगमों की अन्यायपूर्ण भूमिका, WTO की अपूर्णता आदि तत्वों ने मिलकर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को सुद ढ़ बनाया है। आज विकासशील देश अपनी इस मांग को जोरदार रूप में उठा रहे हैं; लेकिन यह मांग एक मांग ही बना हुई है। इसे वास्तविकता बनाने में न जाने कितना समय लगेगा।

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख मुद्दे व धारणाएं

(Major Issues and Themes of NIEO)

आज अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा में कई विषय तथा समस्याएं शामिल की गई हैं। इन समस्याओं का समाधान उत्तर दक्षिण वार्ताओं पर निर्भर करता है। यदि इन समस्याओं का उचित समाधान करने में विकासशील व विकसित देशों को सफलता

मिल जाए तो विश्व में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना होगी और सभी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध नए सिरे से स्थापित होने लगेंगे। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा के प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित हैं-

1. **वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में संस्थागत परिवर्तन (Institutional Change in the Present World Economic Order)** - आज विश्व अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाली सभी संस्थाएं विकसित राष्ट्रों के हितों की पोषक हैं। आर्थिक संबंधों को संचालित व नियंत्रित करने वाले सभी नियम भी अन्यायपूर्ण हैं जो आर्थिक विषमताओं में व द्धि करने वाले हैं। इसलिए विकासशील देशों की यह बात उचित है कि विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाएं विकसित राष्ट्र के हितों में कार्य करती है। अतः इनका पुनर्गठन किया जाना चाहिए। GATT भी धनी तथा विकसित राष्ट्रों को लाभ पहुंचाने वाला है। उरुग्वे वार्ता भी विकसित राष्ट्रों के पक्ष में है। वर्तमान पेटेन्ट कानून व कॉपीराइट भी विकसित देशों की अर्थव्यवस्था में लाभकारी स्थिति पैदा करते हैं। इसलिए विश्व आर्थिक संस्थाओं व उनकी कार्यप्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक है तथा न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था पर आधारित न्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों का जन्म हो।

2. **अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व व्यापार में संरक्षणवाद की नीति का अन्त (End of the policy of Portectionism in International Economy and Trade)** - वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था विकसित राष्ट्रों की संरक्षणवादी व्यापार नीति पर आधारित है। इस नीति के तहत विकसित देश विकासशील देशों के व्यापार पर मनमाने अंकुश लगाकर अप्रत्यक्ष रूप से उनके व्यापार को हानि पहुंचा रहे हैं। इन देशों ने GATT के नियमों को भी ताक पर रख दिया है और अपनी संरक्षणवादी नीति को ही सबल आधार प्रदान करने में लगे हुए हैं। इन विकसित देशों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विकासशील देशों का कोटा पहले से भी कम कर दिया है। जूता व कपड़ा उद्योग पर अनेक प्रतिबंध से परिपूर्ण शर्तें थोपकर इन देशों ने विकासशील देशों के व्यापार को क्षति पहुंचाई है। कठोर प्रतिबंधों के कारण इनका निर्यात लगातार घट रहा है और भुगतान संतुलन का घाटा लगातार बढ़ रहा है। आज भी इंग्लैंड तथा ब्रिटेन जैसे देश विलासिता की वस्तुओं तथा लोहे जैसी आवश्यक धातु से निर्मित सामान पर भी सीमित कोटा प्रणाली लगाने पर विचार कर रहे हैं। इन संरक्षणवादी नीतियों के कारण विकासशील देश लगातार हानि उठा रहे हैं। उनका आयात तो बढ़ रहा है, लेकिन निर्यात घट रहा है। ऐसी स्थिति में उनकी अर्थव्यवस्थाएं बर्बादी के कगार पर पहुंचने वाली हैं। अतः विकासशील देशों की यह मांग सही है कि संरक्षणवादी व्यापार नीति पर प्रतिबंध लगाया जाए और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लक्ष्य की ओर बढ़ा जाए।

3. **बहुराष्ट्रीय निगमों की लज्जास्पद भूमिका पर नियंत्रण (Control over the inglorious role of the Multinational Corporations)** - आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगम एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इनका सभी अंतर्राष्ट्रीय पेटेन्टों पर नियंत्रण है। अपने तकनीकी ज्ञान के बल पर इनका समस्त विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था व आर्थिक नीतियों पर प्रभुत्व है। तकनीक को जब ये तीसरी दुनिया के देशों को बेचते हैं तो इनका लाभ कई गुणा बढ़ जाता है। इसलिए विकासशील देशों को आर्थिक साधनों की कमी के चलते भारी कीमत पर तकनीक खरीदनी पड़ती है। साथ में ही उन देशों को बहुराष्ट्रीय निगमों के अनुचित हस्तक्षेप को भी सहना पड़ता है। इनकी लज्जास्पद भूमिका के कारण विकासशील देशों को भारी हानि उठानी पड़ती है। इस नव-उपनिवेशीय (Neo-Colonialism) नियंत्रण के कारण विकसित तथा विकासशील देशों में आर्थिक असमानता ज्यादा बढ़ जाती है। विकासशील देशों में ये निगम वहां की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यप्रणाली को भी प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं ताकि उनका उपनिवेशीय नियंत्रण और मजबूत बन जाए। कई बार तो ये विकासशील देशों में तख्ता पलट जैसी घटनाओं को सफलतापूर्वक अंजाम दे देते हैं। इसलिए वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में इनकी भेदभावपूर्ण भूमिका के कारण, विकासशील देश इनके लिए एक आदर्श आचार संहिता के निर्माण पर जोर देते हैं ताकि इनकी भूमिका स्वस्थ आर्थिक सम्बन्धों का निर्माण करने में मददगार सिद्ध हो और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का प्रवाह हो।

4. **वस्तु उत्पादकों के हितों का संरक्षण (Protection of the Interests of the commodity producers)**आधुनिक युग सार्वभौमिक पारस्परिक आत्मनिर्भरता का युग है। इसमें विकासशील देशों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु उनकी भूमिका को विकसित देशों की तुलना में कम आंका जाता है। अपने हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें विकसित देशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उनकी उत्पादित वस्तुओं को विकसित देशों की संरक्षणवादी व्यापारिक नीति तथा खुली प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इसमें उनको असफलता का मुंह देखना पड़ता है। इससे विकासशील देशों को

कम निर्यात से ही संतुष्ट होना पड़ता है। विकसित देशों द्वारा कच्चे माल व तैयार माल की कीमतों व कीमत घटाने-बढ़ाने की प्रव ति के कारण भी उन्हें भारी हानि उठानी पड़ती है। इससे त तीय विश्व के देशों में निर्धनता का प्रतिशत लगातार बढ़ रहा है। इसलिए विकासशील देशों की यह मांग है कि वर्तमान संरक्षणवादी नीति को समाप्त करके न्यायपूर्ण नीति बनाई जाए। कच्चे माल की कीमतें स्थित रखी जाएं ताकि विकासशील देशों को आर्थिक नुकसान न उठाना पड़े। कीमतों को घटाने या बढ़ाने की नीति अंतर्राष्ट्रीय समझौते के तहत ही निर्धारित की जाए ताकि विकासशील देशों को अधिक नुकसान न हो। इससे विकासशील देशों का आर्थिक नुकसान कम होगा। व्यापार में उनकी भागेदारी निर्यातक के रूप में बढ़ेगी और असमान आर्थिक सम्बन्धों में बदलाव आकर नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सकेगी।

5. **विकासशील देशों की आत्मनिर्भरता में व द्धि (Increase in the Self-reliance of Developing Countries)** - आधुनिक युग में सभी विकासशील राष्ट्रों का ध्येय आत्मनिर्भरता को प्राप्त करना है। आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था उनकी आत्मनिर्भरता को पारस्परिक निर्भरता में बदलने वाली है। वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में विकासशील देशों को आत्मनिर्भर बनाने जैसे तत्वों का सर्वथा अभाव है। विकासशील देशों में निर्धनता, बेरोजगारी, भुखमरी जैसी समस्याओं का ढेर है। अब विकासशील देश इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ एकजुट हो चुके हैं। वे चाहते हैं कि विकासशील देश पारस्परिक सहयोग की भावना के आधार पर ही अपनी आत्मनिर्भरता में व द्धि करें। यद्यपि वे यह भी जानते हैं कि विकसित राष्ट्रों पर उनकी निर्भरता आसानी से कम नहीं हो सकती। फिर भी वे पारस्परिक निर्भरता के स्थान पर आत्मनिर्भरता के प्रयास करने की दिशा में क तसंकल्प हैं। इसी से नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास होगा और विकासशील देशों का यह आत्मनिर्भरता का लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त होगा।

6. **तकनीकी आदान-प्रदान (Transfer of Technology)** - तकनीकी ज्ञान आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण साधन होता है। विकासशील देशों में आर्थिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण उनके पास उन्नत तकनीक का न होना हैं ये देश कच्चे माल को तैयार माल में बदल तो देते हैं, लेकिन विकसित देशों में उत्पादन वस्तुओं की तुलना में कम गुणवत्ता के कारण उनका माल अंतर्राष्ट्रीय बाजार स्पर्धा में पिछड़ जाता है। इसलिए विकासशील देशों का आर्थिक विकास उन्नत तकनीकी विकास पर ही निर्भर है। यह तकनीक विकसित देशों के पास है। विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से इसे भारी कीमतों पर बेचते हैं। इससे असमान आर्थिक संतुलन पैदा होता है। विकासशील राष्ट्रों की यही मांग है कि तकनीकी हस्तांतरण को सरल बनाया जाए ताकि कम कीमत पर इसे विकासशील देश भी खरीद सकें। लेकिन विकसित देश इस मांग को अनुचित बताते हैं। इसलिए नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य भी तकनीकी आदान-प्रदान को सरल बनाकर उसको विकासशील देशों तक कम कीमत पर पहुंचाना है। इसी से NIEO की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

7. **पूंजी स्त्रोतों का हस्तांतरण (Transfer of Capital Resources)** - आज विश्व के विकसित देशों का अधिकतर पूंजी स्त्रोतों पर कब्जा है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख ध्येय इन पूंजी स्त्रोतों का विकेन्द्रीकरण करके इनका लाभ विकासशील देशों तक भी पहुंचाना है। पूंजी साधनों के उचित प्रयोग से विकसित राष्ट्रों के साथ साथ विकासशील देशों को भी लाभ होगा। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना से महत्वपूर्ण पूंजी साधनों को उपयोगी कार्यो में लगाकर ज्ञान का भी आदान प्रदान किया जा सकेगा। इसके लिए त तीय विश्व के देशों के सभी ऋणों को समाप्त करना आवश्यक है। इसके साथ साथ विकसित राष्ट्रों से कुल उत्पादन से प्राप्त आय का 0.7 प्रतिशत भाग विकासशील राष्ट्रों को अनुदान के रूप में मिलना भी जरूरी है। इससे त तीय विश्व के देशों की आर्थिक समस्याओं का समाधान होगा, उनकी आर्थिक निर्भरता में कमी आएगी तथा उनका आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। इससे नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मार्ग तैयार होगा और भेदभावपूर्ण वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों का काला अध्याय समाप्त हो जाएगा।

8. **ब्रेटनवुड व्यवस्था में पूर्ण संशोधन (Total Revision of the Brettonwood System)** - वर्तमान विश्व व्यापार व्यवस्था में विकासशील देशों की भागेदारी बहुत ही कम है। निर्यात मंडियों पर विकसित देशों का ही कब्जा है। विकसित और विकासशील देशों के निर्यात में भारी अन्तर है। GATT की तरह यह भी धनी राष्ट्रों के हितों का ही पोषण कर रही है। इसलिए ब्रेटनवुड व्यवस्था पर आधारित खुली प्रतियोगिता को रोकना आवश्यक है। ताकि यह विकासशील देशों के हितों

के अनुकूल कार्य करने लगे। आज विकासशील देशों की यह मांग है कि वर्तमान विश्व व्यापार व्यवस्था (ब्रेटनवुड व्यवस्था) को पूरी तरह समाप्त किया जाए और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमों को विकासशील देशों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाया जाए ताकि नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का निर्माण हो सके।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था की पुनःसंरचना, ब्रेटनवुड व्यवस्था में पूर्ण संशोधन, पुराने ऋणों की समाप्ति, विश्व व्यापार में त तीय विश्व के देशों को अधिक हिस्सा प्रदान करना, तकनीकी हस्तांतरण, अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों में उचित भागेदारी, कृषि तथा उद्योग के लिए अधिक आर्थिक सहायता आदि की व्यवस्था द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। इसके लिए पारस्परिक अन्तर्निर्भरता की बजाय आत्मनिर्भरता की अधिक आवश्यक है। आज त तीय विश्व के देशों में आपसी सहयोग की प्रव ति जन्म ले रही है। लम्बे समय से G-77, G-15 तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग आदि प्रयासों से नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में ठोस कदम उठाए जा रहे हैं। लेकिन विकासशील देशों में आपसी सहयोग की भावना की कमी के चलते दक्षिण-दक्षिण सहयोग के कार्यक्रम को भी भारी धक्का लग रहा है। ऐसी परिस्थितियों में NIEO की कल्पना करना अप्रासंगिक होगा। यदि NIEO की स्थापना का मार्ग तैयार करना है तो सबसे पहले विकासशील देशों में आपसी सहयोग की प्रव ति बढ़ानी होगी और उत्तर-दक्षिण संवाद को बनाए रखने के लिए विकसित देशों पर दबाव बनाना होगा ताकि वर्तमान अन्यायपूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को समाप्त करने की दिशा में विकासशील देशों द्वारा किए जाने वाले प्रयासों को विकसित राष्ट्रों का भी भरपूर सहयोग प्राप्त हो सके।

अध्याय-9
उत्तर-दक्षिण संवाद
(North-South Dialogue)

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की अवधारणा एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था त तीय विश्व के हितों के अनुकूल नहीं है। यह विकसित देशों के ही हितों की पोषण है। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में असमान संतुलन की स्थिति बनी हुई है। इसलिए विकासशील देश (त तीय विश्व) वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समाप्त करके नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग कर रहे हैं। लेकिन विकसित देश उनकी इस बात को स्वीकार करने से कतरा रहे हैं। वे वर्तमान विश्व व्यवस्था में किसी भी ऐसे परिवर्तन की सम्भावना से इंकार करते हैं जो उनके आर्थिक हितों को हानि पहुंचाने वाला हो। ऐसी स्थिति में विकासशील देश दो उपायों का सहारा लेते हैं - प्रथम तो वे उत्तर-दक्षिण संवाद को प्राथमिकता देते हैं, दूसरा वे दक्षिण-दक्षिण सहयोग की बात करते हैं।

उत्तर-दक्षिण संवाद का अर्थ
(Meaning of North-South Dialogue)

भौगोलिक आधार पर समस्त संसार दो गोलार्द्धों - उत्तरी गोलार्द्ध तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में विभाजित है। उत्तरी गोलार्द्ध में अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य यूरोप के विकसित व धनी देश आते हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के अविकसित, पिछड़े हुए, गरीब तथा विकासशील देश शामिल हैं। राजनीतिक शब्दकोष में विकसित देशों के लिए उत्तर या विकासशील देशों के लिए दक्षिण शब्द का प्रयोग किया जाता है। उत्तर से तात्पर्य पूंजीवादी विचारधारा रखने वाले विकसित औद्योगिक देशों से है जहां पर तकनीकी विकास व उत्पादन अपनी चरम सीमा पर है। वहा पर प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है। ये देश समस्त विश्व के 70 प्रतिशत पूंजी साधनों पर अपना कब्जा किए हुए हैं। इसके विपरीत दक्षिण से तात्पर्य उन विकासशील देशों से है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए हैं। उनमें प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। इन देशों में तरह तरह की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक समस्याएं हैं। पूंजी की कमी, प्रति व्यक्ति कम आय, जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, बेरोजगारी, भुखमरी आदि दक्षिण के विकासशील देशों की प्रमुख समस्याएं हैं। विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं उद्योग प्रधान हैं, जबकि विकासशील देशों की कृषि प्रधान है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि विकसित देश उत्तर की श्रेणी में हैं, जबकि भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा, नेपाल, भूटान, अफगानिस्तान तथा अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के देश दक्षिण की श्रेणी में आते हैं। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उत्तर के विकसित तथा दक्षिण के विकासशील देशों के बीच नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था या अन्य बातों के बार में किए गए वार्तालाप को उत्तर-दक्षिण संवाद का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार उत्तर-दक्षिण संवाद नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की दिशा में उत्तर तथा दक्षिण के देशों के बीच जारी रहने वाले व्यक्तिगत सम्पर्को का कार्यक्रम है। इसके लिए दोनों में परस्पर होने वाले प्रत्यक्ष वाद-विवाद को शामिल किया जाता है क्योंकि संवाद से तात्पर्य आपसी विचार-विमर्श ही होता है।

उत्तर-दक्षिण संवाद की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि
(Historical Background of North-South Dialogue)

काफी लम्बे समय उत्तर के विकसित देशों का दक्षिण के विकासशील देशों पर साम्राज्यवादी नियंत्रण रहने के कारण विकासशील देशों में आर्थिक पिछड़ापन बढ़ गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अधिकतर गुलाम देश उत्तर की साम्राज्यवादी ताकतों के पंजों से मुक्त होने लग गए। लेकिन अपने साधनों का विकसित देशों द्वारा लंबे

समय तक दुरुपयोग करते रहने के कारण इस समय तक वे आर्थिक पिछड़ेपन के शिकार हो चुके थे। उन्होंने पाया कि विश्व अर्थव्यवस्था का झुकाव उनके हितों के खिलाफ है। विश्व के 30 प्रतिशत जनसंख्या वाले विकसित देश उनकी 70 प्रतिशत जनसंख्या पर अपना नव-उपनिवेशीय नियंत्रण कायम किए हुए हैं तो उनके लिए यह चिन्ता का विषय बन गया। उन्होंने महसूस किया कि उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 700 डॉलर है, जबकि विकसित देशों में यह 10000 डॉलर है। उन्हें विकसित देशों से मिलने वाली आर्थिक सहायता उनको नए प्रकार के शोषण का शिकार बना रही है। उनका विश्व व्यापार में हिस्सा बहुत ही कम है। उनका निर्यात लगातार गिर रहा हैं विदेशी व्यापार की शर्ते उनके हितों के विपरीत हैं। उन पर ऋणों का बोध लगातार बढ़ रहा है। 1984 की विश्व बैंक रिपोर्ट स्वयं इस बात को इंगित करती है कि विकासशील देश (दक्षिण) लगातार ऋण के भार से दबते जा रहे हैं 1950 में विश्व व्यापार में विकासशील देशों की भागेदारी 20 प्रतिशत थी जो 1975 तक 11 प्रतिशत रह गई। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्य वित्तीय संस्थान प्रतिवर्ष विकासशील देशों को जितनी मदद देते हैं; उससे अधिक वे ब्याज के रूप में वसूल करते हैं। विश्व विकास आन्दोलन की एक रिपोर्ट के अनुसार 1992 में विश्व बैंक (World Bank) ने भारत, बंगलादेश व पाकिस्तान को 3 अरब डॉलर का ऋण दिया । ब्याज के भुगतान के बाद इन्हें 88 करोड़ 50 लाख डॉलर ही प्राप्त हुए। इससे विश्व मौद्रिक संस्थाओं की कारगुजारी स्पष्ट हो जाती है कि ये संस्थाएं विकासशील देशों के हितों के अनुकूल नहीं है।

1964 से 1967 तक व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के तहत विकसित तथा विकासशील देशों में निर्यात व्यापार संबंधी कुछ विचार विमर्श हुआ लेकिन उसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला, 1970 के दशक के प्रारम्भ में ही विकासशील देश आर्थिक सम्बन्धों के लोकतन्त्रीकरण पर जोर देने लगे। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1974 में अपने विशेष अधिवेशन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) हेतु घोषणा एवं कार्यक्रम का मसौदा पारित किया। तब से अंकटाड, गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आदि के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था के ढांचे में परिवर्तन की मांग बलवती होने लगी। उत्तर के विकसित देशों ने इस बात को महसूस किया कि विकासशील देशों की उचित मांगों की अनदेखी करना गलत है। इसलिए उन्होंने आपसी विचार विमर्श की प्रक्रिया आरम्भ की जिसे उत्तर दक्षिण संवाद कहा जाता है। उत्तर-दक्षिण संवाद को विकसित करने वाली धटनाओं ने विकासशील देशों को नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग में व द्धि करने के प्रयासों को और तेज कर दिया। संयुक्त राष्ट्र महासभा, अंकटाड, ब्रांट आयोग हटाना है, आदि के प्रयासों ने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तर-दक्षिण संवाद पर बल दिया।

उत्तर दक्षिण संवाद के प्रयास

(Efforts for North-South Dialogue)

उत्तर-दक्षिण संवाद के विकास के लिए किया गया प्रयत्न निम्नलिखित है-

1. **1975 की पेरिस वार्ता (Paris Dialogue, 1975)** - संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की घोषणा के बाद यह प्रथम प्रयास था जिसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में व द्धि करना था, दिसम्बर, 1975 में विकसित तथा विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में व द्धि करना था, दिसम्बर, 1975 में विकसित तथा विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के मुद्दे पर एकत्रित हुए और इसमें 8 विकसित तथा 19 विकासशील देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के आयोजन का श्रेय अमरीकी विदेश सचिव डॉ. हेनरी किसिंजार को जाता है इस सम्मेलन को 'अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग सम्मेलन के नाम से भी जाना जाता है। यह सम्मेलन 18 महीने तक चला और 1977 में समाप्त हुआ। इसमें भाग लेने वाले देशों ने एक अंतर्राष्ट्रीय सचिवालय तथा ऊर्जा, कच्चे माल, विकास, वित्तीय मामलों के सम्बन्ध में चार आयोग स्थापित करने पर सहमति जताई। विकसित राष्ट्रों ने यह भी स्वीकार किया कि ऊर्जा की समस्या तथा आर्थिक विकास की समस्या के बीच गहरा रिश्ता है। इसमें उत्तर के विकसित देशों ने दक्षिण के निर्धन देशों के लिए कुछ सहायता कार्यक्रमों की घोषणा की जिनमें गरीब देशों का बढ़ता तेल घाटा तथा जिस मूल्यों को स्थिर करने के लिए गरीब देशों की सहायता के लिए एक विशेष कोष की स्थापना की बात स्वीकारी गई। लेकिन इस सहायता के बदले विकसित देशों ने 1973 की तेल संकट की मार को फिर से न झेलने के लिए विकासशील देशों में स्थिर तेल मूल्यों व सप्लाई की गारंटी की मांग रखी। इस असंगत मांग ने इस वार्ता को विफल बना दिया और NIEO की मांग को गहरा आघात पहुंचा।

2. **ब्रांट आयोग (Brant Commission)** - दिसम्बर 1975 की पेरिस के असफल रहने पर विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष रॉबर्ट मैकनामारा के सुझाव पर अंतर्राष्ट्रीय विकास मुद्दों से निपटने के लिए 1977 में एक गैर सरकारी स्वतन्त्र आयोग स्थापित किया गया जिसे ब्रांट आयोग के नाम से जाना जाता है। इस आयोग के अध्यक्ष पश्चिमी जर्मनी के भूतपूर्व चांसलर विलीब्रान्ट थे। इसमें समस्त विश्व के देशों से सदस्य थे। भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. एल.के. झा भी इस आयोग में थे। इसकी प्रथम बैठक दिसम्बर 1977 में बोन में हुई। इस आयोग ने सामाजिक विकास समस्याओं के बारे में अपनी दो रिपोर्ट - 'नॉर्थ-साउथ : ए प्रोग्राम फॉर सर्वाइवल' तथा -कॉमन क्राइसिस' के नाम से भी प्रसिद्ध है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि विश्व शान्ति व सहयोग के लिए उत्तर-दक्षिण में पारस्परिक निर्भरता आवश्यक है। इस आयोग ने विश्व नेताओं की एक औपचारिक बैठक बुलाने का सुझाव दिया ताकि विकसित व विकासशील देशों के बीच अन्तर के प्रमुख विषयों - व्यापार, सहायता, सुरक्षा, तकनीकी, आदान-प्रदान विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उदारीकरण आदि पर वार्तालाप हो सके और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सकें।

   इस आयोग ने उत्तर-दक्षिण संवाद के विकास के लिए - वस्तु व्यापार, विकासशील देशों के लिए ऋण, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सुधार, तकनीकी हस्तांतरण, बहुराष्ट्रीय निगमों का सुधार, समुद्री कानून, बहुउद्देश्यीय व्यापार, आदि मुद्दों पर अपने सुझाव दिए। उत्तर दक्षिण संवाद की दिशा में ब्रांट आयोग एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

3. **संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष सत्र (U.N. General Assembly Special Session)** - महासभा ने 25 अगस्त, 1980 को विकसित व विकासशील देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों के बारे में विचार करने के लिए एक विशेष सत्र बुलाया। इसमें विकासशील देशों ने अधिक आर्थिक सहायता, अधिक स्वतन्त्र व्यापार (संरक्षणवाद से रहित) कच्चे माल की स्थिर कीमतें आदि की मांग विकसित देशों के सामने रखी। लेकिन विकसित देशों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। केवल इस बैठक में 9 महीने बाद होने वाली व्यापक समझौता वार्ता के लिए आधार प्रस्तुत कर दिया, अतः उत्तर-दक्षिण संवाद का यह प्रयास विकसित देशों की नकारात्मक भूमिका के कारण असफल रहा।

4. **कानकुन सम्मेलन (Cancun Conference)** - यह सम्मेलन मैक्सिको के कानकुन शहर में अक्तूबर, 1981 में हुआ। इसमें 14 विकासशील तथा 8 विकसित देशों (22 देश) ने भाग लिया। इसका उद्देश्य उत्तर-दक्षिण संवाद की प्रगति को जाचना था। इसमें 23 देशों को निमंत्रण भेजे गए थे, लेकिन सोवियत संघ ने इसमें हिस्सा नहीं लिया, अमेरिका के कारण क्यूबा को इसमें नहीं बुलाया गया। प्रथम शिखर वार्ता को सम्बोधित करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन ने कहा कि अमेरिका व्यापक समझौता वार्ता में शामिल हो सकता है यदि - उनमें नई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्माण की बात न हो, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली सभी को मान्य हो, उनका उद्देश्य अधिक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास की प्राप्ति हो व समझौता वार्ताएं सहयोगपूर्ण वातावरण में हों। फ्रांस तथा कनाडा ने रीगन की इन शर्तों का खुलकर समर्थन किया। ब्रिटेन, अमरीका तथा जर्मनी ने यह विचार भी रखा कि विश्व अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना सम्बन्धी विचार इनसे संबंधित अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों में ही हों।

   विकासशील देशों ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ढांचे में व्यापक परिवर्तन करके उन्हें अधिक प्रासंगिक बनाया जाए। लेकिन विकसित देशों ने इसका विरोध किया और कहा कि इसके बारे में संयुक्त राष्ट संघ (UNO) के ही निर्णय को माना जाए। अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों ने इसका विरोध इसलिए किया कि वर्तमान व्यवस्था में विश्व बैंक का अध्यक्ष हमेशा अमेरिकी नागरिक तथा मुद्रा कोष का डायरेक्टर पश्चिमी यूरोप का ही नागरिक होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ में ये देश अपनी वीटो शक्ति का प्रयोग करके वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने में सफल हो सकते हैं। इसलिए इन्होंने UNO में ही निर्णय की बात उठाई। इस सम्मेलन में खाद्यान्न समस्या, भुखमरी, कृषि विकास, व्यापार समस्या, ऊर्जा संकट आदि में भी विस्तारपूर्वक विचार किया विकासशील देशों की तरफ से निर्यात सम्बन्धी समस्याओं को लेकर तैयार किया गया पांच सूत्री कार्यक्रम सम्मेलन की कार्यवाही में शामिल तो कर लिया गया लेकिन विकसित देशों ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। ये पांच सूत्र हैं - 1. जिन्सों के आयात-निर्यात संबंधी समझौते नए सिरे से हों, 2. जिन्सों के भाव स्थिर रखने के लिए अंकटाड के तत्वावधान में बताए जाने वाले सांझा कोष की प्रगति को बढ़ाया जाए, 3. विकासशील देशों के निर्यात पर प्रतिबंधों को समाप्त किया जाए, 4. रेशे सम्बन्धी समझौते का नवीनीकरण हो, 5. विकासशील देशों के निर्यात पर प्रतिबंध लगाने की प्रव ति को रोका जाए।

इस सम्मेलन के अन्त में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना व उत्तर-दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाने पर कोई सहमति नहीं हुई। विकसित देशों के नकारात्मक व्यवहार के कारण यह सम्मेलन असफल रहा।

5. **न्यूयॉर्क सम्मेलन (Newyork Conference)** - इस सम्मेलन का आयोजन अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर में हुआ। अंकटाड के तत्वावधान में 1983 में आयोजित इस सम्मेलन में विश्व के अनेक नेता एकत्रित हुए। भूतपूर्व दिवंगत भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसमें उत्तर-दक्षिण संवाद को विकसित करने पर बल दिया गया। G-7 तथा अमेरिका की हठधर्मिता के कारण इस सम्मेलन में कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका और अन्त में यह भी विफल हो गया।

6. **गैट समझौता तथा विश्व व्यापार संगठन (GATT Pact and WTO)** - द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था तटकर और व्यापार से सम्बन्धित सामान्य समझौते द्वारा संचालित होती चली आ रही है। इस सामान्य समझौते को GATT कहा जाता है। इसका अर्थ है - व्यापार और प्रशुल्क पर सामान्य समझौता। इस समझौते की स्थापना का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में आने वाली बाधाओं को दूर करके लाभकारी लक्ष्यों को प्राप्त करना था। 1986 तक इसके 8 सम्मेलन हुए। आठवां सम्मेलन 20 सितम्बर, 1986 को उरुग्वे (अमेरिका) में हुआ जिसमें 100 देशों ने भाग लिया। उरुग्वे सम्मेलन में आगामी 4 वर्ष तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था पर GATT की प्रगति रिपोर्ट प्रस्तुत करने पर विचार हुआ। लेकिन 7 वर्ष बाद भी GATT अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था पर आम सहमति पर आधारित रिपोर्ट नहीं दे सका। उरुग्वे सम्मेलन में विभिन्न वार्ताओं का दौर चला। इसका आठवां दौर उरुग्वे के शहर पुन्ता डेल इस्ते में शुरू हुआ। इसमें परम्परागत वस्तु व्यापार निगम के बनते रहे। कृषि को इससे बाहर रखा गया। उरुग्वे दौर की वर्तमान वार्ता में कृषि को भी शामिल कर लिया गया। इसमें चार नए क्षेत्रों - 1. व्यापार से संबंधित निवेश उपाय, 2. बौद्धिक सम्पदा अधिकार के पहलुओं से सम्बन्धित व्यापार, 3. सेवाओं में व्यापार तथा 4. कृषि को शामिल किया गया। गैट वार्ता की सूची में ये क्षेत्र विकसित देशों की स्वीकृति से ही शामिल किए गए। विकसित देशों का तर्क था कि व्यापार से संबंधित निवेश उपायों को वार्ता सूची में शामिल करना चाहिए क्योंकि विकासशील देश विदेशी निवेश को नियंत्रित करने वाली नीतियां बनाकर विदेशी कम्पनियों के स्वतन्त्र व्यापार में बाधा पहुंचाते हैं। बौद्धिक सम्पदा अधिकारों, विशेषकर पेटेण्ट, कॉपीराइट तथा ट्रेडमार्क के अपर्याप्त संरक्षण के कारण चोरी का व्यापार बढ़ता है और वैद्य व्यापार को हानी पहुंचती है। विकासशील देशों ने विकसित देशों के इन तर्कों का जोरदार खण्डन किया। 1990 तक उरुग्वे वार्ता किसी सर्वमान्य हल तक पहुंचने में असफल रही। 1991 में 108 सदस्यीय GATT के महानिदेशक आर्थर डुंकेल ने गैट के भावी स्वरूप पर 500 प ष्ठों की अपनी प्रस्ताव सूची पेश की। इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए 17 अप्रैल, 1992 तक का समय दिया गया।

विकासशील देशों ने डुंकेल प्रस्तावों का विरोध किया। क्योंकि इसमें कृषि सब्सिडी, बौद्धिक सम्पदा अधिकार (पेटेंट, कॉपीराइट, ट्रेडमार्क), विदेशी निवेश उपायों तथा सेवाओं को भी शामिल करके विकासशील देशों की मांगों और आवश्यकताओं की अनदेखी की गई और विकसित देशों के ही हितों का ध्यान रखा गया। इसमें सबसे अधिक विरोध पेटेन्ट अधिकारों के बारे में था। कृषि क्षेत्र में इसके लागू होने पर विकासशील देशों को कृषि तकनीक विकसित देशों से खरीदने पर भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। इस तरह डुंकेल प्रस्तावों के माध्यम से GATT द्वारा विकासशील देशों पर गलत नीतियां थोपने का विकासशील देशों ने विरोध किया और अपने व्यापारिक हितों की ओर विकसित देशों का ध्यान आकर्षित किया। लेकिन उनके विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और GATT में विकसित औद्योगिक देशों का ही प्रभुत्व बना रहा। GATT का पुराना रूप उस समय अप्रासंगिक हो गया जब 15 दिसम्बर, 1993 को 117 सदस्य देशों ने सर्वसम्मति से नए GATT को स्वीकृति प्रदान कर दी। यह समझौता 1995 में लागू हुआ और इसी के तहत विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई।

आज विश्व व्यापार संगठन (नया गैट समझौता) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित 28 समझौते को लागू करता है जो उरुग्वे दौर की वार्ता में शामिल थे। यह संगठन पुराने गैट से अधिक व्यापक है। यह बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को संस्थागत व वैधानिक आधार प्रदान करता है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर अपनी सजग द ष्टि रखता है। इसका प्रत्येक सम्मेलन 2 वर्ष के अन्तराल पर होता है। इसका प्रथम सम्मेलन सिंगापुर में हुआ और चौथा सम्मेलन नवम्बर 2001 में दोहा (कतर) में हुआ। त तीय सम्मेलन सिएटल में 1999 में हुआ, जिसमें विकासशील देशों ने अमेरिका के श्रम मानकों का विरोध किया।

अमेरिका श्रम मानकों पर इसलिए जोर दे रहा था ताकि विकासशील देशों ने बने सस्ते माल से प्रतिस्पर्धा में विकसित देशों को बचाया जा सके। 75 विकासशील देशों ने प्रथम बार विश्व व्यापार संगठन को ज्ञापन दिए। विकासशील देशों ने विकसित सम द्ध देशों के आगे न झुकने का संकल्प किया। लेकिन चौथे शिखर सम्मेलन के एजेंडे को स्वीकार करके विकासशील देशों के ही हितों को हानि पहुंचाई जा रही है। दोहा शिखर सम्मेलन 2005 तक अपने विकास लक्ष्य को प्राप्त करेगा। इस सम्मेलन में भारत व अन्य विकासशील देशों ने जन स्वास्थ्य संबंधी दवाईयों के उत्पादन एवं अधिग्रहण के मामले में बड़ी सफलता प्राप्त की। इससे एड्स, टी.बी., मलेरिया, आदि रोगों से लोगों को बचाने के लिए औषधियों के उत्पादन के मामले में WTO के पेटेन्ट संबंधी नियम रुकावट पैदा नहीं कर सकते। ये दवाईयां WTO के पेटेन्ट अधिकारों से बाहर है।

इस प्रकार पुराने गैट तथा नए गैट (WTO) के अंतर्गत विकसित तथा विकासशील देशों के विचार-विमर्श की प्रक्रिया उत्तर दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाकर नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को प्रवाहित करने का एक प्रयास है।

7. **प थ्वी सम्मेलन (Prithivi Conference)** - प्रथम प थ्वी सम्मेलन जून 1992 में तथा दूसरा जून, 1997 में हुआ। इनका उद्देश्य पर्यावरण सुरक्षा के मुद्दों पर विचार करना था। प्रथम प थ्वी सम्मेलन रियो दि जेनेरो (ब्राजील) में 3 से 14 जून, 1992 तक आयोजित हुआ। इसमें विकसित व विकासशील देशों ने पर्यावरण प्रदूषण के लिए एक दूसरे पर आरोप लगाए। विकसित देशों ने कहा कि विकासशील देशों की जनसंख्या विस्फोट की स्थिति के कारण व गरीबी के कारण यह हुआ है। ये देश घने जंगलों का सफाया कर रहे हैं और पर्यावरण संतुलन को खराब कर रहे हैं। इसके विपरीत विकासशील देशों ने कहा कि ऐसा विकसित देशों द्वारा विलासिता की वस्तुओं पर किया गया फिजूलखर्च है जिससे वातावरण में ग्रीन हाऊस प्रभाव में व द्धि हुई है। इस सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण (विकसित व विकासशील) देशों में निम्नलिखित मुद्दों पर मतभेद उभरेः-

   I. ***जनसंख्या-*** उत्तर के विकसित देशों ने पर्यावरण के विनाश के लिए विकासशील देशों की अधिक जनसंख्या होने को उत्तरदायी ठहराया। उन्होंने कहा कि अपना पेट भरने के लिए विकासशील देशों की गरीब जनता लगातार वनों को काट रही है। जबकि विकसित देश अपने को इसके लिए उत्तरदायी नहीं मानते। विकासशील देशों का कहना है कि अपनी विलासमयी प्रकृति के कारण विकसित देश पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं। ये देश विश्व के 75 प्रतिशत साधनों का स्वयं प्रयोग करते हैं और 25 प्रतिशत ही शेष विश्व के लिए छोड़ते हैं।

   II. ***तकनीकी हस्तांतरण-*** गरीब देशों क मानना है कि तकनीकी विकास अपने साथ कुछ दोष भी लेकर पैदा होता है। अत्यधिक तकनीकी विकास पर्यावरण के लिए खतरा भी पैदा करता है। यदि तकनीक का उचित प्रयोग व हस्तांतरण किया जाए तो इससे इसके दोषों से निजात दिलाई जा सकती है। गरीब देश तकनीकी का प्रयोग प्रदूषण कम करने तथा ऊर्जा क्षमता में सुधार करने के लिए प्रयोग करने के पक्ष में हैं। लेकिन विकसित देश इसे भारी कीमत लेकर बेचने के पक्ष में हैं। वे इसका हस्तांतरण नहीं करना चाहते। इसलिए दोनों में मतभेद पैदा होते हैं।

   III. ***ग्रीन हाऊस प्रभाव-*** गरीब देशों का कहना है कि कार्बन डार्डऑक्साइड गैस को बढ़ा रहे हैं। इस सम्मेलन में विकसित देश ग्रीन हाउस प्रभाव को बढ़ाने वाली हानिकारक गैसों में 20 प्रतिशत कटौती करने के पक्ष में थे लेकिन विकासशील देश चाहते थे कि यह कटौती 50 प्रतिशत तक हो। इससे दोनों में मतभेद उभरकर सामने आए।

   IV. ***पर्यावरण विनाश-*** पर्यावरण को दूषित करने का जिम्मा दोनों का है। चाहे विकसित देश हो या विकासशील देश दोनों इसमें समान रूप से भागीदार हैं। लेकिन इस सम्मेलन में विकसित देशों ने विकासशील देशों को और विकासशील देशों ने विकसित देशों को पर्यावरण को प्रदूषित करने के लिए जिम्मेदार ठहराया, इसलिए विकसित देश चाहते हैं कि पर्यावरण को सुधारने का खर्च सांझे रूप में उठाए जाए लेकिन विकासशील राष्ट्र चाहते हैं कि इसका खर्च विकसित राष्ट्र ही उठाएं क्योंकि वे विश्व के 75 प्रतिशत संसाधनों का दोहन करते हैं।

   V. ***वन-*** अमीर देशों का कहना है कि विकासशील देश अपनी आर्थिक मजबूरियों के कारण उष्णकटिबंधीय वनों को काट रहे हैं। लेकिन विकासशील देशों का कहना है कि वनों को काटना विकसित राष्ट्रों की ही आवश्यकताओं को पूरा करता है। यदि ऐसा किया जाए तो इससे राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धान्त का भी उल्लंघन होगा।

VI. ***धन-*** विकासशील देश चाहते हैं कि पर्यावरण सुधार के लिए किए जाने वाले उपायों का खर्च नई संस्था का निर्माण करके ही उठाया जाए। लेकिन विकसित राष्ट्र चाहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र एजेंसियां या विश्व बैंक इस कार्य को करें।

अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद भी इस सम्मेलन में आगामी शताब्दी के लिए विकास तथा पर्यावरण सुधार योजना के लिए धन जुटाने पर आम राय बन गई। विश्व में वनों के संरक्षण सम्बन्धी बातों पर भी इसमें सहमति हुई। अनेक देशों ने 0.7 प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पाद का भाग विकास सहायता के रूप में देने का वचन दिया, इस सम्मेलन में विश्व जैव विविधता सन्धि भी हुई जो 29 दिसम्बर 1993 को लागू हो गई। लेकिन अमेरिका ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए। इसके कारण पर्यावरण सुधार व वन संरक्षण के लिए किसी कोष की स्थापना नहीं हो सकी। लेकिन पर्यावरण की रक्षा के महत्व को अवश्य समझ लिया गया। जापान ने एक अरब डॉलर देकर इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। जर्मनी ने भी प्रति वर्ष 40 करोड़ प्रतिवर्ष देने का वचन दिया। फ्रांस ने भी 0.6 प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय आय से देने का वायदा किया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि विकासशील देशों के साथ साथ कुछ विकसित देश भी पर्यावरण सुधार तथा वन संरक्षण में आगे जाए। इसमें पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने के लिए संयमपूर्ण जीवन शैली अपनाने का आग्रह किया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने वनों को सार्वभौम सम्पदा मानने की बात कही तो भारत ने भी कच्चे तेल को सार्वभौम सम्पदा मानने की बात कही क्योंकि इसका उपयोग सम्पूर्ण मानव जाति के लिए होता है। इस प्रकार इस सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण का अन्तर स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आया। इसमें पर्यावरण तकनीकी हस्तांतरण व अमीर देशों द्वारा विकासशील देशों को दी जाने वाली सहायता पर असहमति ही दिखाई दी।

इसके बाद 23 से 27 जून, 1997 को दूसरा प थ्वी सम्मेलन अमेरिका के शहर न्यूयॉर्क में आयोजित हुआ। इसमें 170 देशों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसमें संसार में लगातार कम हो रहे वनों, उनकी नष्ट हो रही प्रजातियों तथा कम होता मत्स्य संसाधनों पर चिंता प्रकट की गई। विकासशील देशों ने विकसित देशों को पर्यावरण तकनीक के विकास के लिए पर्याप्त धन देने में उदारता बरतने का आग्रह किया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने विकासशील देशों को पर्यावरण अनुकूल ऊर्जा स्रोतों के विकास के लिए एक अरब डॉलर की सहायता देने की घोषणा की, लेकिन ग्रीन हाउस प्रभाव में व द्धि करने वाली गैसों को नियंत्रित करने के किसी मात्रात्मक लक्ष्य पर सहमति नहीं हो सकी। इस प्रकार यह सम्मेलन भी बिना किसी ठोस परिणाम के ही समाप्त हो गया।

इस प्रकार पेरिस वार्ता से प्रारम्भ होने वाला उत्तर-दक्षिण संवाद द्वितीय प थ्वी सम्मेलन (1997) तक पहुंच गया, लेकिन इसके ऐसे परिणाम नहीं निकले कि नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना हो सके। इसमें पारस्परिक अंतरनिर्भरता के सिद्धान्त का रुख आत्मनिर्भरता की तरफ मुड़ता प्रतीत नहीं हुआ। न ही आज तक विकसित राष्ट्रों का नव-उपनिवेशवादी रवैया कम हुआ है। उनकी यह इच्छा अधिक प्रबल है कि विकासशील देशों पर अपनी साम्राज्यवादी पकड़ मजबूत बनाई जाए। डुंकेल प्रस्ताव नव-साम्राज्यवाद का ताजा उदाहरण है। आज WTO तथा IMF जैसी मौद्रिक संस्थाएं भी विकसित देशों के ही हितों को पूरा करने में लगी हुई हैं। स्वयं विकासशील देश भी आपसी मतभेदों के शिकार हैं। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर विकासशील देश आवाज तो उठाते हैं; लेकिन उनकी आवाज विकसित देशों की कारगुजारी के आगे दब जाती है। आज अनेक विकासशील देश विकसित देशों द्वारा प्राप्त आर्थिक व तकनीकी सहायता पर ही जी रहे हैं। आज समय की मांग है कि उत्तर-दक्षिण संवाद को प्रभावी बनाने के लिए जापान जैसे विकसित देशों का सहयोग प्राप्त किया जाए। दक्षिण-दक्षिण सहयोग को आधार बनाकर विकसित राष्ट्रों पर अपनी निर्भरता को कम किया जाए और आत्म-निर्भरता को उपयोगी बनाया जाए। इससे उत्तर-दक्षिण संवाद पर आशानुकूल प्रभाव पड़ेगा और नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा।

अध्याय-10
दक्षिण-दक्षिण सहयोग
(South-South Co-operation)

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए विकसित और विकासशील देशों में उत्तर-दक्षिण संवाद की शुरुआत हुई। परन्तु विकसित राष्ट्रों के अपेक्षापूर्ण व अड़ियल व्यवहार के कारण उत्तर-दक्षिण सहयोग की बार सिरे नहीं चढ़ सकी। विकसित देशों पर ऋणों का भार लगातार बढ़ने लगा। उन्हें प्राप्त होने वाली अधिकतर विदेशी सहायता का हिस्सा ब्याज के भुगतान में ही खर्च होने लगा और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध अधिक भेदभावपूर्ण व जटिल होते गए। विकासशील देश यह महसूस करने लगे कि उत्तर दक्षिण सहयोग की बात करना उनके हितों को कोई फायदा नहीं पहुंचा सकता। इसलिए उन्हें दक्षिण-दक्षिण सहयोग की ही बात करनी चाहिए। इसलिए विकासशील देशों ने दक्षिण के गरीब व अल्प-विकसित देशों में ही सहयोग के आधार तलाशने शुरू कर दिए। इसी से दक्षिण-दक्षिण संवाद या सहयोग का नारा बुलन्द हुआ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग का अर्थ
(Meaning of South-South Cooperation)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकासशील देशों के लिए 'दक्षिण' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। 1945 के बाद समस्त विश्व राजनैतिक शब्दावली में दो भागों - उत्तर (विकसित) तथा दक्षिण (विकासशील) में बंट गया। उत्तर में सभी साम्राज्यवादी ताकतें या विकसित धनी देश थे। उत्तर में साम्राज्यवादी शोषण के शिकार रहे गरीब देश थे। जब इन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की तो इन्हें अपने को आर्थिक पिछड़ेपन की समस्या से ग्रस्त पाया। स्वतन्त्र अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के निर्वहन में भी आर्थिक साधनों की कमी इनके आड़े आई। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अधिक प्रासांगिक बनाने के लिए इन्होंने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना के लिए उत्तर के देशों से उदार रवैया अपनाने का आग्रह किया और इसके परिणामस्वरूप उत्तर-दक्षिण सहयोग के प्रयास शुरू हुए। लेकिन सकारात्मक परिणाम न निकलने से विकासशील देशों ने विकसित देशों के साथ सहयोग की बजाय आपसी सहयोग (दक्षिण-दक्षिण सहयोग) की शुरुआत की। इसके लिए आपसी विचार-विमर्श की प्रक्रिया शुरू हुई अर्थात् दक्षिण-दक्षिण संवाद का जन्म हुआ। इसके कारण विकासशील देशों में अंतर्निर्भरता के प्रयास तेज हुए।

"विकासशील देशों को दक्षिण-दक्षिण संवाद की प्रक्रिया द्वारा आत्मनिर्भर बनाने तथा उनकी विकसित देशों पर निर्भरता कम करने की प्रक्रिया दक्षिण-दक्षिण सहयोग के नाम से जानी जाती है।" दक्षिण-दक्षिण सहयोग के परिणामस्वरूप विकासशील देशों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इसके अंतर्गत तकनीकी आदान-प्रदान की प्रक्रिया तेज हुई। अति-पिछड़े हुए राष्ट्र भी इसका लाभ उठाकर अधिक विकासशील देशों की श्रेणी में शामिल होने लगे। आज दक्षिण-दक्षिण सहयोग अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्व है।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि
(Background of South-South Co-operation)

दक्षिण-दक्षिण सहयोग का आरम्भ 1968 में आयोजित अंकटाड सम्मेलन (नई दिल्ली) से माना जाता है। इसके बाद 1970 में लुसाका सम्मेलन में भी इसकी आवश्यकता पर बल दिया गया। 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा बुलाए गए विशेष

सत्र में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आह्वान में इसका विशेष जिक्र हुआ। 1976 में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन तथा चौथे अंकटाड सम्मेलन में विकासशील देशों के आपसी व्यापार तथा सामूहिक अन्तर्निर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया। 1981 में काराकास सम्मेलन में भी इसका उल्लेख हुआ। इसी वर्ष नई दिल्ली में 44 देशों के सम्मेलन में भी दक्षिण-दक्षिण संवाद और सहयोग की बात कही गई। इसमें सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात जैसे धनी देश बुलाए गए थे ताकि वे अपने गरीब भाईयों के लिए कुछ सहायता दें। लेकिन इनकी भूमिका अधिक सहयोग की नहीं रही। इसके बाद अक्तूबर, 1982 में न्यूयॉर्क में G-77 (विकासशील देशें का समूह) के देशों ने आपसी व्यापार में व द्धि करने की आवश्यकता पर जोर दिया। 1986 में गुटनिरपेक्ष देशों के हरारे सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण संवाद की बजाय दक्षिण-दक्षिण संवाद पर अधिक ध्यान दिया गया। इसमें राबर्ट मुंगावे ने स्पष्ट कहा कि दक्षिण-दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता के बिना अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार नहीं हो सकता। इसके बाद उत्तरी कोरिया की राजधानी प्योंगयांग में हुई विकासशील देशों के वित्त मंत्रियों की बैठक (1987) में भी दक्षिण-आयोग का गठन करके विकासशील देशों के आपसी सहयोग को नई दिशा देने का प्रयास किया गया। इसके बाद 1991 में G-15 (विकासशील देशों का समूह) के काराकास सम्मेलन में भी निर्धन राष्ट्रों के आपसी सहयोग को बढ़ाने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके बाद हिमतक्षेस (हिन्द महासागर तटीय क्षेत्रीय सहयोग संगठन) की स्थापना 1997 में हुई। इसने भी त तीय विश्व के देशों में आपसी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। आज सार्क, आसियान D-8, G-15, G-77 आदि संगठन भी इस दिशा में कार्य कर रहे हैं और इनके प्रयास निरंतर सफलता की ओर अग्रसर हैं।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रयास
(Efforts for South-South Co-operation)

दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने वाले प्रमुख मंच अंकटाड, ग्रुप-77, NAM, G-15, दक्षिण आयोग, आसियान, सार्क, हिमतक्षेस तथा D-8 हैं। इनके माध्यम से दक्षिण-दक्षिण संवादों का विकास हुआ और विकासशील देशों के आपसी सहयोग में व द्धि हुई। इन संस्थाओं के प्रयासों का वर्णन निम्नलिखित है-

1. **अंकटाड सम्मेलन (UNCTAD Conference)** - अंकटाड अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास पर हुए अधिवेशन से पूर्व विदेशी व्यापार तथा सहायता संबंधी समस्याओं पर प्रशुल्क देशों एवं व्यापार पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के तहत विचार किया जाता था। GATT समझौता विकासशील देशों के हितों के अनुरूप नहीं था। इसलिए विकासशील देशों की मांग पर आर्थिक सहयोग हेतु नया कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इसे अंकटाड कहा जाता है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के एक स्थायी अंग के रूप में 30 दिसम्बर, 1964 को हुई। इससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई। अंकटाड का छठा पेरिस सम्मेलन विकासशील देशों के आपसी सहयोग का अच्छा प्रयास था। इसके आठवें कार्टेगेना सम्मेलन (1992) में विकास की नई सांझेदारी की बात कही गई। जिसमें संसार के 40 विकासशील देशों ने द्विपक्षीय अधीकृत ऋण को माफ करने की अपील की और ऋण मांग व भुगतान सेवाओं में कटौती के लिए तुरन्त प्रयास करने को कहा गया। इसमें उरुग्वे वाता (GATT) पर असंतोष प्रकट किया। इसमें विकासशील देशों की बढ़ी हुई संख्या के आधार पर अधिकृत विकास सहयाता में भी व द्धि करने की बात दोहराई। इसका नौंवा सम्मेलन मई 1996 में अफ्रीका के मिडरैंड शहर में सम्पन्न हुआ जिसमें 134 देशों के 2000 के लगभग अधिकारियों ने हिस्सा लिया। इसमें कहा गया कि जो विकासशील देश अधिक विकास को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें कम विकसित देशों की सहायता करनी चाहिए। इसके दसवें सम्मेलन (2000 में बैंकाक में) में विश्व व्यापार के मुद्दे पर आपसी बातचीत में गतिरोध उत्पन्न हो गया। इसमें बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली का लाभ अल्पविकसित देशों को उसके साथ जोड़कर पहुंचाने की बात पर जोर दिया गया। लेकिन विकसित देशों के अड़ियल व्यवहार के कारण इसे अधिक सफलता नहीं मिल सकी। फिर भी अंकटाड का मंच विकासशील देशों के मध्य आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए दक्षिण-दक्षिण संवाद का महत्वपूर्ण अंग है।

2. **ग्रुप-77 की बैठकें (Meeting of G-77)** - सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने, उनमें से 2/3 सदस्य अफ्रीका से थे। इन देशों ने अपने आप को G-77 कहना शुरू कर दिया। इस संगठन की स्थापना U.N.O. के तत्वाधान में 1964 में ही की गई। इसके अधिकतर सदस्य त तीय विश्व के देश हैं। अपने समान आर्थिक हितों के कारण ये देश नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना की बात करते हैं। इसकी 1982 की नई दिल्ली में बैठक के अंतर्गत 44

विकासशील राष्ट्रों के सैकड़ों प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें सार्वभौम अर्थव्यवस्था में हो रहे ह्रास पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई और औद्योगिक देशों के संरक्षणवाद की भी व्यापक निन्दा की गई। इसमें कृषि में आत्म-निर्भरता, विश्व बैंक (ऊर्जा) में परस्पर सम्बन्ध का निर्माण, तकनीकी सहयोग के लिए बहुराष्ट्रीय वित्तीय सुविधा का निर्माण आदि बातों पर ध्यान दिया गया। इसमें सामूहिक आत्म-निर्भरता के लिए सहयोग को महत्व दिया गया।

G-77 का एक अंतरंग (Internal) समूह भी है जिसे G-24 के नाम से जाना जाता है। यह विकासशील देशों के विभिन्न मुद्दों पर बातचीत करता है। इसके वित्त मन्त्रियों की 49वीं बैठक (वॉशिंगटन, 1993) में मुद्रा मामलों में दक्षिण-दक्षिण सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह G-77 के साथ मिलकर ही कार्य करता है। G-77 में 2000 में हुए हवाना सम्मेलन में विकासशील देशों के विकास मुद्दों को प्राथमिकता देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की आवश्यकता महसूस की गई। इसमें अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से प्रार्थना की गई कि उसे ऐसे प्रयास करने चाहिए जिनसे विकासशील देशों के आर्थिक विकास में आई रुकावटों का निराकरण हो। इन रुकावटों को हटाने के लिए पारस्परिक सांझेदारी व स्वतन्त्रताओं के आधार पर विकसित तथा विकासशील देशों की वार्ता का आह्वान किया गया। आज G-77 में ऐसे देश हैं जो साम्राज्यवादी शोषण का शिकार रह चुके हैं। यह संगठन एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के ऐसे देशों की एकता व सहयोग का प्रतीक है। ये देश समुद्री कानून, शस्त्र नियंत्रण, अणु ऊर्जा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आदि मुद्दों पर लिए जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों को विकासशील देशों के हितों की तरफ मोड़ना चाहते हैं ताकि विकासशील देश भी आर्थिक विकास की धारा में शामिल हो सकें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि G-77 दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने का अच्छा प्रयास है।

3. **गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन (Summit Conferences of the NAM)** - गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का जन्म 1961 के बैलग्रेड सम्मेलन में हुआ। इसमें अधिकतर नवोदित स्वतन्त्र विकासशील देश शामिल हैं। 1975 में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों के लीमा सम्मेलन में विकासशील देशों को आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए संहति कोष की स्थापना करने की स्वीकृति हुई। यह दक्षिण-दक्षिण सहयोग का महत्वपूर्ण प्रयास था। 1976 में गुटनिरपेक्ष देशों के कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बहुराष्ट्रीय औषधीय कम्पनियों पर निर्भरता की बजाय परस्पर सहयोग की योजना तैयार करने पर बल दिया। इसमें कृषि, खाद्यान्न तथा संचार-अवरोधों के मामलों पर भी नए उपाय तलाशने की बात कही गई। सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुझाव त तीय विश्व बैंक की स्थापना के बारे में दिया गया। इस तरह इस सम्मेलन में दक्षिण-दक्षिण सहयोग में व द्धि करने वाले महत्वपूर्ण सूझाव दिए गए। 1986 के हरारे सम्मेलन में भी उत्तर-दक्षिण संवाद की बजाय दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया। इसमें विकासशील देशों में आपसी सहयोग को बढ़ाने के लिए एक आयोग गठित करने का निर्णय लिया गया। दक्षिण-दक्षिण सहयोग पर गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों की एक बैठक जून, 1987 में भी हुई। इसमें विकासशील देशों के बीच सहयोग को बढ़ाने व गतिशील बनाने के लिए नए ढंग प्रयोग करने पर जोर दिया गया। इसमें विकासशील राष्ट्रों की सामूहिक आत्म-निर्भरता की भावना को सुद ढ़ बनाने पर बल दिया गया। सितम्बर 1989 के बेलग्रेड सम्मेलन में भारत के प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी ने उत्तर-दक्षिण सहयोग में व द्धि करने के लिए संस्थागत ढांचे मे बदलाव लाने की बात कही। इस सम्मेलन में आपसी पूंजी निवेश प्रवाह तथा आपस में प्राथमिकता के आधार पर तकनीकी हस्तांतरण को मुख्य मुद्दा बताया गया। इसके बाद 1992 व 1995 में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मंत्रालय की 1996-97 की रिपार्ट में कहा गया कि कुछ के पास पर्याप्त धन राशि है तथा कुछ के पास अच्छी तकनीक है। इसलिए उनके लिए यही हितकर होगा कि वे उत्तर के देशों की तरफ भागने की अपेक्षा आपस में ही पूंजी व तकनीक का आदान-प्रदान करें। इससे दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा मिलेगा। सम्मेलन में आपसी सहयोग बढाने पर बल दिया गया और विकसित देशों पर उनकी निर्भरता कम होगी। इस प्रकार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने भी दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने की दिशा में एक सुद ढ़ मंच का काम किया।

4. **जी-15 सम्मेलन (G-15 Conferences)** - G-15 विकासशील देशों का एक समूह है। यह त तीय विश्व के विकास के लिए एक आन्दोलन का रूप धारण करता जा रहा है। इसका पहला शिखर सम्मेलन 1 जून, 1990 को कुआलालम्पुर में हुआ। इसका उद्देश्य दक्षिण-दक्षिण सहयोग की कार्यवाही में गति लाना था। इस सम्मेलन में चिकित्सा और सुगन्धित पौधों के लिए एक जिंस बैंक की स्थापना तथा सौर ऊर्जा, सिंचाई पम्प, छोटे रेफ्रीजरेटर, कोर्रस और डायर्स के वास्ते सौर ऊर्जा की कार्यप्रणाली का विकास-इन दो परियोजनाओं पर आपसी सहयोग बढ़ाने पर बल दिया गया। G-15 के दूसरे शिखर सम्मेलन (काराकास, 1991) में गरीब देशों को अमीर देशों के विरुद्ध एकजुट रहने का आह्वान किया। इसमें

इस बात पर बल दिया गया कि वे ऐसी आर्थिक नीतियां बनाए कि उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था का विकास करने के अवसर प्राप्त हो सकें। इसमें बाहरी ऋणों के विषय में सह-उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर ठोस उपाय करने पर भी जोर दिया गया। इसके बाद G-15 के डकार सम्मेलन (1992) में भी नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के मुद्दे पर सामूहिक कार्यवाही पर बल दिया गया। G-15 के पहले शिखर सम्मेलन की योजनाओं को आगे बढ़ाते हुए सात नई परियोजनाओं को इस सम्मेलन में शामिल किया गया। भारत ने G-15 को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अफ्रीका में एक पेशेवर प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करने का भी आग्रह किया गया। इसके बाद G-15 का चौथा शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1993 में नई दिल्ली में हुआ। इसमें अधिकतर शासनाध्यक्ष शामिल नहीं हो सके। इसलिए यह अधिक सफल नहीं रहा। इसके पश्चात G-15 के अर्जेन्टीना सम्मेलन (1995) में विकासशील देशों के बीच व्यापार और निवेश के उदारीकरण, सरलीकरण और संवर्द्धन तथा तकनीक के हस्तांतरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। G-15 के हरारे शिखर सम्मेलन (1996) में भी व्यापारिक मुद्दे ही प्रमुख रहे। इसमें विकसित देशों के श्रम मानकों का विरोध किया गया। G-15 के इस सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति में यह कहा गया कि WTO को विकसित देशों के दबाव में नहीं आना चाहिए। भारत ने कहा कि श्रम मुद्दे व्यापार से संबंधित न होने के कारण विश्व व्यापार संगठन से बाहर ही रखे जाने चाहिए। विकासशील देशों के समूह G-15 के सातवें सम्मेलन (कुआलालम्पुर, 1997) में 16वें सदस्य के रूप में केन्या को प्रवेश दिया गया। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास, विकासशील देशों की चिन्ताओं के मसले और उनसे निपटने की नीतियों पर विचार किया गया। इसमें विशेष रूप से निवेश और तकनीकी सहयोग का विस्तार करके दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत बनाने पर बल दिया गया। G-15 के नौवें शिखर सम्मेलन (जमैका, 2000) में वैश्वीकरण की प्रक्रिया में उचित परिवर्तनों की मांग उठाई गई। इस तरह G-15 के सम्मेलनों द्वारा विकासशील देशों में आपसी सहयोग व समन्वय की भावना का विकास किया गया है। अपने सीमित समय में ही G-15 एक शक्तिशाली कार्यक्रम के रूप में उभरा है। यह निरन्तर दक्षिण-दक्षिण संवाद को आगे बढ़ाते हुए विकासशील देशों में आपसी तकनीकी सहयोग व पूंजी निवेश द्वारा आत्मनिर्भरता की स्थापना के प्रयास करने को कृतसंकल्प है।

5. **दक्षिण आयोग (The South Commission)** - हरारे निर्गूट सम्मेलन में 1986 में विकासशील देशों में आपसी सहयोग में व द्धि करने के लिए दक्षिण आयोग की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ। इसके बाद 2 अक्तूबर, 1987 को इस अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने जेनेवा में अपना कार्यालय खोला। तंजानिया को इस 28 सदस्यीय आयोग का अध्यक्ष तथा भारत को महासचिव का पद प्राप्त हुआ। आयोग के उद्घाटन पर इसके अध्यक्ष न्येरेरे ने कहा कि "अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और ऋणदाता देशों द्वारा लागू की गई नीतियों से विकासशील देशों को निराशा ही हुई है।" इसकी दूसरी बैठक मार्च, 1988 को कुआलालम्पुर में हुइ। इस बैठक में सदस्यों ने आत्मनिर्भरता के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग तथा उत्तर दक्षिण सम्बन्धों की समस्याओं पर एकजुट होने का वचन लिया। इसकी अध्यक्षता भी तंजानिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे ने की। इस तरह यह आयोग दक्षिण-दक्षिण सहयोग को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण करता आ रहा है।

6. **आसियान (ASEAN)** - इसकी स्थापना 1967 में हुई। इसका पूरा नाम है - दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्रसंघ। इसमें लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम, ब्रनेई, थाईलैंड, सिंगापुर, फिलीपींस, मलेशिया तथा इंडोनेशिया शामिल है। इसका उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विकास को बढ़ावा देना है। यह कृषि, व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में साझे मामलों पर परस्पर सहयोग को बढ़ावा देता है। इसका लक्ष्य 2003 तक इस क्षेत्र को मुफ्त व्यापार क्षेत्र बनाना है। 1998 में इसकी पांचवीं बैठक मनीला में हुई। इसमें पूंजी निवेश, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्रों में सहयोग बनाए रखने तथा बढ़ाने की नीति का अनुसरण किए जाने का समर्थन किया। यह संगठन निरंतर प्रगति की राह पर कार्य करते हुए दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में आर्थिक विकास के लिए सहयोग करने की दिशा में कार्यरत है।

7. **सार्क (SAARC)** - इसकी स्थापना 1985 में हुई। इसका पूरा नाम 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' है। इसमें भारत, नेपाल, पाकिस्तान, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका तथा मालद्वीप हैं। इसका मुख्य उद्देश्य दक्षिण एशिया में विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देना है। दक्षिणी एशिया व्यापार समझौता 'साप्टा' (SAPTA) स्वीकार करने के बाद दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के नये युग की शुरुअबात हुई। 1987 के काठमाण्डू शिखर सम्मेलन में आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ाने पर विचार हुआ। इसमें दक्षिण-एशिया को परमाणु विहीन क्षेत्र घोषित करने पर विचार हुआ। इसके 1991 में हुए कोलम्बो सम्मेलन में तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में आपसी सहयोग को उचित माना गया। इसका 11वां शिखर सम्मेलन

जनवरी, 2002 को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में सम्पन्न हुआ। इसमें व्यापार, वित्त तथा निवेश में आपसी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया गया ताकि दक्षिण एशिया अर्थव्यवस्था के एकीकरण की ओर अग्रसर हो सके। इस तरह लगातार यह संगठन दक्षिण एशिया के देशों में आपसी सहयोग की प्रव ति का विकास करने की दिशा में कार्य कर रहा है।

8. **हिमतक्षेस (IORARC)** - इसकी स्थापना मार्च, 1987 में हुई। इसका पूरा नाम - हिन्द महासागर तटीय क्षेत्रीय सहयोग संगठन। इसमें हिन्द महासागर के तट पर बसे हुए देश - इण्डोनेशिया, भारत, आस्ट्रेलिया, मोजाम्बिक, मलेशिया, श्रीलंका, सिंगापुर, केनिया, मॉरीशश आदि देश शामिल हैं। इसका उद्देश्य इन देशों में आपसी सहयोग को बढ़ावा देना है और आर्थिक एकजुटता के आधार पर हिन्द महासागर के बाजार का निर्माण करना है। यह संगठन क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में सहयोग की भावना का विकास कर रहा है।

9. **डी-8 शिखर सम्मेलन (D-8 Conference)** - यह विकासशील देशों का समूह है। यह संगठन 8 मुस्लिम विकासशील देशों में आपसी सहयोग के आधार पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को सुद ढ़ बनाने के लिए कार्य करता है।

इस तरह दक्षिण-दक्षिण संवाद को मजबूत बनाकर दक्षिण के देशों को एकजुट किया जा सकता है। इसी पर इन देशों की आर्थिक आत्मनिर्भरता का विकास निर्भर करता है। विकासशील देशों में पर्याप्त मात्रा में संसाधन हैं। कुछ देशों के पास तो पूंजी है और कुछ के पास तकनीकी ज्ञान है। इन देशों को विकसित देशों से मदद लेनी की बजाय आपस में ही तकनीकी ज्ञान व पूंजी का हस्तांतरण करना चाहिए। लेकिन इसके रास्ते में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन देशों में आपसी मतभेद हैं। ये आपसी सहयोग की बजाय विकसित राष्ट्रों की तरह अधिक झुकाव रखते हैं। आज एशिया के तेल निर्यातक देश चाहें तो वे गरीब विकासशील देशों की आर्थिक सहायता कर सकते हैं, लेकिन समन्वित द ष्टिकोण के अभाव में वे ऐसा करने में अयोग्य हैं। यदि विकासशील देशों को आत्मनिर्भर बनना है तो पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर, उन्हें एक मंच पर आना ही होगा। इसके बिना उनका कल्याण सम्भव नहीं है। यदि वे एकजुट होकर उत्तर के देशों पर अपना दबाव बनाने में सफल होते हैं तो अवश्य ही वे नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए विकसित राष्ट्रों को मना सकेंगे और वर्तमान अन्यायपूर्ण और असमान आर्थिक सम्बन्धों का अंत करके दक्षिण के देशों में नए युग की शुरुआत करेंगे।

अध्याय-11
विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation)

नए गैट के नाम से प्रसिद्ध विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना पुरानी गैट व्यवस्था की समाप्ति के बाद 1 जनवरी, 1995 को हुई। इसलिए WTO ब्रिटेनवुड व्यवस्था द्वारा स्थापित गैट का उत्तरवर्ती संगठन है। बहुमुखी व्यापार वार्तालाप का उरुग्वे चक्र 15 दिसम्बर, 1993 को अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुंचकर समाप्त हो गया और इसके 117 देशों के प्रतिनिधिमण्डल ने सहमति द्वारा नए गैट समझौते का अनुमोदन कर दिया। इसे डुंकेल समझौता भी कहा जाता है। इसकी स्थापना से विश्व व्यापार अंतर्राष्ट्रीय स्तर की ओर मुड़ने लगा। यह गैट से अधिक व्यापक होने के कारण बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को संस्थागत तथा कानूनी आधार उपलब्ध कराता है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का पहरेदार है जो विश्व के सभी देशों की व्यापार प्रणाली पर अपना नियंत्रण रखता है। गैट के सभी देश इसके भी सदस्य हैं। आज विश्वीकरण की प्रक्रिया को गतिशील बनाने में WTO एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

विश्व व्यापार संगठन की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि
(Historical Background of World Trade Organisation)

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले व द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान विश्व व्यापार को कठोर समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसलिए द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अनेक देशों ने व्यापार व्यवस्था का उदारीकरण करने पर जोर दिया। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हवाना में 'व्यापार एवं रोजगार' का अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आयोजित हुआ। लेकिन अमेरिका के अड़ियल रुख के कारण किसी ठोस परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सका। इसी दौरान 23 देश जेनेवा में व्यापार रियायतों पर बातचीत करने पर सहमत हो गए। इन सभी रियायतों को गैट व्यवस्था में शामिल कर लिया गया। इस गैट व्यवस्था पर 30 अक्तूबर, 1947 को हस्ताक्षर हुए और 1 जनवरी, 1948 को 'प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य समझौता (गैट) लागू को गया। यह एक बहुपक्षीय समझौता था। इसके अंतर्गत विश्व व्यापार वार्ताओं के 7 सम्मेलन आयोजित किए गए। इसका आठवां दौर उरुग्वे में 1986 में आरम्भ हुआ और 1994 में यह मोरक्को में समाप्त हो गया। उरुग्वे दौर की वार्ता ने पुरानी गैट व्यवस्था को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर नया गैट अस्तित्व में आया जिसे विश्व व्यापार संगठन के नाम से जाना जाता है। यह 1995 से आज तक स्थायी विश्व व्यापार संस्था के रूप में कार्य कर रहा ह। यह IMF और World Bank की तरह ही महत्वपूर्ण है और आज इसकी संख्या 144 है।

गैट तथा विश्व व्यापार संगठन में अंतर
(Difference Between GATT and WTO)

WTO ने 1995 में गैट का स्थान ले लिया और इसे नया गैट भी कहा जाने लगा। लेकिन जहां गैट मुख्य रूप से वस्तुओं के व्यापार पर ही केन्द्रित था वहां WTO सेवाओं और विचारों के पार-सीमा व्यापार के साथ-साथ कार्मिकों के प्रचलन के साथ भी सम्बन्धित हुआ। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है-

1. गैट एक ऐसा मंच था जहां सदस्य देश व्यापार समस्याओं पर विचार करने और उन्हें हल करने के लिए काफी लम्बे समय बाद मिलते थे अर्थात्गैट के सम्मेलन लम्बे अंतराल के बाद होते थे। लेकिन WTO एक नियमबद्ध विश्व व्यापार संगठन है जिसके सम्मेलन निश्चित समय पर ही होते हैं।

2. गैट को कानूनी दर्जा प्राप्त नहीं था। लेकिन विश्व व्यापार संगठन का अपना वैधानिक अस्तित्व है इसकी उत्पत्ति उरुग्वे समझौते के परिणामस्वरूप हुई है जिसकी पुष्टि WTO के सदस्य देशों की सरकारों द्वारा की गई है।
3. गैट केवल चयनात्मक बहुपक्षीय समझौतों के बारे में नियमों और प्रणालियों का समूह था। इसमें अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग समझौते थे जो बाध्यकारी प्रकृति के नहीं थे। लेकिन WTO के समझौते स्थायी व बाध्यकारी हैं। यदि कोई उनकी अवहेलना कर दे तो उसे उनके विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार है।
4. गैट के विवादों का निर्णय करने के लिए विलम्बकारी प्रक्रिया थी। लेकिन WTO में विवादों का फैसला शीघ्र व स्वचालित प्रणाली पर आधारित है।
5. गैट का एक लघु कार्यालय था जिसका कार्यभार केवल एक ही व्यक्ति देखता था, लेकिन WTO का एक विशाल कार्यालय है जिसमें बहुत सारे कर्मचारी कार्य करते हैं अर्थात् इसकी विराट नौकरशाही है।
6. गैट केवल वस्तुओं के व्यापार तक ही सीमित था। इसमें सेवाओं का कोई स्थान नहीं था। लेकिन WTO में वस्तुओं के व्यापर के साथ-साथ सेवाओं, बौद्धिक सम्पदा अधिकार सम्बन्धी विषय तथा अन्य कई समझौते भी आते हैं।

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य
(Objectives of WTO)

विश्व व्यापार संगठन की प्रस्तावना में इसके निम्नलिखित उद्देश्य बताए गए हैं-

1. टैरिफ और व्यापार की बाधाओं को दूर करके तथा व्यापारिक सम्बन्धों के भेदभावपूर्ण आचरण को समाप्त करके पारस्परिक लाभदायक व्यवस्थाएं उपलब्ध कराना।
2. गैट में शामिल तथा उरुग्वे वार्ता के दौरान किए गए वायदों को लागू करके बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को विकसित करना।
3. विकसित देशों की आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के प्रयत्न करना।
4. विश्व में उपलब्ध संसाधनों का सतत् विकास की द ष्टि से उपयोग करना ताकि पर्यावरण का संरक्षण एवं बचाव हो सके।
5. व्यापारिक एवं वित्तीय गतिविधियों को इस प्रकार से संचालित करना कि इनसे पूर्ण रोजगार की गारण्टी मिले, वास्तविक आय और प्रभाव मांग निरन्तर व द्धि द्वारा जीवन स्तर में सुधार हुआ तथा वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन और व्यापार विकसित हो।

संक्षेप में WTO के चार प्रमुख दिशा निर्देश हैं - बिना भेदभाव के, परिभाषित तथा लगातार बढ़ने वाली बाजार पहुंच, उचित प्रतियोगिता को बढ़ाना तथा विकास और आर्थिक सुधारों को प्रोत्साहित करना।

विश्व व्यापार संगठन के कार्य
(Functions of World Trade Organisation)

WTO के कार्य निम्नलिखित हैं:

1. यह अपने सदस्य देशों की व्यापार नीतियों पर निगाह रखता है।
2. यह अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं वित्तीय नीति निर्धारण से जुड़ी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सहयोग करता है।
3. यह अपने सदस्य राष्ट्रों के व्यापार सम्बन्धी विवादों को हल करने में मदद करता है।
4. यह द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के क्रियान्वयन, प्रबन्धन एवं संचालन को आसान बनाता है।
5. यह सरकारी खरीददारी, दुग्धोत्पाद व्यापार, नागरिक विमानन सम्बन्धी बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के क्रियान्वयन, प्रशासन और परिचालन के लिए उचित ढांचे का प्रबन्ध करता है।

विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता
(Membership of WTO)

WTO एक सदस्य, एक वोट के आधार पर कार्य करता है। इसमें विश्व व्यापार में भागेदारी पर आधारित महत्व न देकर, समान भागेदारी को महत्व देकर प्रत्येक देश को चाहे वह विकसित हो या विकासशील, केवल एक ही मत देने का अधिकार है। इसकी

सदस्यता इसकी प्रस्तावना में अंकित उद्देश्यों को पूरा करने का वचन देने वाले देश को ही प्रदान की जाती है। जिन देशों ने उरुग्वे दौर की वार्ता में भाग लिया था और जो गैट के भी सदस्य थे, उन सभी को WTO की सदस्यता प्रदान की गई। WTO की सदस्यता प्राप्त करने के लिए इसके कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

विश्व व्यापार संगठन की संरचना

(Structure of WTO)

WTO की संरचना के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं-

1. **मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन (Ministerial Conference)** - यह विश्व व्यापार संगठन की उच्चतम संस्था है। इसका काम नीति निर्माण करना है। इसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं। इसकी बैठक दो वर्ष में एक बार अवश्य होती है। यह संगठन की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली को चलाता है और किसी भी बहुपक्षीय समझौते के अंतर्गत सभी मुद्दों पर निर्णय करता है।
2. **सामान्य परिषद (General Council)** - यह संगठन का प्रशासनिक कार्य सम्भालती है। इसमें प्रत्येक सदस्य देश का एक स्थायी प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक महीने में एक बार जेनेवा में होती है। यह झगड़ा निपटान निकाय और व्यापार नीति समीक्षा निकाय के रूप में भी कार्य करती है। यह तीन अन्य संस्थाओं - वस्तुओं के व्यापार की परिषद, सेवाओं में व्यापार की परिषद् तथा बौद्धिक सम्पदा अधिकारों पर व्यापार से सम्बन्धित परिषद् को भी उत्तरदायित्व सौंपती है।
3. **सचिवालय (Secretariat)** - इसका एक पूर्णकालिक महासचिव होता है। जिसका कार्यकाल 4 वर्ष होता है। उसकी सहायता के लिए चार उप-सचिव होते हैं। संगठन सचिव का चयन मन्त्रिय सम्मेलन द्वारा किया जाता है। इसका कार्य बजट, वित्त और प्रशासन समिति को वार्षिक बजट के अनुमान और वित्तीय विवरण देना है। वह सामान्य परिषद् की अन्तिम स्वीकृति के लिए अपनी अनुशंशा भी करता है।

विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख मुद्दे व समझौते

(Major Issues and Agreements of WTO)

उरुग्वे दौर की वार्ता के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए WTO के डुंकेल प्रस्तावों में वस्तुओं में व्यापार के बहुपक्षीय समझौते हुए। इसमें सेवाओं, बौद्धिक सम्पदा अधिकार समझाते, भी हुए, इन समझौतों का परिणाम विकासशील देशों के लिए ऋणात्मक परिणाम वाला ही रहा है। आज WTO विकसित देशों के हितों का ही पोषण करने वाला निकाय बनकर रह गया है। इसके प्रमुख मुद्दे व समझौते निम्नलिखित हैं-

1. **व्यापार से सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकार (Trade Related Intellectual Property Rights - TRIPS)** - उरुग्वे दौर की वार्ता में डुंकेल प्रस्तावों में "बौद्धिक सम्पदा अधिकार" का काफी हंगामा हुआ। विकासशील देशों का कहना था कि इस अधिकार के अपर्याप्त संरक्षण के कारण चोरी का व्यापार बढ़ेगा और वैद्य व्यापार की हानि होगी। लेकिन काफी वाद-विवाद के बाद इस अधिकार से संबंधित पेटेंट, कॉपीराइट, ट्रेडमार्क आदि विषयों को शामिल कर लिया गया। इस अधिकार का उद्देश्य समान कानूनी ढांचे को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करना था जिससे विभिन्न क्षेत्रों में अनुपम उपलब्धि अर्जित करने वाले व्यक्तियों या देशों के हितों की रक्षा हो सके अर्थात् यह अविष्कारकों के व्यापारिक हितों का संरक्षण करने के उद्देश्य से स्वीकृत किया गया था। भारत ने दवाईयों, खाद्यान्नों तथा रासायनिक अविष्कारों के सम्बन्ध में ही उत्पाद पेटेन्टस लागू किए हैं। भारत ने बासमती चावल का पेटेन्ट करवाने से इंकार कर दिया है। विकासशील देश पेटेन्ट कानून का विरोध करते हैं। लेकिन WTO की इच्छा यह है कि अधिक लम्बी अवधि के लिए पेटेन्ट करवाए जाएं ताकि विकसित देशों का अधिक से अधिक फायदा हो।
2. **शुल्क स्तरों में कमी (Reduction in Tariff Levels)** - WTO के नियमों के अनुसार विकसित तथा विकासशील देशों के लिए अपने शुल्कों को एक निश्चित सीमा तक कम करना आवश्यक है। WTO की स्थापना के पांच वर्षो के अन्दर विकसित देशों ने 40 प्रतिशत शुल्कों में कमी करनी थी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया है। भारत ने भी 2001 तक अपने शुल्कों में 54 से 32 प्रतिशत तक कमी करनी थी। इसमें उपभोकता वस्तुओं को छूट प्रदान की गई थी।
3. **बाजार पहुंच (Market Access)** - WTO का उद्देश्य है कि सभी गैर-शुल्क सीमाएं जो WTO की नियमावली में शामिल हैं, को एक निश्चित समय सीमा में समाप्त किया जाए। इसका समाप्त करके बाजार पहुंच को आसान बनाना आदि ताकि विकासशील देश भी अपने उत्पाद बाजार में बेंच सकें।

4. **व्यापार से संबंधित निवेश उपक्रम (Trade Related Investment Measures - TRIMS)** - विश्व व्यापार संगठन (WTO) का मानना है कि निवेश उपायों से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में मुक्त एवं उपयुक्त प्रतियोगिता को बढ़ाया जा सकता है। इससे बाजार के अंतर्राष्ट्रीयकरण को अधिक मजबूती मिल सकती है। कम से कम मूल्य जमा (Value Added) आदि की व्यवस्था से निवेश को बढ़ाया जा सकता है।

5. **व्यापार एवं पर्यावरण (Trade and Environment)** - WTO में पर्यावरण संरक्षण के लिए व्यापार एवं पर्यावरण समिति (CTE) से यह कहा गया है कि वह बाजार पहुंच सम्बन्धी पर्यावरणिक उपायों के प्रभावों पर ध्यान दे। WTO के चौथे दोहा सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि WTO के नियमों और बहुपक्षीय पर्यावरण के बीच सम्बन्ध पर वार्ता की शुरुआत की जाए। इसमें पर्यावरणिक वस्तुओं और सेवाओं की बाजार पहुंच सीमित करने पर भी बल दिया गया। ट्रिपस करार तथा बाजार पहुंच परपर्यावणिक उपायों के प्रभावों की मदों को भारत के प्रस्ताव के अनुसार ध्यान देने पर जोर दिया गया है।

6. **स्वास्थ्य कर तथा पादपस्वास्थ्यकर उपाय (Sanitary and Phytosanitary Measures)** - WTO में उन शुल्कों तथा उपक्रमों की भी व्यवस्था है जो किसी सदस्य देश द्वारा लोगों के जीवन तथा वातावरण की गुणवत्ता की सुरक्षा व सुधार के लिए बनाए जाते हैं। WTO अपने सदस्य देशों को पर्यावरण संरक्षण के लिए वचनबद्ध करता है।

7. **सेवाओं का व्यापार (Trade in Services)** - WTO ने प्राकृतिक व्यक्तियों की आवाजाही से सम्बन्धित प्रस्ताव को स्वीकृत किया है। इसमें सेवाओं का एक देश दूसरे देश के साथ आदान-प्रदान कर सकता है। इसके तहत चार प्रकार की सेवाओं की स्वीकृत किया गया है-

   क) केवल एक सेवा का निर्यात, जैसे कम्प्यूटर में सॉफ्टवेयर।

   ख) एक देश द्वारा दूसरे देश को सेवा को बेच, जैसे पर्यटन या टेलिफोन सेवा।

   ग) व्यापारिक सेवा की बेच, जैसे बैंकिंग प्रणाली।

   घ) व्यक्तियों का हस्तांतरण, जैसे सलाहकारी सेवा।

   उपरोक्त सभी सेवाओं में से केवल पर्यटन पर ही सामान्य सहमति हो पाई है। अन्य सभी सेवाएं पर आम सहमति नहीं बन पाई है।

8. **पेटेन्ट कानून (Patent Law)** - WTO ने विशेष प्रकार के उत्पादों का संरक्षण व सुरक्षा करने के लिए इस कानून का निर्माण किया गया है। प्रत्येक वस्तु के अलग-अलग पेटेन्ट्स कानून हैं। अनेक देशों ने अपने उत्पादों का पेटेन्ट करवा लिया है। लेकिन भारत बहुत ही कम वस्तुओं के पेटेन्ट करवाने का इच्छुक है।

9. **पौध-जाति सुरक्षा कानून (Plant Variety protection Law)** - आज पौधों की अनेक जातियां लुप्त होने के कगार पर हैं। इसी भय के कारण पौध-जाति सुरक्षा कानून बनाया गया है। इसके अंतर्गत पौध-जातियों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली प्रक्रियाओं का पेटेन्ट किया जाता है।

10. **प्रक्रिया-अभिमुख परिषदें (Procedure - Oriented Council)** - WTO का मानना है कि व्यापार प्रक्रियाओं में अन्तर के कारण आयात-निर्यात पर दुष्प्रभाव पड़ता है और व्यापार प्रणाली बाधित होती है। इसलिए ऐसी परिषदें स्थापित करनी आवश्यक हैं जो व्यापार के मार्ग में आने वाले सभी व्यवधानों को समाप्त करके इसे गतिशील बनाएं। इसके लिए प्रक्रिया सुधार वाली परिषदों का होना अत्यंत आवश्यक है।

11. **प्रतिरोधी उपक्रम (Countervailing Measures)** - WTO का कहना हल कि यदि किसी देश के घरेलू उद्योग को रियायत देने से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगी बनने के प्रयास से सदस्य देश को कोई हानि होती है तो प्रतिरोधी कार्यवाही की जा सकती है। यदि निर्यात के बारे में 4 प्रतिशत से अधिक का मामला है तो उसकी कार्यवाही WTO की विवाद निपटान समिति द्वारा ही की जाएगी।

12. **भण्डारण-विरोधी व्यवस्था (Anti-Dumping System)** - भण्डारण करना किसी देश का अपना अधिकार है। लेकिन यदि भण्डारण से किसी देश को हानि हो रही हो तो उसके विरुद्ध प्रतिरोधात्मक कार्यवाही का WTO में प्रावधान है।

13. **कृषि उत्पादों की बाजार पहुंच (Market Access of Agricultural Products)** - WTO में कृषि जन्य उत्पादों के लिए बाजार पहुंच का भी प्रावधान किया गया है। दोहा सम्मेलन में खाद्य सुरक्षा तथा ग्रामीण विकास की आवश्यकताओं का ध्यान रखने के लिए विकासशील देशों की आवध्यकताओं का विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें विकसित देशों की विकृतकारी घरेलू प्रणाली में कमी लाने पर जोर दिया गया है ताकि विकासशील देशों के कृषि उत्पादों की भी बाजार पहुंच आसान हो सके।

14. **श्रम मानक (Labour Standards)** - WTO के दोहा सम्मेलन (2001) में श्रम मानकों के मुद्दों का निराकरण करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) को उचित मंत्र माना गया है। विकासशील देशों के व्यापार को प्रतिबन्धित करने वाले श्रम मानकों का प्रयोग वर्जित है।

15. **विवाद निपटान समझौता (Dispute Redressal Agreement)** - WTO सभी सदस्य देशों से व्यापारिक विवादों को इसकी शर्तो के अनुसार निपटाने की व्यवस्था करता है। WTO की दोहा बैठक में इस समझौते में सुधार और स्पष्टीकरण के बारे में वार्ताओं का भी प्रावधान करता है।

16. **क्षेत्रीय व्यापार व्यवस्था (Regional Trade System)** - WTO यह भी स्वीकार करता है कि क्षेत्रीय व्यापार समझौतों ने बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था को कोई हानि नहीं पहुंचाई है। इसलिए 1992 के बाद के अधिकतर समझौते GATT तथा WTO का अंग बन चुके हैं। इसलिए क्षेत्रीय व्यापार व्यवस्था WTO के हितों के अनुकूल है।

विश्व व्यापार संगठन का मूल्यांकन
(An Evaluation of WTO)

WTO के अभ्युदय ने विश्व आर्थिक व्यवस्था को एक कानूनी सुरक्षा चक्र प्रदान किया है। इसने सदस्य देशों के आन्तरिक व्यापारिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। आज WTO एक मजबूत संस्था के रूप में उभर रहा है। इसमें गैट (GATT) जैसे दोषों का सर्वथा अभाव है। इसका अपना कानूनी अस्तित्व है और इसके निर्णय सदस्य देशों पर अधिक बाध्यकारी हैं। आज अनेक देश WTO की बढ़ती भूमिका के कारण अपनी घरेलू व्यापार प्रणाली में परिवर्तन कर रहे हैं। विभिन्न राष्ट्र अपनी आर्थिक नीतियों में पेटेन्ट कानून, सीमा शुल्क कानून, पौध - संरक्षण कानून आदि के अनुसार बदलाव ला रहे हैं। इसने राष्ट्रों की आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रतिबन्धित करने के साथ-साथ सीमित भी कर दिया है। आज प्रत्येक राष्ट्र को WTO के नियमों के तहत ही चलना अनिवार्य हो गया है।

इसलिए आज अनेक आलोचना इसे राष्ट्रीय सम्प्रभुता में हस्तक्षेप करने व सीमित करने वाला मानते हैं। यह एक ऐसी तानाशाही व्यवस्था का द्योतक है जो बहुराष्ट्रीय निगमों रूपी हथियार के माध्यम से विकसित देशों के ही हितों का पोषक है। आज WTO के कारण जिस अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्माण हो रहा है, उसमें बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका बढ़ती जा रही है। इसलिए WTO की स्थापना बहुराष्ट्रीय निगमों की विश्व विजय का प्रतीक है। यह संगठन अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति पर अपना वर्चस्व स्थापित करने का सुद ढ़ माध्यम बन गया है। इससे विकासशील देशों का विश्व व्यापार में हिस्सा लगातार कम होता जा रहा है। आज WTO विकसित देशों के आर्थिक हितों का पोषण करने वाली संस्था बनकर रह गया है।

अध्याय-12
नव-उपनिवेशवाद
(Neo-Colonialism)

यूरोप के देशों ने एक लम्बे समय एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपना साम्राज्यवादी जाल फेंकर उनका राजनीतिक व आर्थिक शोषण किया लेकिन उन देशों में उभरने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने साम्राज्यवादी देशों के मनसूबों पर पानी फेर दिया। धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देश एक-एक करके साम्राज्यवादी चुंगल से मुक्ति पाने लगे। अब साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने दिन लदते नजर आए तो उन्होंने औपनिवेशिक शोषण के नए नए तरीके तलाशने शुरू कर दिए। उन्होंने इस प्रक्रिया में उन देशों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद का सहारा लिया। स्वतन्त्र होने के बाद नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नही रहे कि वे अपना स्वतन्त्र आर्थिक विकास कर सकें। उनके आर्थिक विकास में सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी देशों ने डॉलर की कूटनीति का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और धीरे-धीरे वे नए साम्राज्यवाद के जाल में इस कदर फंस गए कि आज तक भी वे विकसित देशों के ही पराधीन हैं। इस व्यवस्था को नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है।

नव-उपनिवेशवाद का अर्थ
(Meaning of Neo-Colonialism)

यह एक नई अवधारणा है। इसका प्रयोग नए प्रकार के साम्राज्यवाद के लिए किया जाता है। इसे डॉलर साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, नया-साम्राज्यवाद आदि नामों से भी जाना जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिकतर पराधीन राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गए लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी तरह साम्राज्यवाद का शिकार बने रहे। उनकी यह स्थिति आधुनिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद कहलाती है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो एक शक्तिशाली विकसित राष्ट्र या अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राष्ट्र का सम्बन्ध एक आर्थिक या उपग्रह उपनिवेश को दर्शाती है। बहुराष्ट्रीय निगम इसके प्रमुख साधन हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक रूप से पराधीन या उपग्रह उपनिवेश का अधिक से अधिक शोषण करके उस पर अपना वर्चस्व बनाए रखना है।

"आर्थिक साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जिसमें कोई देश प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त प्रतीत होने पर भी परोक्ष रूप से उनके निर्देशों का पालन करने पर बाध्य होता है।"

राष्ट्रपति सुकार्नो ने बाण्डुंग सम्मेलन में 1955 में कहा था कि "राष्ट्र के अन्दर छोटे से विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक नियंत्रण, बौद्धिक नियंत्रण तथा वास्तविक भौतिक नियंत्रण के रूप में यह एक नए लिबास में उपनिवेशवाद है।" उसका स्पष्ट इशारा बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती भूमिका की तरफ था। आज विकसित देश अपना साम्राज्यवादी शिकंजा कसने के लिए इनका सहारा ले रहे हैं। इनके द्वारा निर्धन देशों के कच्चे माल पर नियंत्रण पूंजी निर्यात व आसान विनिमय दरों के नाम पर दीमक की तरह घुसकर किया जा रहा है ताकि वे देश कच्चे माल की पूर्ति तथा तैयार माल की बिक्री का केन्द्र बन जाएं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नव-उपनिवेशवाद साम्राज्यवादी नियंत्रण की ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रयोग विकसित राष्ट्र नवोदित अल्प विकसित राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करने के लिए करते हैं। ये राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन आर्थिक सहायता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी ज्ञान, उत्पादन के क्षेत्र में विकसित देशों के ऊपर ही आश्रित होते हैं। इनकी विकसित देशों पर निर्भरता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ये अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक रूप से भी स्वतन्त्र नहीं रह जाते।

नव-उपनिवेशवाद के प्रकार

(Types of Neo-Colonialism)

आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों - राजनीतिक उपनिवेशवाद, आर्थिक द ष्टि से पराधीन देश तथा पिछलग्गू देश का वर्णन किया है। आधुनिक युग में राजनीतिक द ष्टि से तो सभी देश स्वतन्त्र हो चुके हैं। इसलिए इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। वह अन्तिम दो को ही नव-उपनिवेशवाद के अंतर्गत शामिल करता है।

1. **आर्थिक रूप से पराश्रित देश** (Economic Dependencies) - ये देश राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं लेकिन आर्थिक सहायता के लिए विकसित राष्ट्रों की ओर देखते हैं। इन देशों में आर्थिक पिछड़ापन पाया जाता है। लोगों की निर्धनता व अस्थिर राजनीतिक व्यवस्थाएं इसके सूचक हैं। लोगों की व्यक्तिगत आय व राष्ट्रीय आय नाम मात्र की होती है। एशिया व अफ्रीका के नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र इस श्रेणी में शामिल हुए। लम्बे समय तक आर्थिक विकास के लिए उन्हें विदेशी सहायता पर निर्भर हुए। उनमें से अधिकतर आज भी आर्थिक रूप से पराधीन राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं। विकसित देशों ने इन देशों में अधिक से अधिक पूंजी लगाकर इनमें अपनी उत्पादन इकाईयां स्थापित कर रखी हैं। कई देशों में तो यह निवेश 80 प्रतिशत तक है। ये देश पराश्रित राष्ट्रों के राजनीतिक जीवन को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे देशों को आर्थिक पराश्रित उपनिवेश कहा जाता है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान, थाईलैंड, घाना आदि एशिया व अफ्रीका के देशों में डॉलर साम्राज्यवाद की नीति का प्रसार इस प्रकार के उपनिवेशवाद का ही एक हिस्सा है।
2. **पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश** (Satellites) - यह एक ऐसा राष्ट्र होता है जो औपचारिक रूप से तो स्वतन्त्र होता है लेकिन राजनीतिक व आर्थिक द ष्टि से किसी विदेशी शक्ति के अधीन होता है। वे देश स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करने में सक्षम नहीं होते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक देशों में सोवियत संघ के नियंत्रण वाली साम्यवादी सरकारें स्थापित हुई। वे सभी देश पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश की श्रेणी में आते थे। आज अफगानिस्तान में अमेरिका समर्थित सरकार है। इसलिए अफगानिस्तान अमेरिका का पिछलग्गू देश है। आवश्यकता पड़ने पर पिछलग्गू देशों को अनेक आकाओं द्वारा सैनिक सहायता भी उपलब्ध कराई जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों महाशक्तियों ने अपने पिछलग्गू देशों की हर प्रकार से मदद की थी। आर्थिक रूप से पराश्रित देशों की तुलना में इन उपनिवेशों की स्थिति अधिक खराब होती है।

नव-उपनिवेशवाद को जन्म देने वाले तत्व

(Factors Contributing to the Emergence of Neo-Colonialism)

द्वितीय विश्वयुद्ध तक पहुंचते-पहुंचते साम्राज्यवादी शक्तियां इतना अधिक कमजोर हो गई कि वे पराधीन राष्ट्रों पर अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य सिद्ध होने लगे। साथ में पराधीन देशों में निरन्तर उभर रही राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप उभरे स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को बहुत हानि पहुंचाई। दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचाया। वे अब इस स्थिति में नहीं रहे कि आन्दोलनकारी ताकतों से लोहा ले सकें। इसलिए उन्होंने अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण ढीला कर दिया और उपनिवेशी शासन का अन्त होने लगा। लेकिन इसके बाद एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जिसे नव-उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। यह विकसित साम्राज्यवादी देशों द्वारा अपनी खण्डित अर्थव्यवस्थाओं को पटरी पर लाने के लिए किए गए प्रयासों का महत्वपूर्ण हिस्सा था। साम्राज्यवादी ताकतें चाहती थी कि आर्थिक नियंत्रण द्वारा वे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण लादकर उनसे पहले जैसा ही लाभ उठा सकती हैं। इसके जन्म के निम्नलिखित कारण हैं -

1. **उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय -** धीरे धीरे औपनिवेशिक शोषण के शिकार देशों में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। इससे वहां पर स्वतन्त्रता आन्दोलन का तेजी से विकास होने लगा। भारत जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने औपनिवेशिक ताकतों को यह अहसास करा दिया कि अब उनका नियंत्रण ज्यादा दिन तक नहीं टिक सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकृति मिल चुकी थी। इसलिए समय की नाजुकता को देखकर उन्हें अपनी उपनिवेशों को स्वतन्त्र करना पड़ा। परन्तु उन देशों की राजनीतिक अस्थिरता ने इन देशों को अपना आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने का मौका दे दिया। इससे पुराना उपनिवेशवाद नए रूप में परिवर्तित हो गया।

2. **यूरोपीय ताकतों का कमजोर होना-** दो विश्व युद्धों ने यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर हानि पहुंचाई। अब उपनिवेशों में शासन चलाना उनके सामर्थ्य से बाहर हो गया। लगातार उठ रहे मुक्ति आंदोलनों ने भी बड़े-बड़े साम्राज्यों को नष्ट कर दिया। भारत में इंग्लैण्ड को जो हानि उठानी पड़ी, उससे भयभीत होकर अंग्रेजों ने यहा पर अपना औपनिवेशिक शासन जारी रखने में असमर्थता जाहिर की। नवोदित प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। 1949 में चीन एक साम्यवादी शक्ति के रूप में उभरा। अब वहां पर साम्राज्यवादी ताकतों का टिकना मुश्किल हो गया। माओ ने सभी साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर परिणाम की चेतावनी दे डाली। लेकिन सभी नवोदित राष्ट्र चीन व भारत जैसे शक्तिशाली नहीं थे। अधिकतर देशों में अपने आर्थिक विकास का सामर्थ्य नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने पुराने साहूकारों पर ही निर्भरता की इच्छा व्यक्त की। सभी साम्राज्यवादी ताकतें आर्थिक सहायता के नाम पर अपने अधीन रहे देशों में हस्तक्षेप के प्रयास करने लगी। इससे वहां नव-उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

3. **नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियां -** सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी आर्थिक मदद की आवश्यकता अनुभव हुई। लम्बे समय औपनिवेशिक शासन के शिकार रह चुके अधिकतर देशों के आर्थिक साधनों का दोहन साम्राज्यवादी देश कर चुके थे। इन नवोदित राष्ट्रों के पास अपने आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त पूंजी थी और न ही तकनीकी ज्ञान, अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्रापत करने के लिए इन देशों ने पुरानी उपनिवेशीय ताकतों से कर्ज लेने पर मजबूर कर दिया। इससे इन देशों में पुरानी उपनिवेशीय ताकतें फिर से अपना जाल बिछाने में कामयाब हुई और नए-उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

4. **साम्राज्यवादी ताकतों की मजबूरियां-** दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी ताकतों को बहुत ज्यादा आर्थिक हानि पहुंचाई। उपनिवेशवादी शासन के अन्त के साथ ही उनके कच्चे माल के स्रोत तथा तैयार माल बेचने वाली मंडिया समाप्त हो गई। इससे साम्राज्यवादी देशों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में मंडियों की खोज व कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए क्या किया जाए। ऐसे समय में नवोदित राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियों का लाभ उठाने का विचार उनके मन में आया। इसलिए उन्होंने आर्थिक सहायता के नाम पर इन देशों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे वहां नव-उपनिवेशवादी शासन की स्थापना के प्रयास किए जिससे वहां पर नव-उपनिवेशवाद की धारणा अस्तित्व में आई। इस व्यवस्था ने साम्राज्यादी ताकतों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने में भरपूर सहायता पहुंचाई।

5. **विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां-** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ में शीत-युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों महाशक्तियों ने अपनी अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए नए राष्ट्रों को अपने गुटों में शामिल करने का निर्णय किया। विदेशी सहायता, शस्त्र पूर्ति, बहुराष्ट्रीय निगमों पर नियंत्रण आदि साधनों द्वारा इन महाशक्तियों ने नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों को आर्थिक रूप से अपने नियंत्रण में ले लिया। इससे उपग्रही राज्यों की संख्या में व द्धि होने लगी। उनकी सभी आर्थिक नीतियां एक-एक करके नव-उपनिवेशवाद को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए ही थी। आज भी अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से अपने नव-उपनिवेशवादी नियंत्रण को सुद ढ़ बना रहे हैं।

नव-उपनिवेशवाद के साधन

(Means of Neo-Colonialism)

धनी व शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में अपने नियंत्रण के अलग अलग तरीके अपनाते हैं। उनका मुख्य ध्येय अविकसित देशों पर अपना नया साम्राज्यवादी नियंत्रण स्थापित करना है। इसके लिए उनके द्वारा अपनाए गए साधन निम्नलिखित हैं-

1. **बहुराष्ट्रीय निगम (Multi National Corporation)**

   सभी धनी देशों द्वारा विश्व के सभी भागों में आर्थिक तथा औद्योगिक इकाईयों को नियंत्रित करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का जाल बिछाया गया है। अपनी आर्थिक शक्ति व कार्यक्षेत्र में व हता के कारण ये अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी देशों में अपनी मनमानी करने लगते हैं। इनका उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। विकासशील देशों में ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां प्रत्यक्ष पूंजी निवेश करके पूंजीवादी देशों के लिए कच्चा माल तथा प्राथमिक उत्पादन की पूर्ति की गारन्टी देते हैं। ये सर्वाधिक निवेश प्राथमिक उत्पादन तथा कच्चा माल के क्षेत्र में करते हैं। ये जीवन में मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं के निवेश में सर्वाधिक मुनाफा देखते हैं। विकासशील देशों में सस्ते श्रम, कच्चे माल

तथा शोषण की तीव्रता के कारण पूंजी निवेश से अधिक मुनाफा होता है। 1996 में भारत में 741 विदेशी कम्पनियों ने निवेश कर रखा था। भारत जैसे विकासशील देश में भी इन कम्पनियों को कई गुणा लाभ प्राप्त होता है। अपनी पूंजी की सुरक्षा के लिए ये निगम अपने नियंत्रण वाले देशों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते हैं। ये कम्पनियां विदेशों में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी व्यापार, वाणिज्य तथा उत्पादन व वितरण पर अपना एकाधिकार करने के लिए कार्य कर रहे हैं। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों पर इनका पूरा नियंत्रण है। IBM, GEC तथा Standard Oil जैसी कम्पनियां इन देशों से काफी मुनाफा उठा रही हैं। अपने मुनाफे की दर को अधिक से अधिक ऊंचे स्तर पर ले जाने के लिए ये अपने अधीन राष्ट्रों के राजनीतिक हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगम नव-उपनिवेशवाद के सबसे अधिक शक्तिशाली साधन हैं और इन्हें सभी विकसित राष्ट्रों का पूरा समर्थन प्राप्त होता है।

2. **विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज (Foreign Aid and Loans)** - नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आर्थिक विकास के लिए पूर्ण रूप से विदेशी सहायता व साम्राज्यवादी कर्ज पर ही निर्भर हैं। अपने कर्ज की आड़ में तथा विदेशी सहायता के नाम पर विकसित राष्ट्र इन देशों को मनमानी शर्तें मानने के लिए बाध्य कर देते हैं। इन्हें कर्ज लेते समय अनेक कठोर शर्तें भी माननी पड़ती है। इन देशों का कर्जा दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। निर्यात से प्राप्त आय का अधिकतर हिस्सा साम्राज्यवादी कर्ज का ब्याज चुकाने में लग जाता है और भुगतान संतुलन का घाटा निरंतर बढ़ता ही जाता है। उन्हें इस कर्ज की राशि का प्रयोग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से ही सामान खरीदने के लिए करना पड़ता है। उन्हें व्यापार अवरोधों को समाप्त करने की शर्तें भी माननी पड़ती है। सभी शर्तें पूंजी निवेश करने वाले देशों के हितों की पोषक होती हैं। विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले देश को सदैव निवेशक या सहायता प्रदान करने वाले देश के हितों में व द्धि करने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने पड़ते हैं। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी कर्ज और विदेशी सहायता पर विकासशील देशों की निर्भरता बढ़ती ही जाती है। अल्प विकसित या पिछड़े हुए देशों की हालत तो विकासशील देशों से भी बदतर होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज की होड़ में विकसित देश नव-उपनिवेशवाद का ही पोषण कर रहे हैं।

3. **हथियारों की पूर्ति (Supply of Arms)** - आज के आणविक युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को सैनिक व सामरिक द ष्टि से सुरक्षित देखना चाहता है। इसके लिए उन्हें विकसित देशों से शस्त्र खरीदने पड़ते हैं। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण ये देश कई बार कर्जा भी लेते हैं। आज विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय का अधिकतर हिस्सा हथियार खरीदने पर ही खर्च हो रहा है। महाशक्तियों द्वारा किया जाने वाला शक्ति प्रदर्शन शस्त्र प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है। 1979 में महाशक्तियों का आपसी टकराव विदेशों में पहुंचकर पर्याप्त लाभ दिलाए। इन महाशक्तियों द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद किए गए शक्ति प्रदर्शन इनके शस्त्र उद्योग में आई मन्दी को कम करने में सहायक सिद्ध हुए। आज त तीय दुनिया के अधिकतर देश अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ से ही हथियार खरीदते हैं। अपनी औपनिवेशिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने तीसरी दुनिया के देशों में अपने सैनिक अड्डे खोल रखे हैं। हथियारों की पूर्ति के रूप में ये देश नव-उपनिवेशवाद को ही बढ़ावा दे रहे हैं।

4. **अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं (International Economic Institutions)** - आज विश्व बैंक (World Bank), अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन कर रही हैं। ये संस्थाएं ऋण देते समय कठोर शर्तें लगाकर नव-उपनिवेशवाद का ही पोषण करती हैं। देशों को दिया जाने वाला ऋण हमेशा राजनीतिक प्रतिबन्धों पर आधारित होता है। वह हमेशा विकसित राष्ट्रों के हितों का ही पोषक होता है। इसीलिए त तीय विश्व के देश नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग करते रहते हैं। उनका आरोप है कि विश्व की आर्थिक संस्थाएं साम्राज्यवादी हितों को पोषित करने वाली है। ये निरंतर पिछड़े हुए या विकासशील देशों के आर्थिक व राजनीतिक हितों पर कुठाराघात करती हैं। इस तरह ये उपनिवेशवाद के नए रूप को बढ़ावा दे रही हैं।

5. **आश्रित या उपग्रही - राज्य (Dependencies or Satellite)** - साम्राज्यवादी शक्तियां आर्थिक सहायता देकर पिछड़े राष्ट्रों को निरंतर कमजोर करती रहती है। वहां के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में साम्राज्यवादी या निवेशकर्ता देश का पूरा हस्तक्षेप बढ़ जाता है। विदेशी ताकत आश्रित देश के व्यापार पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखती है तो उनका नियंत्रण धीरे-धीरे स्थायी रूप प्राप्त कर लेता है और यह निर्भरता निरन्तर बढ़ती ही रहती है और वह अन्त में उपग्रही राज्य का रूप ले लेता है। अब साम्राज्यवादी ताकत आर्थिक क्षेत्र की बजाय राजनीतिक क्षेत्र की तरफ अपना ध्यान लगा लेती है। इससे उपग्रही राष्ट्र को अपने आका की हर बात मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। 1990 से पहले सोवियत संघ

ने इस प्रकार की नीति का खुलकर प्रयोग किया था। इसके पीछे नव-उपनिवेशवाद के प्रसार की ही भावना विद्यमान रहती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज भी नव-उपनिवेशवाद के रूप में विकसित राष्ट्र अल्पविकसित तथा विकासशील देशों पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं। दक्षिण के गरीब देश निरंतर नव-उपनिवेशवाद के शोषण का शिकार हो रहे हैं। उत्तर के विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से इन देशों पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए हुए हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विकासशील व पिछड़े देशों में दीमक की तरह घुस रही हैं। अधिकतर देशों में ये राजनीतिक व्यवहार को भी प्रभावित करने में समर्थ है। अपने हितों की पूर्ति के लिए विकसित राष्ट्र सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का भी सहारा ले रहे हैं। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में अपने आर्थिक या डॉलर साम्राज्यवाद का तेजी से विकास कर रहा है। वह आर्थिक जीवन के साथ-साथ विकासशील व पिछड़े त तीय विश्व के देशों के राजनीतिक क्रिया-कलापों में भी हस्तक्षेप करने लगा है। यदि उसके उभरते नव-उपनिवेशवाद को न रोका गया तो समस्त विश्व के लिए नया खतरा पैदा हो जाएगा। आज त तीय विश्व के देशों को एकजुट होकर नव-उपनिवेशवाद की जड़ें उखाड़ने की जरूरत है ताकि नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सके।

अध्याय-13
निर्भरता का सिद्धान्त
(Theory of Dependency)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्भरता का सिद्धान्त मूल रूप से मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है। मार्क्सवाद के साथ-साथ होबसन व लेनिन के साम्राज्यवाद की अवधारणा ने इसे और मजबूत बना दिया है। परन्तु क्योंकि मार्क्सवाद राज्य के अस्तित्व को नहीं मानते इसीलिए इसे नव-मार्क्सवादी अवधारणा मानना ज्यादा तर्कसंगत होगा। वैसे तो यह अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 1950 के दशक से विद्यमान है, परन्तु 1970 के दशक से ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई है। इस काल के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु राजनीतिक-आर्थिक तत्वों में संबंध पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों में पॉल बरान, पॉल स्वीजी, हेरी मैडगाफ, एंड्रि गुंडर फैंक, अग्रहीरी इमेनुअल, समीर अमीन, इमेनुअल वालरस्टेन आदि प्रमुख हैं।

इस सिद्धान्त का अध्ययन करने से पूर्व यह जानना जरूरी है कि 1970 के दशक के बाद यह सिद्धान्त इतना महत्वपूर्ण कैसे बना। निम्नलिखित कारणों से इस सिद्धान्त की चर्चा पर अधिक बल दिया जाने लगा-

1. सर्वप्रथम, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये विभिन्न बदलावों के परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त को अधिक महत्व मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों के मध्य संबंधों का मुख्य आधार परस्पर अन्तः निर्भरता रहा। धीरे-धीरे यह अंतर्निर्भरता उनके (विशेषकर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की) अस्तित्व का प्रश्न बन गया। परन्तु इसके साथ-साथ विकास का दौर भी जारी रहा। लेकिन यह विकास आर्थिक रूप से समान नहीं रहा। अतः एक दूसरे पर निर्भरता और अधिक उजागर होने लगी तथा इनके प्रभावों के आंकलन की प्रक्रिया में निर्भरता के सिद्धान्त का जन्म हुआ।
2. द्वितीय, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया, अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका के बहुत से राज्य स्वतन्त्र हुए। स्वतन्त्रता के उपरान्त इन राज्यों को राष्ट्र निर्माण की बहुत सी समस्याओं से जूझना पड़ा। तब इन नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों को अनुभव हुआ कि राजनैतिक स्वतन्त्र उपरान्त भी ये राज्य वास्तव में आजाद नहीं है। बहुत से आर्थिक मुद्दों पर ये आज भी अपने ऐतिहासिक सन्दर्भो से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, प्राचीन द ष्टिकोणों के माध्यम से उनकी इन समस्याओं का अध्ययन करना भी सम्भव नहीं रहा था। अतः एक नये द ष्टिकोण की आवश्यकता महसूस होने लगी जो राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के संबंधों के अनुरूप इनकी समस्याओं का अध्ययन कर सके।
3. त तीय, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दक्षिणी अमेरिकी देशों में से ज्यादातर अपना प्रशासन सुचारू रूप से नहीं चला सके तथा वहां पर अराजकता, राजनैतिक अस्थिरता, प्रशासनिक विफलता आदि सामान्य बात हो गई। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठा कि क्यों इन राष्ट्रों का विकास नहीं हो पा रहा है? किन कारणों से यहां अशांति एवं विफलताएं फैली हुई हैं? इनके कारणों के जांच के बिना इनका समाधान सम्भव नहीं था। और इस जांच हेतु यह पाया गया कि इसमें आर्थिक व राजनैतिक तत्वों के संबंध की जानकारी अति महत्वपूर्ण रहेगी।
4. अन्ततः, 1970 के दशक तक आते-आते ज्यादातर तीसरी दुनिया के देश स्वतन्त्र राष्ट्रों की श्रेणी में आ चुके थे। अब उनके राज्यों में राजनैतिक व प्रशासनिक गतिविधियां पूर्ण हो चुकी थी। परन्तु उन राष्ट्रों के समक्ष मुख्य चुनौतियों के रूप में राष्ट्र निर्माण, व्यापार, आर्थिक विकास, औद्योगिक विकास आदि की बहुत सी समस्याएं उपलब्ध थी। इन सभी कारणों से अब राजनैतिक की बजाए आर्थिक विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण होते चले गये। इसलिए बढ़ते हुए आर्थिक महत्व के परिणामस्वरूप निर्भरता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया।

निर्भरता का सिद्धान्त इस मूल मान्यता पर आधारित है कि राजनैतिक एवं आर्थिक कारकों के बीच एक गहन संबंध होता है। ये दोनों कारक परस्पर प्रभावित करते हैं तथा काफी हद तक आर्थिक कारकों के आधार पर राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलते हैं।

इस सिद्धान्त को परिभाषित करना अति कठिन है, क्योंकि अलग-अलग लेखकों ने विभिन्न प्रकार से इसकी व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश की है। मुख्य रूप से विभिन्न विद्वानों का मानना है कि - प्रथम, निर्भरता एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से परिधि वाले राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी प्रणाली में संगठित करने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय, इस प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रों के संरचनात्मक स्थिति में परिवर्तन से उनके समाजों में विकृतियां पैदा होती हैं।

इस सिद्धान्त को विश्लेषण की सुविधा हेतु दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

I. निर्भरता पर आधारित

II. विश्व प्रणाली सिद्धान्त

I. निर्भरता पर आधारित

बहुत से विद्वानों ने इस सिद्धान्त को 'केन्द्र' व 'परिधि' के राष्ट्रों के मध्य हुई आर्थिक व राजनैतिक अन्तःक्रियाओं के रूप में देखा है।

मूल रूप में उनकी सोच में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु किसी कारक विशेष को अधिक व कम महत्व की द ष्टि से उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है जिसका विवरण इस प्रकार से है -

i. **संरचनात्मक स्कूल** - इस वर्ग के अग्रणीय लेखक के रूप में राऊल प्रबीसिच, जो संयुक्त राष्ट्र के दक्षिणी अमेरिकी आर्थिक आयोग के अध्यक्ष रहे, का नाम लिया जा सकता है। इसके साथ-साथ फुरटाडो व शंकल को भी इसी वर्ग में शामिल माना जा सकता है।

   इस विचार के समर्थक विद्वान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को केन्द्र व परिधि के राज्यों में बंटा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार उत्पादन के परम्परागत तरीकों से केन्द्र के राष्ट्रों के पास अत्याधिक सम्पदा इकट्ठी हो गई है। इसीलिए उन विद्वानों का मानना है कि विकास व गैर विकास या अविकसित को अलग नहीं किया जा सकता, बल्कि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसके अतिरिक्त, न ही आज आन्तरिक व बाह्य कारकों के बीच अन्तर रखा जा सकता है, बल्कि दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसीलिए लैटिन अमेरिकी देशों के आधारभूत औद्योगिक विकास के बाद ही उनको औपनिवेशिक व साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्ति मिल सकती है।

   परन्तु इस वर्ग के विचारकों की उदारवादी एवं प्रगतिशील दोनों ही ने आलोचना की है। उदारवादियों का कहना है कि ये व्यापार चक्र के आर्थिक विकास प्रक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन नहीं करते। जबकि प्रगतिशील विद्वानों का आरोप यह है कि संरचनात्मक स्कूल से जुड़े लोग शोषण के बारे में उचित व सही अध्ययन करने में असक्षम रहे हैं। इसके अतिरिक्त, ये विद्वान इस बात को भी नजर अन्दाज कर देते हैं कि परिधि वाले राष्ट्रों में विकास केन्द्र के राष्ट्रों द्वारा तकनीकों के विश्वीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

ii. **गैर विकास का विकास** - इस मत से जुड़े लोगों में प्रमुख हैं एंड्रिगुंडर फ्रैंक, पाल बरान, समीन अमीन आदि। ये विद्वान विश्व व्यवस्था को "महानगरों" व "उपग्रहों" के रूप मे विभाजित मानते हैं। फैंक का मानना है कि पूंजीवाद के माध्यम से हमेशा 'उपग्रहों' वाले राज्यों में "गैर-विकास का विकास" होता है। महानगरों वाले राष्ट्र इन्हें अपने अतिरिक्त पूंजी के लाभांश से इन्हें और अविकसित बना देते हैं। उपग्रहों वाले राज्यों में अविकसितता का विकास एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही हिस्सा है, अपने आप में कोई स्वतन्त्र गतिविधि नहीं है। इसीलिए जब-जब इन उपग्रह वाले राष्ट्रों का महानगरों वाले राष्ट्रों के कमजोर बन्धन रहा है इन्होंने अपनी विकास दर को बढ़ाया है तथा जब जब ये उनसे अधिक जुड़े रहे हैं यह प्रक्रिया विपरीत रही है। इसीलिए किसी राष्ट्र में पिछड़ेपन का विकास पूंजीवादी व्यवस्था में उस राज्य के पदसोपान के आधार पर अध्ययन की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, इसका उस समाज में स्थापित आर्थिक ढांचों के आधार पर भी मूल्यांकन किया जा सकता है।

इस मत की भी दो आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं - प्रथम, पूंजी की उपलब्धता व पूंजीवाद दो अलग-अलग बिन्दु हैं सो उन्हें एक नहीं मानना चाहिए। द्वितीय, इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण रूप से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि विकास से किस प्रकार लैटिन अमेरिकी देशों में पिछड़ेपन का विकास हुआ है।

iii. **निर्भरता - विकास स्कूल** - तीसरा वर्ग उन विचारकों का है जो निर्भरता व विकास के संबंधों को जुड़ा मानते हैं। इनमें से प्रमुख विचारक हैं - कारडोसों, फालेटो व ओसवाल्डो शंकल। इनका मानना है कि ऐतिहासिक - संरचनात्मक द ष्टि से दक्षिणी अमेरिकी देशों में पूंजी निवेश के संदर्भ में मूलभूत परिवर्तन आये हैं। उनका मानना है कि पूंजी निवेश कृषि या कच्चा माल के उत्पाद की बजाय तैयारशुदा माल में लगाया गया है तथा इसके जुड़े संयुक्त उद्यमों में स्थानीय व बाह्य पूंजीनिवेशकों में सहयोग रहा है। इसीलिए निर्भरता, पूंजीवाद वर्चस्व व विकास विरोधाभाषपूर्ण न होकर तीसरी दुनिया के देशों में एक संग्रहित वर्चस्व स्थापित करने की स्थिति रही है। इसीलिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पाद को बढ़ा कर तीसरी दुनिया के देशों के शहरी आबादी की आवश्यकता की पूर्ति बाह्य बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा की गई है। इसीलिए इन समाजों की संरचनात्मक व्यवस्था में बिखराव पैदा कर दिया गया है। इसीलिए इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के देशों में निर्भरता से जुड़े विकास की स्थिति पैदा कर दी है।

   यद्यपि इस वर्ग के विचारकों ने एक पूर्व निर्धारित व्याख्या से अलग हटकर नई व्याख्या दी है, परन्तु इससे वर्ग के सिद्धान्त को एक मूल ईकाई के रूप में उचित प्रयोग नहीं किया जा सका।

उपरोक्त तीनों वर्गो में विचारों में कहीं कहीं भिन्नता भी देखने को मिलती है तथा परम्परागत मार्क्सवाद से भी कई संदर्भो में अलग है। परन्तु यह सत्य है कि इन सभी के अनुसार आर्थिक विकास की द ष्टि से 'परिधि' वाले राष्ट्र आज भी महानगरीय केन्द्रों पर निर्भर हैं। इसी कारण से शायद महानगरों मे विकास का विकास तथा परिधी राष्ट्रों में अविकास का विकास हो रहा है।

II. विश्व प्रणाली सिद्धान्त

निर्भरता सिद्धान्त के ही अन्य रूप को विश्व-प्रणाली सिद्धान्त के अंतर्गत भी अध्ययन किया गया है। यद्यपि कुछ विचारक इन दोनों को अलग मानते हैं, परन्तु दोनों की मूल मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल व्याख्या को लेकर है। अतः इसे निर्भरता के ही एक रूप के अंतर्गत स्वीकारना ज्यादा उचित है।

विश्व प्रणाली सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता इमेनुअल वालरस्टेन को कहा जा सकता है जिन्होंने अपनी पुस्तक दॉ मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टन में इसका विस्त त उल्लेख किया है। वालरस्टेन का मानना है कि इतिहास में दो प्रकार की विश्व प्रणालियां पाई जाती हैं - 'विश्व साम्राज्य' व 'विश्व अर्थव्यवस्था'। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि संसाधनों के बंटवारे के बारे में किस प्रकार से निर्णय लिए जाते हैं। उनका मानना है कि 'विश्व साम्राज्य' व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग 'परिधि' राज्यों से ' केन्द्र' राज्यों की ओर संसाधनों का बंटवारा किया जाता है। इसके विपरीत विश्व अर्थव्यवस्था प्रणाली में एक केन्द्रीयकृत राजनीतिक ढांचे का अभाव होता है। अतः कानून के द्वारा संसाधन का बंटवारा किए जाने की बजाए बाजार के माध्यम से इसे सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार यद्धपि संसाधनों के बंटवारे के सम्बन्ध में दोनों के तरीके भिन्न हैं परन्तु दोनों का ही कुल परिणाम एक समान है। वह है परिधी वाले राष्ट्रों से केन्द्रीय राज्यों की ओर संसाधनों का हस्तांतरण हो रहा है।

वालरस्टेन के अनुसार केन्द्र राष्ट्रों की विशेषता है कि - प्रजातांत्रिक सरकारें; उच्च वेतन; कच्चे माल का आयात; तैयारशुदा माल का निर्यात; उच्च पूंजी निवेश; कल्याणकारी सेवाएं आदि। ठीक इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्रों की विशेषताएं हैं - गैर - प्रजातान्त्रिक सरकार पद्धति; कच्चे माल का निर्यात; तैयार माल की आयात; निम्न स्तरीय वेतन; कल्याणकारी सेवाओं का अभाव। परन्तु वालरस्टेन निर्भरतावादियों से थोड़ा भिन्न हैं। वे केन्द्र व परिधि के इलावा राष्ट्रों की एक त तीय श्रेणी सम परिधी भी मानते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रों की विशेषताएं हैं - सत्तात्मक सरकारें; कच्चे व तैयार माल का निर्यात; तैयार माल व कच्चे माल का आयात; कम वेतनमान; निम्न स्तरीय कल्याणकारी सेवाएं आदि।

वालरस्टेन का भी मानना है कि ये तीनों श्रेणी के राष्ट्र आपस में उत्पादन के शोषणात्मक तरीकों से जुड़े हुए हैं जिसके माध्यम से सम्पदा का हस्तांतरण परिधि के केन्द्र वाले राज्यों की तरफ हो रहा है। इसका मानना है कि क्रमिक उतार-चढ़ाव, धर्मनिरपेक्ष पद्धति एवं विरोधाभासों के कारण विश्व प्रणाली में संकट आते हैं। इन्हीं संकटों के कारण नई विश्व व्यवस्था का जन्म होता है।

वालरस्टेन के विश्व प्रणाली सिद्धान्त की मार्क्सवादियों एवं गैर-मार्क्सवादियों दोनों ही ने आलोचनाएं की है। कुछ लेखकों जैसे चेज व पून का मानना है कि वालरस्टेन ने इसे केवल आर्थिक कारकों तक ही सीमित कर दिया, जबकि अन्य कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। द्वितीय, फ्रैंक व गिल का मानना है कि वालरस्टेन ने इस सारे प्रकरण को यूरोप केन्द्रित बना कर रख दिया जिसके उत्पत्ति मध्ययुगीन यूरोप से मानी जाती है। परन्तु यदि गहन अध्ययन किया जाए तो वर्तमान विश्व प्रणाली की जड़ें मध्ययुगीन यूरोप से कहीं अधिक मजबूत हैं।

उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि निर्भरता के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

i. सर्वप्रथम अधिकतर विद्वानों का मानना है कि वर्तमान संदर्भ में राज्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण पूंजीवाद का विकास है। इसी पूंजी के विकास के कारण अंतर्राष्ट्रीय अन्तः क्रियाओं का आरम्भ माना जा सकता है। राज्यों के बीच संसाधनों को लेकर संघर्ष तथा केन्द्र वाले राज्यों का परिधि वाले राज्यों के साथ शोषण युक्त संबंधों का मूल कारण पूंजीवाद का विकास ही माना जा सकता है।

ii. अधिकतर विद्वानों का मत है पूंजी व उत्पादन के संबंधों की द ष्टि से विश्व दो भागों या तीन (वालरस्टेन) भागों में बंटा हुआ है। ये तीनों भाग हैं - केन्द्र, परिधि व सम-परिधि वाले राष्ट्र। इन राष्ट्रों को मूल रूप में देखें तो विकसित या पिछड़े राष्ट्रों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वालरस्टेन के सम-परिधि वाले राष्ट्रों को दोनों का मिश्रण या विकासोन्मुख राष्ट्र कहा जा सकता हैं

iii. यदि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों की तुलना करें तो दोनों की गतिविधियां एक दूसरे के विरोधी पाई जाती हैं केन्द्र वाले राज्य मुख्य रूप से विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं अतः मूलतः प्रजातान्त्रिक पद्धति के साथ साथ जनसाधारण का रहन सहन का स्तर उच्च दर्जे का है। यहां पर आयात मुख्य रूप से कच्चा माल किया जाता है तथा तैयारशुदा माल निर्यात होता है। यहां कल्याणकारी सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्र मुख्यतः विकासशील या पिछड़े राज्यों की श्रेणी में आते हैं। यहां पर ज्यादातर देशों में सरकारें निरंकुश व तानाशाही पर आधारित होती हैं। ये मुख्यतः अपना कच्चा माल निर्यात कर विकसित राष्ट्रों से तैयार माल आयात करते हैं। इनके यहां सार्वजनिक व कल्याणकारी सेवाओं का अभाव भी मिलता है। इस प्रकार दोनों की स्थित एक-दूसरे के विपरीत पाई जाती है।

iv. दोनों वर्गो के देशों में अतिरिक्त मूल्य की उपलब्धता में भी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। जहां तक केन्द्र वाले राज्य हैं वहां तकनीकि व औद्योगिक विकास होने के कारण उत्पादकता अधिक होती है। इसके साथ-साथ लागत कम होने से अतिरिक्त मूल्य काफी मात्रा में पाया जाता है। दूसरी ओर विकासशील देश औद्योगिक व तकनीकी दोनों की द ष्टियों से पिछड़े होने के कारण अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने में सक्षम नहीं होते। अतः विकसित राष्ट्र ही बाह्य देशों में पूंजीनिवेश या वर्चस्व बनाने की सोच सकते हैं, विकासशील राष्ट्रों का तो मात्र शोषण ही होता है।

v. इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि ज्यादातर विकासशील देश राजनैतिक रूप से तो स्वतन्त्र हैं लेकिन आर्थिकरूप से अभी भी वे अपने केन्द्रों (औपनिवेशिक ताकतों) से जुड़े हुए हैं। इस कारण से वे राष्ट्र सैद्धान्तिक रूप से तो आजाद है, परन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं है। अपनी आर्थिक निर्भरता के कारण वे अभी भी 'केन्द्र' सम्बन्धित राष्ट्रों की ओर ही देखते हैं।

vi. यदि केन्द्र व परिधि वाले राज्यों के आर्थिक उत्पादन की दिशा देखें तब दोनों प्रकार के राष्ट्रों की स्थिति बड़ी ही विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती है। जहां तक केन्द्र वाले राज्यों का प्रश्न है वहां पर एड्री गुंडर फ्रैंक की भाषा में "विकास का और विकास" हो रहा है। जबकि परिधि वाले राष्ट्रों की स्थिति बिल्कुल ठीक इसके विपरीत है। इन देशों में "अविकास या पिछड़ेपन का और विकास" हो रहा है। अर्थात् जहां पर केन्द्र वाले राज्य उन्नति की ओर अत्याधिक अग्रसर हैं, वहीं परिधि वाले राष्ट्र अवनति या पतन की ओर अधिक अग्रसर हैं।

vii. इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य शोषण का रिश्ता होता है (केन्द्र वाले राज्य अलग-अलग तरीकों के माध्यम से परिधि वाले राज्यों के संसाधनों का हस्तांतरण कर अपना विकास करते रहते हैं। यह संबंध ऐतिहासिक काल में ही नहीं, अपितु वर्तमान समय में भी बदले हुए रूप में जारी है। वर्तमान समय में ये राष्ट्र बहुराष्ट्रीय या राष्ट्रोपरि कम्पनियों के माध्यम से इनके संसाधनों का निरंतर हस्तांतरण अपने पक्ष में करते रहते हैं। इन

राष्ट्रों की राजनैतिक आजादी के बाद आज तक इस प्रकार का शोषण बदले हुए स्वरूप में जारी है।

viii. केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य नवीन आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्यों की स्थिति व स्वरूप बदल गए हैं। नवीन शक्ति समीकरण बन गये हैं जिसके अंतर्गत केन्द्र के राज्य अत्याधिक पूंजी के विकास के कारण शक्तिशाली राष्ट्र बन गए हैं। परन्तु परिधि के राष्ट्रों के पास साधनों का अभाव है इसीलिए मात्र छोटे राज्यों की श्रेणी में आ गए हैं दोनों राष्ट्रों के बीच राजनैतिक व आर्थिक विभिन्नता के साथ-साथ शक्तिशाली व कमजोर राष्ट्रों का बंधन स्थापित हो गया है।

ix. इन बदली हुई परिस्थितियों के कारण अब विश्व व्यवस्था का शक्ति संतुलन भी केन्द्र वाले राष्ट्रों के हाथ में आ गया है। वे राष्ट्र अब अपनी शक्ति के विस्तार व प्रदर्शन हेतु मूलतः दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण करते हैं। प्रथम, ये राष्ट्र परस्पर शक्ति संतुलन का सिद्धान्त लागू करते हैं। इसके माध्यम से ये सतत् रूप से शक्ति के बढ़ाने व संतुलन बनाने में लगे रहते हैं। द्वितीय, आपसी संतुलन के बावजूद इन शक्तिशाली राष्ट्रों का अन्तिम उद्देश्य अपना वर्चस्व या सर्वाधिकार स्थापित करना रहता है। इन्हीं दोनों नीतियों के कारण वे शक्तिशाली होकर भी हमेशा यथास्थिति बनाए रखने में संघर्षरत रहते हैं।

x. इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों के संबंध मात्र राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति तक ही सीमित नहीं हैं। केन्द्र वाले राज्यों द्वारा परिधि के राष्ट्रों का शोषण करने की प्रक्रिया में मजदूरों का सम्मिलित होना भी अनिवार्य हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के मध्य रंगभेद की विचारधारा का जन्म भी हो गया है। जातीय या चमड़ी के रंग को लेकर भी अब विकसित देश अपने को श्रेष्ठ एवं विकासशील राष्टों को हेय मानने लगे हैं। अतः राजनैतिक व आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक द ष्टि से भी इन राष्ट्रों के बीच की खाई और गहरा गई है।

आलोचनाएं

निर्भरता के सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं-

i. सभी विद्वानों इस सिद्धान्त के अंतर्गत केन्द्र व परिधि को एक संगठित स्वरूप प्रदान करते हैं। परन्तु इस प्रकार की मान्यता बिल्कुल गलत है। दोनों श्रेणियों के राष्ट्रों में कितनी भी समानता हो फिर भी पूर्णरूप से सभी राष्ट्रों के मध्य एकरूपता मानकर चलना गलत है। केन्द्र वाले राष्ट्रों एवं परिधि वाले राष्ट्रों में आपसी मतभेद भी व्याप्त है। इन समूहों के आन्तरिक विवादों/मतभेदों को नकारना व्यर्थ है। अतः इस मोटे रूप में विभाजन से इन समूहों के आपसी मतभेदों/समस्याओं का विश्लेषण नहीं हो पाता।

ii. इस सिद्धान्त की एक सबसे महत्वपूर्ण कमी इसके पूर्व निर्धारित स्वरूप की है। इसमें पूंजीवाद को ही एकमात्र राष्ट्रों के शोषण का कारण माना है। अतः सिद्धान्त की सारी प्रक्रिया को मात्र एक तत्व में समेट कर रख दिया है। यह सत्य है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य आर्थिक संबंध एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि सिर्फ यही एक मात्र कारण नहीं है। अन्य कारक भी काफी हद तक इन राष्ट्रों के स्वरूप में परिवर्तन हेतु उत्तरदायी हैं।

iii. इस सिद्धान्त के आधार पर विश्व प्रणाली की पद सोपान के बारे में तो बताया गया है, परन्तु इसमें परिवर्तन या बदलाव हेतु कुछ नहीं कहा गया। इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि राष्ट्र हमेशा इन दो श्रेणियों में ही बंटे रहेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों को इसी स्वरूप में अनन्त मान लिया गया है तथा यह मानकर चला गया है कि यह निरन्तरता जारी रहेगी। परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल भिन्न है। विश्व परिवर्तनशील व गतिमान है। अतः इस सिद्धान्त को विश्व प्रणाली में बदलाव के तरीकों एवं इसके परिवर्तित स्वरूप की स्थिति के बारे में कुछ आंकलन अवश्य करना चाहिए था।

iv. इस सिद्धान्त के आधार पर माना गया है कि परिधि वाले विकासशील देशों को पूंजीवाद का लाभांश नहीं मिला तथा वे विकास प्रक्रिया से वंचित रहे हैं। परन्तु ऐसी सम्पूर्ण तीसरी दुनिया के देशों में नहीं हुआ। पूर्व एशिया व दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में पूंजीवाद से अत्यन्त लाभ कमाया है। तथा 1997 से पूर्व दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों को पूंजीगत विकास में एशियाई टाईगर माना जाता रहा है। इसी प्रकार कुछ अन्य तीसरी दुनिया के देश भी मध्य दर्जे की अर्थव्यवस्था व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आये हैं।

v. कुछ आलोचकों का मानना है कि निर्भरता के सिद्धान्त ने विकासशील देशों की व्यवस्थाओं को समझने के बहुत कम प्रयास किए हैं। उन्होंने उनके पिछड़ेपन के कारण का विश्लेषण करने से ज्यादा कम विकसित देशों को एक विचारधारा प्रदान करने की कोशिश की है। इस द ष्टिकोण का मुख्य केन्द्र बिन्दु विकसित राष्ट्र, उनसे सम्बद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं राष्ट्रोपरि कम्पनियों की आलोचना रहा है। परन्तु वास्तव में इन कारकों के साथ विकासशील देशों की आन्तरिक कमजोरियों, वहां के नेत त्व द्वारा की गई फिजूलखर्ची, योजनाओं का गलत प्रारूप एवं लागू करना आदि भी उनकी वर्तमान स्थिति हेतु समान भागीदार रहे हैं।

vi. इस द ष्टिकोण पर यह भी आरोप लगाया है कि इसके माध्यम से समस्याओं का अत्याधिक सरलीकरण कर दिया गया है। सैद्धान्तिक रूप से अति आधुनिकतम पद्धतियों व तरीकों की खोज करने की बजाए मोटे तौर पर व हत निष्कर्ष निकाल कर सैद्धान्तिक बारीकियों की खोज का मार्ग अवरुद्ध किया है। व्यावहारिक स्तर पर समस्याओं की गम्भीरता, गहन विश्लेषण व क्रमबद्ध अध्ययन का स्थान सरलीकरण ने ले लिया है। अतः कई आलोचक इस सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक योगदान को विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के समाधान हेतु महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं।

उपयोगिता

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त की उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता जो निम्नलिखित हैं-

i. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों के उदय से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आधार भूत परिवर्तन आए। उन्हीं परिवर्तनों का आंकलन करने हेतु कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ जिनमें से मुख्य रहे - यथार्थवाद, अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली, खेल, सौदेबाजी, संचार आदि। परन्तु इन सभी सिद्धान्तों ने विश्व व्यवस्था में यथास्थिति का अध्ययन मात्र किया है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों की उत्पत्ति पाश्चात्य विद्वानों के पूर्व निर्धारित मनः स्थिति का प्रतीक भी रही। परन्तु यह पहला सिद्धान्त था जो यथास्थिति की बजाए बदलाव की बात करने लगा। इसके अतिरिक्त, इसके माध्यम से विकासशील राष्ट्रों के शोषण की समस्या पर गहन मंथन किया गया। परिधि वाले राष्ट्रों को केन्द्र बिन्दु मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

ii. इस सिद्धान्त से पूर्व सभी सिद्धान्त राजनैतिक ढांचों के अध्ययन पर बल देने वाले रहे हैं। इस सिद्धान्त के माध्यम से पहली बार आर्थिक कारकों के महत्व को केन्द्र बिन्दु माना है। आर्थिक तत्व को महत्वपूर्ण मानने के साथ-साथ इसने राजनैतिक व आर्थिक कारकों के सम्बन्धों एवं उनके प्रभावों का गहन विश्लेषण किया है। पहली बार इस सिद्धान्त के माध्यम से सतही कारणों की बजाए परिधि राष्ट्रों के पिछड़ेपन की समस्या का गहन अध्ययन करने का प्रयास किया। इस सिद्धान्त के माध्यम से विभिन्न श्रेणी के राष्ट्रों के बीच ऐतिहासिक संबंध एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उत्पादन नव-उपनिवेशवाद की समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया। अतः यह सिद्धान्त इन नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थिति की सत्यता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निर्भरता के सिद्धान्त के माध्यम से केन्द्र (विकसित) एवं परिधि (विकासशील) राष्ट्रों के संबंधों के माध्यम से विश्व व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप को अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त के माध्यम से वर्तमान व ऐतिहासिक संदर्भो में समन्वय पैदा करने के साथ-साथ पूंजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रों के संबंधों को समझने के उचित प्रयास किये गये हैं। यद्यपि विभिन्न विद्वानों के विचारों में भिन्नता अवश्य है, परन्तु आर्थिक कारक या पूंजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में महत्व प्रदान करने पर मुख्य तौर पर आम सहमति नजर आती है। लेकिन इस सिद्धान्त के व हत स्वरूप व व्यष्टिपूर्वक अध्ययन से इस सिद्धान्त में कई सैद्धान्तिक व व्यावहारिक कमियां स्पष्ट झलकती हैं। परन्तु आवश्यकता इस सिद्धान्त को त्यागने की न होकर इसे और बारीकियों के साथ तराशने की की है। केन्द्र व परिधि राष्ट्रों के बीच उत्पन्न वर्चस्व स्थापित करने व विकास अवरुद्ध होने की समस्याओं के गहन अध्ययनों से नए सामान्यीकरणों के स्थापित करने की अति शीघ्र आवश्यकता है।

अध्याय-14
संघर्ष समाधान
(Conflict Resolution)

यथार्थवादियों का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य शक्ति हेतु संघर्ष है। अन्य विद्वानों का भी मत है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राज्यों के अंतर्गत होने वाली प्रक्रियाओं का रूप होती है। परन्तु सभी राज्यों के राष्ट्रीय हित समान नहीं होते अतः राज्यों के मध्य संघर्ष अनिवार्य बन जाता है। संघर्षो का स्वरूप, विषय क्षेत्र व क्षमता विभिन्न हो सकती है। शायद इसी कारण संघर्षो के समाधान के बारे में जानने से पूर्व संघर्षो के स्वरूप व प्रकार के बारे में संक्षिप्त जानकारी भी अति आवश्यक हो जाती है।

सामान्य रूप से संघर्षो को दो भागों में ही बांटा जा सकता है - अहिंसात्मक व हिंसात्मक। देखने से यह प्रतीत होता है कि इस वर्गीकरण के आधार पर संघर्षो के स्वरूप को समझना बहुत आसान है। परन्तु आज के वर्तमान सन्दर्भ में सैन्य साधनों के अति आधुनिकतम शस्त्रों की उत्पत्ति के कारण यह पता लगाना इतना सरल नहीं है कि अमुक संघर्ष हिंसात्मक है या अहिंसात्मक। कई बार हिंसात्मक प्रव तियों का दिखाना मात्र करके राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति कर लेते हैं। अतः संघर्ष के बारे में जानकारी हेतु उनके हितों का विस्त त ज्ञान अनिवार्य बन जाता है। इसीलिए कई लेखक विश्लेषणात्मक द ष्टि से संघर्षो को निम्नलिखित दो प्रमुख श्रेणियों में बांट देते हैं -

I. संतुलित उद्देश्यों हेतु संघर्ष

II. वर्चस्व उद्देश्यों हेतु संघर्ष

I. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलाव के दौर की स्थिति में शक्ति विभाजित रहती है तथ अस्थिरता बनी रहती है। ऐसे में राज्यों के पास केवल सीमित विकल्प ही रह जाते हैं। अतः आपकी संघर्षो की स्थिति में केवल संतुलन के उद्देश्य प्राप्ति हेतु ही प्रयास करता है। उन संघर्षो को संतुलित-उद्देश्यों हेतु संघर्ष कहते हैं। इस श्रेणी में निम्न प्रकार के संघर्षो को सम्मिलित किया जा सकता है।

   (क) विस्तारवादी नीतियां

   (ख) परिवर्तनशीलता बनाम यथास्थिति

   (ग) राष्ट्रवाद हेतु संघर्ष

   (घ) ऐतिहासिक अनुभवों पर आधारित संघर्ष

   (ङ) जातिवादी संघर्ष

   (च) धार्मिकता हेतु संघर्ष

   (छ) सामाजिक व सांस्कृतिक संघर्ष

II. शीतकालीन युग में संघर्ष पूर्व सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य संघर्षात्मक द्वंद्व का पर्यायवाची बन गया था। दोनों के बीच संघर्ष शस्त्रों की होड़, सैन्य क्षमता का विकास, सैन्य अड्डों की स्थापना, कच्चे माल पर नियंत्रण, सहयोगियों

की निरन्तर तलाश आदि पर आधारित बन गया था। इसके परिणामस्वरूप दोनों ही मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे पर वर्चस्व स्थापित करने की होड़ में लगे रहते थे। इस प्रकार के संघर्ष में राज्य अपनी शक्ति विस्तार के साथ-साथ समूह को संगठित करने तथा उसे और प्रतियोगिक बनाने की होड़ में लीन हो गया। इस प्रकार से विश्व पूर्ण रूप से वैचारिक रूप में दो गुटों में बंट गया। इस प्रकार के संघर्ष को वर्चस्व स्थापना हेतु संघर्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार के संघर्ष हेतु लम्बी दूरी की योजनाएं बनानी पड़ती हैं तथा यह निरंतर चलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों के बीच इस स्थिति में सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावनाएं भी अत्यधिक रूप से व्याप्त रहती हैं।

संघर्षो को प्रारम्भ करना तो आसान होता है, लेकिन उनको लम्बे समय तक जारी रखना अति कठिन होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्र संघर्षो से बचना चाहते हैं। परन्तु एक बार संघर्ष प्रारंभ होने पर चार विकल्पों के माध्यम से ही उनसे बचा जा सकता है। (क) प्रथम, यदि राष्ट्र अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है; (ख) द्वितीय, वार्ता के माध्यम से ऐसे समझौते पर पहुंच जाते हैं जो चाहे पूर्ण संतुष्टि तो नहीं परन्तु आवश्यक संतुष्टि अवश्य प्रदान करें; (ग) त तीय, अनिर्णायक स्थिति में किसी संघर्ष को छोड़ देना; तथा (घ) पूर्ण हार की स्थिति में। पहली व चौथी स्थिति से तो यह स्पष्ट हो या लागत। हानि का अंकलन कर लिया हो। दूसरी स्थिति अति उत्तम होती है परन्तु यह तभी संभव है जब दोनों प्रतिद्वंद्वी समझौता करना चाहते हों तथा अपनी न्यूनतम उपलब्धि के संदर्भ में समान विचार रखते हों। अनिर्णयातक स्थिति जब आती है जब दोनों प्रतिभागी अड़ियल हो व लाभ-हानि अनिश्चित हो। इस प्रकार के संघर्ष बिना किसी दिखावे के टूट जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में संघर्ष की स्थिति राज्यों द्वारा उनके समाधान के विभिन्न साधनों व तकनीकों के खोजने पर बल देती है। परन्तु इन साधनों की खोज व उनकी सफलता संघर्ष के उद्देश्यों, स्वरूप एवं विरोधी पार्टियों के हितों पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त, यह भी सत्य है कि सभी संघर्षो के समाधान हेतु विभिन्न तरीकों की आवश्यकता नहीं होती, अपितु कई बार संघर्ष केवल अपने आप पर छोड़ देने पर भी सुलझ जाते हैं। लेकिन कई बार भावनात्मक स्वरूप अति तीव्र रूप धारण कर लेता है तब विवादों का औपचारिक हल ढूंढना आवश्यक हो जाता है। कई बार उन विवादों का हल भी आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता जिनके साथ राज्य अपने आत्म-सम्मान को जोड़ लेते हैं।

मुख्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय विवादों का हल निम्नलिखित तीन प्रमुख वर्गीकृत तरीकों के आधार पर किया जा सकता है -

I. शांतिपूर्ण तरीकों से हल

II. दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीकों द्वारा

III. युद्ध के द्वारा

इन तीनों प्रकार के साधनों के विस्त त अध्ययन के परिणामस्वरूप ही संघर्ष समाधान की प्रक्रिया को सही रूप में समझा जा सकता है। इन तरीकों का अति विस्त त वर्णन निम्न प्रकार से है।

शांतिपूर्ण तरीकों से हल

शांतिपूर्ण तरीकों के अंतर्गत हिंसा को त्याग कर विभिन्न पद्धतियों के माध्यम से समस्याओं का समाधान सम्भव है। सामान्य रूप से शांतिपूर्ण तरीकों को भी आगे दो भागों में बांटा जा सकता है -

(क) **राजनयिक व राजनैतिक तरीके** - राजनयिक व राजनैतिक निर्णय अन्तिम नहीं होते हैं इसीलिए इन्हें कई बार अनिर्णय व लागू नहीं होने वाले भी कहा जाता है। इनके अंतर्गत समाधान मुख्यतः अहम समझौतों तथा परस्पर सहमति पर अधिक आधारित होते हैं राजनैतिक निर्णय पर्यावरण सम्बन्धित कारकों व मूल्यों पर भी काफी हद तक निर्भर करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये राजनैतिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होते हैं। इस पद्धति से विवादों को निम्न रूप से सुलझाया जा सकता है।

i. **वार्ताएं** - राज्यों के बीच वाताओं के माध्यम से सबसे सरल तरीके से विवादों का शान्तिपूर्ण हल सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की वार्ताएं द्वि-पक्षीय या बहुपक्षीय दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। इस प्रकार की वार्ताएं राज्याध्यक्षों के मध्य वर्तमान समय व्यक्तिपरक राज्य अथवा सम्मेलनों के राजनय के माध्यम से भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त, ये वार्ताएं इस उद्देश्य हेतु नियुक्त राजनयिकों अथवा किसी विशेष दूत के माध्यम से भी हो सकती है। कई बार राज्यों के बीच विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलनों के समय भी वार्ताएं करना सम्भव है। अतः यह तरीका,, स्पष्ट एवं अति सरल है। परन्तु यह पद्धति उसी परिस्थिति में सम्भव हो सकती है जहां पर राज्यों के मध्य न्यूनतम स्तर की विश्वसनीयता बनी हुई हो। यदि राज्यों के मध्य आपसी विश्वास नहीं होगा तो इस कार्यवाही को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसी स्थिति में पहले राज्यों के मध्य विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों को उठाना पड़ता है तब वार्ताओं के प्रारम्भ होने की प ष्टभूमि तैयार की जाती है।

II. **सत्सेवा** - इस माध्यम से सह-राजनयिक रूप से तीसरे प्रतिभागी के हसतक्षेप से समस्याओं को सुलझाना होता है। यह तीसरा प्रतिभागी कोई प्रमुख व्यक्ति, मित्र राज्य अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। जब भी दोनों संघर्षरत राज्यों के बीच गतिरोध पैदा हो जाता है उस स्थिति में इसका अकसर प्रयोग किया जाता रहता है। इस अवसर पर गतिरोध दूर करने हेतु तीसरा राज्य अपनी सेवाएं प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस प्रकार की बातचीत तीसरे के सहयोग से प्रारम्भ होती है, तथापि तीसरा प्रतिभागी न तो कोई सुझाव प्रस्तुत करता तथा न ही उनकी सीधी वार्ताओं में भाग लेता है। यदि एक बाद सत्सेवा को स्वीकार कर लिया जाता है तो अकसर वह मध्यस्थ के रूप में भी बदल जाता है। इस प्रकार से कई महत्वपूर्ण संघर्षो का हल इस माध्यम द्वारा संभव हुआ है। उदाहरणस्वरूप, 1966 का भारत-पाक के मध्य ताशकन्द समझौता भूतपूर्व सोवियत संघ की सत्सेवा का परिणाम था।

III. **मध्यस्थता** - यह सत्सेवा का ही विस्त त रूप है। इसके अंतर्गत कोई त तीय प्रतिभागी हस्तक्षेप करके संघर्ष के समाधान हेतु कार्य करता है। यह कार्य कोई प्रमुख व्यक्तित्व, संस्थान अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। परन्तु यह सत्सेवा से इसलिए भिन्न है कि यहां यह तीसरा व्यक्ति या संस्थान सत्सेवा की भांति तटस्थ न रहकर सक्रिय भूमिका निभाता है। यह दोनों राष्ट्रों की समस्या के समाधान हेतु सुझाव भी देता है। यह दोनों विरोधियों के मध्य सद्भावना पैदा कर उनमें समन्वय पैदा करके समस्या के हल हेतु प्रयास करता है। यद्यपि मध्यस्थ अपने हलों को जबरदस्ती से उन पर थोंपना नहीं है, तथापि यह मजबूत पहल के माध्यम से उन्हें उचित समाधान सुझाता है। उदाहरण स्वरूप डॉ. राल्फ बंचे ने 1948 में अरब-इजराईल संघर्ष के समय संयुक्त राष्ट्र के मध्यस्थ के रूप में सकारात्मक भूमिका निभाई।

IV. **जांच आयोग** - कई बार जांच आयोग की स्थापना के माध्यम से भी विवादों के शान्तिपूर्ण समधान की कोशिश की जाती है। अकसर इस प्रकार के आयोग में विवादास्पद दोनों दलों से बराबर-बराबर सदस्यों को शामिल करके तीसरे राज्य/राज्यों से एक या अधिक सदस्यों को शामिल करके समाधान करने के प्रयास किए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 33 में भी यह प्रावधान है कि स्थिति उत्पन्न होने पर संयुक्त राष्ट्र को इस प्रकार के गठन का अधिकार है।

जांच आयोग मुख्य रूप से घटना से जुड़े मुद्दों का वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्रस्तुत करके तथ्यों को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। यह प्रक्रिया मुख्य रूप से दो मूल मान्यताओं पर आधारित है - प्रथम, राष्ट्रों के मध्य विवाद की मुख्य जड़ कुछ तथ्यों पर दोनों प्रतिभागियों की सहमति का न होना होता है। द्वितीय, इस कमी को भावनात्मक तुल मिलने के कारण दोनों दल सिद्धान्त पर एकमत नहीं होते। उदाहरण के रूप में 1905 में इंग्लैड रूस के बीच रूस द्वारा उत्तरी समुद्र में अंग्रेजी मछुवारों पर गोलियां चलाने का विवाद जांच आयोग की रिपोर्ट आने पर तुरन्त सुलझ गया।

V. **संराधन** - इस प्रक्रिया के अंतर्गत जांच व मध्यस्थ की प्रणालियों का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। यह भूमिका किसी व्यक्ति या आयोग द्वारा पूर्ण की जाती है। अतः इसका मुख्य कार्य तथ्यों को निर्धारित करना तथा औपचारिक रूप से विवाद के समाधान हेतु अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है।

यह प्रक्रिया अपने आप में उचित इसलिए होती है क्योंकि जांच आयोग विवाद को हल करने में केवल नाममात्र भूमिका निभाते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से विवादों को सुलझाने के शांतिपूर्ण मध्यस्थ एवं जांच का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। यह राजनयिक व राजनैतिक तरीकों में शांति स्थापित करने का सबसे औपचारिक तरीका है। यह विशेषकर गम्भीर विवादों के संदर्भ में अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तरीका न्यायिक व विधानीय प्रक्रिया से अधिक लचीला होता है। इसका उद्देश्य हमेशा समझौते के आधार पर शान्ति स्थापित करना है, न कि कानून द्वारा न्याय स्थापित करना। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1945 के बाद ऐसे कई आयोगों का गठन किया है।

लेकिन यहां इतना स्पष्ट कर देना भी अति आवश्यक है कि इस तरीके द्वारा भी संघर्ष का समाधान तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक वह दोनों विवादग्रस्त दलों को स्वीकार्य न हो। आमतौर पर दोनों दलों की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु इस माध्यम से जो सुझाव दिए जाते हैं उसके माध्यम से यह स्पष्ट करने की कोशिश की जाती है कि अमुक सुझाव को मानने से प्रत्येक प्रतिभागी को अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपरोक्त राजनयिक व राजनैतिक तरीकों के माध्यम से संघर्षो को शान्तिपूर्ण रूप से हल करने के प्रयास किए जाते हैं।

(ख) **न्यायिक तरीके** - कानून तरीकों के माध्यम से विवादों को विभिन्न प्रक्रिया व शर्तो के आधार पर हल करने के प्रयास पर बल दिया जाता है। यहां पर निर्णय केवल कानूनी पहलुओं के तहत किए जाते हैं, अतः राजनैतिक समझौतों का इसमें कोई स्थान नहीं होता। इसमें अधिकरणों एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय संघर्षरत प्रतिभागियों को मान्य होंगे, इसीलिए इन्हें बाध्यकारी कहा जाता है। इस प्रकार के निर्णय किसी तदर्थ अधिकारणों अथवा स्थाई न्यायालय द्वारा दिए जाते हैं। स्थाई न्यायालय में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है। परन्तु यह भी सत्य है कि सामान्यतया कुछ विशेष संदर्भो को छोड़कर न्यायपालिका में इन संघर्षो को ले जाना राष्ट्रों की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।

न्यायिक निर्णयों से हल किए गए विवादों राजनयिक आधार पर सामान्य विवादों के कई सन्दर्भ में अधिक लाभदायक होते हैं। सर्वप्रथम, इन तरीकों से सम्पूर्ण विवाद को न्यायालय अपने हाथ में ले लेती है। तथा इस प्रकार समग्र विवाद प्रतिभागियों के हाथों से दूर होने के कारण उनकी अपनी प्रतिष्ठा से प्रश्न से जुड़े नहीं रह जाते। अतः समाधान में कोई रुकावटें नहीं आती। द्वितीय, इनके द्वारा समाधान दोनों प्रतिभागियों या अन्य राष्ट्रों द्वारा स्थापित मानकों के आधार पर किया जायेगा। त तीय, राजनयिक तरीकों की तुलना में इस पद्धति से समाधान अत्याधिक राजनीति से तटस्थ होगा, क्योंकि इसके अंतर्गत दोनों प्रतिभागी किसी भी प्रकार की निर्णय लेने की प्रक्रिया से स्वेच्छा से पहले ही अलग हो चुके होते हैं।

जहां एक ओर न्यायिक निर्णय पद्धति के लाभ है, वहीं इसके नुकसान भी हैं। प्रथम, बहुत कम ऐसे राजनैतिक विवाद हुए हैं जिनका हल न्यायिक तरीकों से सम्भव हो सका है। द्वितीय, जितना भी कोई संघर्ष किसी भी राष्ट्र के लिए अधिक महत्वपूर्ण होगा उतना ही वह राष्ट्र चाहेगा कि इस विवाद को वह किसी तीसरे पक्ष के हाथ में न जाने दे।

उपरोक्त लाभ व हानियों के बावजूद भी निम्न तरीकों से न्यायिक आधार पर विवादों का समाधान सम्भव है-

i. **पंचनिर्णय** - पंच निर्णय की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसका अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णयों द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होना चाहिए जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न हों। इसका कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण का व्यक्ति हो। दो या अधिक राज्य भी पंच निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पंच फैसलों हेतु सौंपे जा सके।

इस संदर्भ में 1899 में प्रथम हेग सम्मेलन के समय पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय की स्थापना की गई। तभी से लेकर यह न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय पंच निर्णय का प्रमुख यंत्र बन गया। सामान्य रूप से इस न्यायालय में जाना राष्ट्रों की स्वेच्छा

पर निर्भर करता है। परन्तु एक बार अपने विवादों को इन्हें सौंपने के बाद पंचनिर्णय उन राष्ट्रों पर बाध्यकारी होगा। सामान्यतया पंच निर्णय हेतु राष्ट्र दो-दो न्यायाधीश अपनी मर्जी से चुनते हैं तथा बाद में ये चारों न्यायाधीश पांचवे न्यायाधीश (एम्पायर) का चयन खुद करते हैं। इन न्यायालयों द्वारा सामान्यतया निर्णय ऐसे प्रचलित सिद्धान्तों के आध ाार पर दिए जाते हैं जिन्हें विवादित राज्यों ने मान्यता प्रदान कर रखी हो।

ii. **न्यायिक अभिनिर्णय** - न्यायिक अभिनिर्णय मूलतः संयुक्त राष्ट्र के अधीन अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (आई.सी.जे.) द्वारा दिये गए निर्णयों के माध्यम से विवादों को हल करने से हैं। यह न्यायालय 1945 में लीग के समय स्थापित पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय का परिवर्तित रूप है। इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय समुचित प्रकार से गठित कानून के आधार पर लिए जाते हैं तथा वे निर्णय समानता व न्याय के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य स्वतः ही अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य भी होते हैं। परन्तु व्यवहारिक रूप में सदस्यों को बाध्यकारी रूप से अपने विवादों को न्यायालय के समक्ष ले जाना आवश्यक नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यह भी व्यवस्था है कि गैर-सदस्य भी महासभा व सुरक्षा परिषद् द्वारा लगाई गई शर्तो के अनुरूप अपने विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जा सकते हैं।

कई सदस्य जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधा को मानते है उन पर बिना किसी अलग समझौते के निम्नलिखित मामलों में अनिवार्य रूप से सभी कानूनी विवादों पर निर्णय मानना होगा - (i) संधि की व्याख्या के संदर्भ में, (ii) अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न के मामले में, (iii) किसी तथ्य के स्थापित होने से जिससे अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होता हो ; तथा (iv) कानून के उल्लंघन से होने वाली हानि के संदर्भ में। राष्ट्र जो इस प्रकार के निर्णय को बाध्यकारी रूप से मानता है वह इसे बिना शर्त या परस्पर आपसी बदले के आधार पर किसी निश्चित अवधि तक मान सकता है।

इस प्रकार पंच निर्णय तथा न्यायिक आत्मनिर्णय के द्वारा विवादों को निपटाने की प्रक्रिया बड़ी सीमित होती है। इस प्रकार के राज्यों के बीच विवादों के निपटारों को व्यक्तिगत निर्णयों से समाधान के समकक्ष नहीं माना जा सकता। जब यह व्यक्ति के विवादों के बारे में होता है तब यह कानून का गैर व्यक्तिपरक उपयोग होता है, परन्तु राज्यों के संदर्भ में ऐसा अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के कारण सम्भव नहीं है। इसीलिए राज्यों के विवादों में कानून का प्रभाव हाशिए पर होता है तथा उसका विवादों के हल करने में बहुत सीमित प्रभाव होता है।

दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीकों द्वारा

जब शांतिपूर्ण तरीकों से समस्या का समाधान नहीं हो तब राज्य दण्डात्मक, परन्तु अहिंसक, कार्यवाही का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की ज्यादातर कार्यवाही राजनयिक तरीकों से प्रस्तावित होती है, परन्तु उनका अन्ततः दण्डात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया प्रमुख अहिंसात्मक कदमों में प्रमुख हैं - अपने देश के राजनयिकों को वापिस बुलाना; दूसरे देश के राजनयिकों को देश छोड़ने हेतु कहना; राज्य को मान्यता प्रदान न करना; राजनयिक संबंध विच्छेद, सन्धि समाप्त करना आदि। परन्तु इनसे भी प्रमुख निम्न तरीके वास्तव में युद्ध रहित दण्डात्मक कार्यवाही हेतु प्रयुक्त होते हैं-

i. **संबंध विच्छेद**- कई बार राष्ट्र की गतिविधियों के दण्ड स्वरूप किसी राज्य से संबंध तोड़ लेना भी दण्डात्मक प्रक्रिया होती है। इस संदर्भ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अपना लेन-देन समाप्त कर लेता है। वह उस राष्ट्र से वस्तुओं का आदान-प्रदान भी नहीं रखता। इस प्रकार की कार्यवाही से आर्थिक नुकसान से ज्यादा मनोवैज्ञानिक दबाव अधिक बढ़ जाता है। कई बाद इस कारण वहां के नागरिकों की समस्या या राजनैतिक कठिनाई भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह कदम सामान्य अहिंसात्मक कार्यवाही की बजाय दण्डात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

ii. **अधिरोध** - इसके अंतर्गत मुख्यतयः दूसरे देशों की जहाजों को अपनी बन्दरगाहों पर रोकना है। जब एक राष्ट्र बदले की भावना स्वरूप दूसरे राष्ट्र के जहाजों को अपनी बन्दरगाहों में प्रवेश या निष्कासन पर मनाही करता है तो वह अधिरोध की कार्यवाही होती है। कई बार राष्ट्र इसके उल्लंघन करने वाले राष्ट्र से क्षतिपूर्ति की मांग भी करता है। परन्तु इस प्रकार जहाजों का रोकना क्षतिपूर्ति के बाद समाप्त हो जाता है।

iii. **प्रत्यपहार** - प्रत्यपहार के द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतीकात्मक कार्यवाही करता है जिसके अंतर्गत किसी राष्ट्र के माल का बहिष्कार, नौसैनिक प्रदर्शन, गोलाबारी, पोतावरोध आदि सम्मिलित होते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया तभी न्योचित होती है यदि जिसके विरुद्ध कार्यवाही कई गई है वह राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय कानून का दोषी पाया जाए। इसकी मात्रा का निर्णय प्रभावित राज्य की हानि के अनुसार निश्चित होती है। अतः वर्तमान समय में विवादों को सुलझाने हेतु अपनाये गये बाध्यकारी प्रयासों से अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण को प्रभावित करना है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का प्रयोग गैर-कानूनी है, तथापि कतिपय अंतर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ कुछ परिस्थितियों में इसे वैध ठहराते हैं।

iv. **प्रतिकर्म** - एक राष्ट्र के अभद्र व्यवहार की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे राष्ट्र द्वारा भी उसी प्रकार का व्यवहार किया जाना प्रतिकर्म है। तकनीकी रूप से इसे मात्र बदला नहीं कह सकते, बल्कि यह उससे कुछ अलग है। यह एक राष्ट्र की दूसरे के प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही अवश्य है, परन्तु इसे युद्ध की कार्यवाही हरगिज़ नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राष्ट्र को हानि पहुंचाने वाली कार्यवाही नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो एक राष्ट्र करता है लगभग उसी प्रकार की कार्यवाही प्रत्युत्तर में की जाती है। उदाहरणस्वरूप, राजनयिकों को वापिस बुलाना, उन्हें देश से निष्कासित करना आदि।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों के माध्यम से राष्ट्रों को हानि पहुंचाने या उसके डर से एक मनोवैज्ञानिक दबाव बनाकर बाध्यकारी स्थिति उत्पन्न की जाती है। इससे राज्यों पर दण्डात्मक कार्यवाही होती है, परन्तु वह युद्ध की सीमा पार नहीं करती। इसी प्रकार के प्रभावी दबावों से उन समस्याओं को हल किया जाता है जिन्हें शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना सम्भव न हो।

युद्ध के द्वारा

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जब उपरोक्त दोनों प्रकार के तरीके विफल हो जाते हैं तब युद्ध के विकल्प का सहारा लिया जाता है। युद्ध के माध्यम से संघर्ष का निपटारा अंतिम होता है। इसका प्रत्युत्तर में कोई जवाब नहीं रहता। इसमें हिंसा का भरपूर प्रयोग होता है। परन्तु युद्ध के माध्यम से भी निम्न दो प्रकार से विवादों को हल किया जाता है -

i. **सीमित युद्ध** - वर्तमान समय में हथियारों के अति आधुनिकतम स्वरूप (परमाणु, जैविक व रासायनिक) विकसित होने के कारण जब राष्ट्र युद्धों को सीमित रखने के पक्षधर हैं। आज युद्धों का सार्वभौमिक स्वरूप (विश्वयुद्ध) उपलब्ध होने से भी "पूर्ण युद्ध" की कार्यवाही से राष्ट्र डरते हैं। परन्तु "संतुलित उद्देश्यों" हेतु संघर्षो के संदर्भ में ही सीमित युद्ध की कार्यवाही कारगर हो सकती है। "वर्चस्व स्थापित हेतु" संघर्षो में यह प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

सीमित युद्ध की कार्यवाही राष्ट्रों द्वारा सीमित उद्देश्यों हेतु ही प्रयोग होती हैं इसमें राष्ट्र अपने साधनों (हथियारों) पर भी निश्चित अंकुश बर्तते हैं। इन युद्धों की भौगोलिक एवं संसाधनों के व्यय की द ष्टि से भी सीमित रखने का प्रयास किया जाता है। इसमें युद्ध के उद्देश्य की प्राप्ति के बाद उसे समाप्त कर दिया जाता है, शत्रु का पूर्ण विनाश इसका उद्देश्य नहीं होता। राष्ट्र इस प्रकार के युद्धों के माध्यम से वार्ताओं हेतु स्थान भी सुरक्षित रखते हैं ताकि अन्ततः समस्या का हल निकल सके। अतः इस प्रकार के युद्धों में राष्ट्र स्वयं पर स्वेच्छा से अंकुश लगाते हुए अपने उद्देश्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं, शत्रु का विनाश करना उनका लक्ष्य नहीं होता। न ही इसके माध्यम से कोई बहुत बड़ा नुकसान पहुचाना होता है। हां युद्ध तब तक लड़ा जाता है जब तक निर्धारित उद्देश्य न प्राप्त हो जाए या राष्ट्र वार्ताओं के माध्यम से समझाया को हल करने पर राजी न हो जाए।

ii. **सम्पूर्ण युद्ध** - बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्धों ने युद्ध के स्वरूप को सीमित से सम्पूर्ण युद्ध में बदल दिया है। इसके अंतर्गत युद्ध की प्रक्रिया, विषय क्षेत्र व स्वरूप बिल्कुल परिवर्तित हो गए हैं। यद्यपि परमाणु, रासायनिक व जैनिक हथियारों की उपलब्धता ने इसकी व्यावहारिकता पर अंकुश लगा दिए हैं, तथापि इसकी शुरुआत की सम्भावना बिल्कुल नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। बल्कि यह सत्य है कि "वर्चस्व स्थापित हेतु उद्देश्यों" के सन्दर्भ में राष्ट्र अभी भी इस विकल्प की बात करते हैं।

सामान्य तथा सम्पूर्ण युद्ध से होने वाले खतरों की द ष्टि में यह साधन प्रयोग में नहीं लाया जाता । इसके अतिरिक्त इससे दोनो प्रतिभागियों की समाप्ति का खतरा भी बना रहता है। इसमें हार-जीत भी निश्चित नहीं है। इसमें प्रयोग होने वाले हथियारों की समानता होना भी अनिवार्य नहीं होता। परन्तु फिर भी महाशक्तियों द्वारा इसके उपयोग की सम्भावनाओं को नहीं नकारा जा सकता। इस प्रकार के युद्ध में असीमित हिंसा का प्रयोग होता है। इसकी मूल मान्यता यह है कि जीत स्पष्ट रूप से तभी सम्भव होती है, अगर वह सम्पूर्ण है। इसीलिए इससे या तो सम्पूर्ण विनाश होगा या पूर्ण गुलामी। परन्तु इससे होने वाले परिणामों की गम्भीरता को देखते हुए राष्ट्र इस विकल्प के प्रयोग को उचित नहीं मानते । अतः इसका प्रयोग दुर्घटनावश या अराजकता की स्थिति में ही होने की सम्भावना रहती है।

उपरोक्त विवरण से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रों के मध्य विभिन्न प्रकार के विवाद आज भी अस्तित्व में है। उन विवादों को निपटाने हेतु विभिन्न समाधान की पद्धतियां भी अपनाई गई हैं जिन्हें मुख्यतया तीन श्रेणियों - शांतिपूर्ण, युद्ध रहित दण्डात्मक एवं दण्डात्मक - तरीकों से हल किया जा सकता है। परन्तु इन तीन पद्धतियों में से मुख्य रूप से पहले दो पद्धतियों के अंतर्गत सम्मिलित तरीकों के माध्यम से ही हल करने की कोशिश की जाती रही है। तथा काफी हद तक इस बारे में सफलता भी प्राप्त हुई है। तीसरी पद्धति के तरीकों - युद्ध - को तो केवल अन्तिम विकल्प के रूप में ही अपनाया जाता है। इसके दुर्घटनावश प्रयोग की स्थिति पर भी अति शीघ्र नियंत्रण करने की कोशिश की जाती है। सामूहिक प्रयास से ही इसका प्रयोग व समाप्ति को बेहतर माना जाता है। अति आधुनिकतम हथियारों की उत्पत्ति ने इस विकल्प को समाप्त प्रायः या कुछ स्थितियों तक ही सीमित कर दिया है।

अध्याय-15
क्षेत्रीय सहयोग
(Regional Co-operation)

क्षेत्रीय सहयोग का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का। क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग की प्रव त्ति लम्बे समय से चली आ रही है। और आज यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक वास्तविकता है जिस पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग आधारित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों के परस्परिक अविश्वास और संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) में पैदा होने वाली राजनीति अड़चनों के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय सहयोग के संगठनों की उत्पत्ति और विकास को अधिक बल मिला। इनके निर्माण का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान करना तथा क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाना है। समान विचारधारा वाले देश समान हितों को प्राप्त करने के लिए जब क्षेत्रीय सहयोग की भावना के आधार पर कार्य करने की इच्छा रखने लगते हैं तो क्षेत्रीय सहयोग संगठन का जन्म होता है। इसी क्षेत्रीय संगठन के माध्यम से सन्धिकर्ता राष्ट्र क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देकर अपने वांछित लक्ष्यों को पूरा करते हैं।

साधारणतया क्षेत्रीय सहयोग से भौगोलिक निकटता या अन्य प्रकार का साम्य रखने वाले देशों के आपसी सम्बन्धों का आभास होता है। लेकिन आज क्षेत्रीय सहयोग की प्रव ति भौगोलिक सीमाओं को लांघ चुकी है। इसमें वे देश भी शामिल हैं जो अन्य सदस्य देशों से काफी दूर हैं। आज क्षेत्रीय सहयोग का प्रमुख आधार सामान्य हित की अवधारणा है। OAS, अफ्रीकी एकता संगठन, यूरोपीय आर्थिक समुदाय भौगोलिक निकटता पर आधारित क्षेत्रीय सहयोग के प्रमुख उदाहरण हैं जबकि उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन, इस्लामिक सम्मेलन संगठन, तेल निर्यातक देशों का संगठन सामान्य हित की विचारधारा पर आधारित क्षेत्रीय सहयोग के संगठन हैं। आज अमेरिका तथा ब्रिटेन कई संगठनों के सदस्य हैं जिनके संगठन का आधार भौगोलिक न होकर हित साम्य है। इसलिए क्षेत्रवाद की अवधारणा एक जटिल अवधारणा बन गई है। इससे क्षेत्रवाद की सभी पुरानी मान्यताएं बदल गई हैं। आज भौगोलिक सीमाओं का कोई महत्व नहीं रह गया है।

क्षेत्रीय सहयोग का अर्थ
(Meaning of Regional Co-operation)

भौगोलिक द ष्टि से समीपता रखने वाले हितों में साम्य रखने वाले कुछ देशों द्वारा संगठित होने की प्रव ति को क्षेत्रीय सहयोग कहा जाता है। क्षेत्रीय सहयोग के लिए कुछ देश क्षेत्रीय आधार पर संगठित होकर अपने हितों को पूरा करते हैं। पामर व पर्किन्स ने क्षेत्रीय सहयोग या संगठन को परिभाषित करते हुए कहा है कि "क्षेत्रीय सहयोग ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें दो या दो से अधिक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य समान हित के आधार पर संगठित होकर कार्य करते हैं।" इसके लिए भौगोलिक निकटता का होना अनिवार्य नहीं है। अजा बदलते संदर्भ में क्षेत्रीय सहयोग का अर्थ है - उन सभी राज्यों के समूहों के बीच सहयोग स्थापित करना जो अपने आपको भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक हितों के रूप में बंधा हुआ महसूस करते हैं।

क्षेत्रीय सहयोग के प्रकार
(Types of Regional Co-operation)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्मित क्षेत्रीय सहयोग संगठनों के आधार पर क्षेत्रीय सहयोग को दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. क्षेत्रीय सैनिक सहयोग

2. गैर सैनिक क्षेत्रीय सहयोग।

1945 के बाद निर्मित सैनिक सन्धि संगठन जैसे - नाटो, सेण्टो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि संगठन सैनिक सहयोग के उदाहरण हैं। इन संगठनों की स्थापना का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को सैनिक आधार पर संगठित करना था।

किन्तु सैनिकवादी संगठनों की प्रव ति ज्यादा दिन तक नहीं चल सकी और अनेक देशों ने सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए अपने आपको संगठित करना शुरू कर दिया और इससे गैर सैनिक क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का जन्म हुआ। अरब लीग, सार्क, आसियान इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

क्षेत्रीय सहयोग के प्रेरक तत्व-

क्षेत्रीय सहयोग की प्रव ति को जन्म देने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं-

1. **भौगोलिक निकटता-** भौगोलिक रूप से अलग देशों का समूह अन्य भौगोलिक इकाईयों से अलग विचारधारा रखता है। प्राकृतिक साधनों का वितरण उन्हें संगठित होने के लिए प्रेरित करता है। वे एक दूसरे को सहयोग देने की भावना रखने लगते हैं। आज सामरिक द ष्टि से भी भौगोलिक एकता की आवश्यकता है। OAS का निर्माण इसका प्रमुख उदाहरण है।
2. **सांस्कृतिक सम्बन्ध-** एक महाद्वीप में बसने वाली समान जाति, बोली और धर्म भी क्षेत्रीय सहयोग को प्रेरित करती है। अरब लीग सांस्कृतिक सहयोग का प्रमुख उदाहरण है। इसमें सभी इस्लाम धर्म को मानने वाले देश शामिल हैं।
3. **स्थानीय भेदभाव समाप्त करने की इच्छा-** जब कुछ राज्य अपने अपने क्षेत्रों से स्थानीय भेदभाव मिटाने की इच्छा रखते हैं तो उससे क्षेत्रीय सहयोग की भावना का जन्म होता है। पश्चिमी गोलार्द्ध में OAS का निर्माण तथा अफ्रीकी एकता संगठन का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।
4. **राष्ट्रीय हित की भावना-** जब क्षेत्रीय व्यवस्था से राष्ट्रीय हितों की पूर्ति की प्रबल संभावना हो तो कुछ राष्ट्र आपस में मिलकर क्षेत्रीय सहयोग करते हैं। इससे उनको अपनी सुरक्षा व विकास के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।
5. **राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना-** जब किसी देश को बाहरी आक्रमण का खतरा हो या राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा खतरे में लगती हो तो अन्य देशों के साथ मिलकर अपने को सुरक्षित बनाने पर विचार करने लगता है। पाकिस्तान ने चीन, रूस व भारत से खतरा मानते हुए सैनिक संगठन सेण्टो की सदस्यता ग्रहण की है। इसलिए सुरक्षा के उद्देश्य से भी क्षेत्रीय सहयोग की प्रव ति का जन्म होता है।
6. **आर्थिक हितों की पूर्ति-** प्रत्येक देश के अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अवश्य होते हैं। अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए वह परस्पर सहयोग की भावना रखने लगता है और क्षेत्रीय सहयोग की प्रव ति अस्तित्व में आ जाती है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय, यूरोपीय सांझा बाजार इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

क्षेत्रीय सहयोग के प्रमुख उदाहरण

क्षेत्रीय सहयोग की प्रव ति काफी लम्बे समय से चली आ रही है। प्रथम विश्व युद्ध से पहले भी 1889 में 'अन्तर अमेरिकी व्यवस्था' क्षेत्रीय सहयोग के रूप में विद्यमान थी। 1925 की 'संघ राष्ट्रीय सन्धि भी क्षेत्रीय सहयोग का प्रमुख उदाहरण है। लेकिन सैद्धान्तिक रूप में क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देने में UNO की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। आज विश्व में अनेकों क्षेत्रीय सहयोग संगठन कार्यरत हैं जो क्षेत्रीय सहयोग के पुख्ता उदाहरण हैं। इनमें से कुछ प्रमुख संगठन निम्नलिखित हें-

1. उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (NATO, 1949)।
2. दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO, 1954)।
3. आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड तथा संयुक्त राज्य समझौता (ANZUS, 1951)।
4. अरब लीग (1954)।
5. दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ (ASEAN, 1967)।
6. अफ्रीका एकता संगठन (OAU, 1963)।
7. अमेरिकी राज्यों का संघ (OAS, 1948)।
8. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (SAARC, 1985)।

9. **हिन्द महासागर क्षेत्रीय सहयोग संगठन** (IORARC, 1997)
10. **एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग** (APEC, 1989)
11. **यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन** (OEEC, 1948)
12. **आर्थिक सहयोग और विकास संगठन** (OECD, 1961)
13. **यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय** (ECSC, 1952)
14. **यूरोपीय सांझा बाजार** (ECM, 1958)

क्षेत्रीय सहयोग में UNO की भूमिका

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिए UNO के चार्टर की धारा 52 में स्पष्ट लिखा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय संगठनों द्वारा की गई कार्यवाहियां संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों व सिद्धान्तों के अनुकूल होनी चाहिए। आगे कहा गया कि क्षेत्रीय संगठनों के सदस्य स्थानीय झगड़ों को आपसी बातचीत द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयास करें। UNO के चार्टर में सुरक्षा परिषद् को यह अधिकार दिया गया है कि वह क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा ही स्थानीय झगड़ों का निपटारा करने का प्रयास करे। धारा 54 में क्षेत्रीय संगठनों द्वारा किसी भी आक्रामक कार्यवाही की सूचना सुरक्षा परिषद् को देना आवश्यक है लेकिन धारा 51 में सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के लिए ऐसा अनिवार्य नहीं है। इतना होने के बावजूद भी UNO को क्षेत्रीय संगठनों की तरफ से विश्व शान्ति के लिए कोई अधिक सहायता प्रापत नहीं हो सकी है। सैन्य क्षेत्रीय संगठनों ने UNO की गतिविधियों को कमजोर किया है। यदि दोनों (क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय) संगठन साथ-साथ कार्य करें तो विश्व शान्ति की सम्भावना अधिक प्रबल होगी। गैर सैनिक संगठन कुछ हद तक UNO के उद्देश्यों व सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। इनसे क्षेत्रीय सहयोग के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का आधार मजबूत हो रहा है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है हमें UNO को मजबूरी प्रदान करने के लिए क्षेत्रीय संगठनों का पूरा सहयोग उस ओर मोड़ना चाहिए ताकि क्षेत्रीय सहयोग के साथ अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में भी व द्धि हो सके।

क्षेत्रीय सहयोग की आवश्यकता

(Need of Regional Co-operation)

आज का युग परमाणु हथियारों का युग है। आज प्रत्येक देश अपने को सामरिक द ष्टि से सुरक्षित देखना चाहता है। इसके लिए वह अन्य राष्ट्रों का सहयोग चाहता है। सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई में बांधना कठिन कार्य है लेकिन कुछ समान विचारधारा वाले देशों को तो आपस में जोड़कर विश्व शान्ति का विचार पुख्ता किया जा सकता है। आज भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति के आधार पर कुछ राष्ट्रों का संघ बनाना आसान है जो स्थानीय समस्याओं का हल भली-भांति कर सकता है। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना से विश्व शान्ति की जो उम्मीदें बंधी थी, वे निरन्तर समाप्त होती जा रही हैं। इसलिए आज विश्व व्यवस्था को क्षेत्रीय व्यवस्था में विभाजित करने की आवश्यकता है। NATO, SEATO व सैण्टों ने प्रादेशिक आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाया है। इसी तरह की अन्य व्यवस्थाएं भी इस दिशा में कार्यरत है। जब समान विचारधारा वाले अनेक राष्ट्र संगठित हो जाते हैं तो वे पारस्परिक सहयोग के आधार पर अनेकों सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याएं स्वयं हल कर लेते हैं। आज सम्पूर्ण विश्व में सांझा बाजार की व्यवस्था करना दुस्कर कार्य है। इसलिए परस्पर समान हितों वाले अनेक राष्ट्र क्षेत्रीय आधार पर सांझा बाजारों का विकास करने में लगे हुए हैं। आज यूरोपीय राष्ट्र अलग सांझा बाजार बनाकर सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने में सक्षम हैं तो अन्य राष्ट्र समूह भी ऐसा ही कर सकते हैं। इससे उनकी आर्थिक समस्याओं के साथ-साथ अन्य ढेर सारी समस्याएं भी स्वतः ही हल हो जाएंगी। इससे विभिन्न राष्ट्रों के सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होंगे। इससे आर्थिक सहयोग का जो नया क्षेत्र विकसित होगा वह अवश्य ही वर्तमान व्यवस्था से अच्छा होगा।

अध्याय-16
दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन
(SAARC)

'दक्षिण एशिया' शब्द का प्रयोग भारत के उत्तर में हिंदुकुश व हिमालय से लेकर दक्षिण में अरब सागर, हिन्द महासागर तथा बंगाल की खाड़ी के मध्य स्थित सुविस्तीर्ण भारतीय प्रायद्वीप से बने भारतीय उपमहाद्वीपीय देशों के समूह के लिए किया जाता है। भौगोलिक द ष्टि से भारतीय महाद्वीप एशिया महाद्वीप से एक प थक ईकाई लगता है। लेकिन इस क्षेत्र के लोगों में सदैव राजनीतिक एकता का अभाव रहा है। काफी लम्बे समय तक 'दक्षिण-एशिया' पर ब्रिटिश शासन का वर्चस्व रहा है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह क्षेत्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गया लेकिन इसमें आपसी मतभेदों का अम्बार लगा रहा। साम्राज्यवादी चुंगल से निकलने के बाद इस क्षेत्र में आर्थिक विकास की गति काफी धीमी रही। भारत और पाकिस्तान के आपसी मतभेदों ने इस क्षेत्र को कलह का अखाड़ा बना दिया। भारत की तरफ से आपसी मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के अनेकों प्रयास किए गए लेकिन पाकिस्तान का उत्तर नकारात्मक ही रहा। बंगलादेश के जन्म के साथ ही भारत व पाकिस्तान सम्बन्धों में कुछ बदलाव आया और पारस्परिक सौहार्दपूर्ण वार्ताएं शुरू हो गई। ऐसे वातावरण में बंग्लादेश के राष्ट्रपति जिआ-उर-रहमान की तरफ से एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन बनाने का विचार पेश किया गया।

सार्क की स्थापना

1980 के दशक क्षेत्रीय सहयोग के लिए सबसे महत्वपूर्ण समय साबित हुआ। 1981 में बंगलादेश के तत्कालीन राष्ट्रपति जिआ-उर-रहमान ने दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग सम्वर्धन हेतु एक नवीन योजना प्रस्तुत की। मन्त्रीस्तरीय वार्ताओं द्वारा इसे अमली जामा पहनाने के प्रयास उस समय सार्थक हो गए जब अगस्त, 1983 में सात देशों के विदेश मन्त्रियों ने एक सामूहिक क्षेत्रीय सहयोग का घोषणा पत्र नई दिल्ली में स्वीकार किया। इस घोषणापत्र में दक्षिण-एशियाई क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। इसके लिए आपसी सहयोग को मजबूत बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया तथा सहयोग के नए क्षेत्र तलाशने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके बाद 1984 की नई दिल्ली की बैठक में दक्षिण एशियाई देशों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ मैत्रीपूर्ण राजनीतिक संबंधों के विकास का आह्वान किया गया। इसके पश्चात् फरवरी 1985 की माले में स्थाई कमेटी की बैठक में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए सार्क देशों की मन्त्रिपरिषद् के निर्माण पर बल दिया गया। मई 1985 की थिम्पू बैठक में सार्क देशों अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए सार्क देशों ने एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन को अमली जामा पहनाया। इसमें यह निश्चय किया गया कि दिसम्बर, 1985 में ही इस संगठन का सम्मेलन बुलाया जाएगा। इस तरह थिम्पू (भूटान) बैठक द्वारा SAARC की स्थापना का रास्ता साफ हो गया और ढाका घोषणापत्र के रूप में सार्क (SAARC) का जन्म हुआ। 7 दिसम्बर, 1985 को बंग्लादेश की राजधानी ढाका में सात दक्षिण एशियाई देशों - भारत, मालद्वीप, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान, बंगलादेश तथा श्रीलंका ने सार्क के घोषणापत्र पर औपचारिक हस्ताक्षर किए।

सार्क के उद्देश्य
(Objectives of SAARC)

सार्क के चार्टर के अनुच्छेद 1 में सार्क के निम्नलिखित उद्देश्यों को परिभाषित किया गया है-

1. दक्षिण-एशिया के देशों की जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करना तथा उनके जीवन स्तर में सुधार लाना।

2. दक्षिण एशियाई देशों की सामूहिक आत्मनिर्भरता का विकास करना।
3. इस क्षेत्र में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक विकास की गति तेज करना।
4. सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग में व द्धि करना।
5. अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग को मजबूत बनाना अन्य क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना।
6. दूसरे विकासशील देशों के साथ सहयोग को बढ़ाना।
7. सदस्य देशों में आपसी विश्वास बढ़ाना तथा समस्याओं को समझने के लिए एक दूसरे का सहयोग करना।

सार्क के सिद्धान्त

(Principles of SAARC)

सार्क के चार्ट के अनुच्छेद 2 के अंतर्गत सार्क के निम्नलिखित सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है:-

1. सार्क के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग, समानता, क्षेत्रीय अखण्डता, राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।
2. क्षेत्रीय सहयोग को द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग का पूरक बनाना।
3. क्षेत्रीय सहयोग को द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग के उत्तरदायित्वों के अनुकूल बनाना।

सार्क का संस्थागत स्वरूप

(Institutional Form of SAARC)

सार्क के चार्टर के अंतर्गत सार्क के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित अभिकरणों की व्यवस्था की गई है:

1. **शिखर सम्मेलन-** इसमें सदस्य देशों के शासनाध्यक्ष आपसी समस्याओं पर विचार करने व सहयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित होते हैं। सार्क का पहला शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1985 में ढाका में हुआ था। अब तक इसके 11 शिखर सम्मेलन आयोजित हो चुके हैं। सार्क का 11वां शिखर सम्मेलन जनवरी, 2002 में काठमांडू में आयोजित हुआ।
2. **मन्त्रिपरिषद-** इसमें सदस्य देशों के विदश मन्त्री शामिल होते हैं। इसके बैठक आवश्यकतानुसार कभी भी आयोजित की जा सकती है। इसको प्रमुख कार्य संघ की नीति निर्धारित करना, सामान्य हित के मुद्दों के बारे में निर्णय करना व सहयोग के लिए नए क्षेत्र तलाश करना है।
3. **स्थायी समिति-** इसमें सदस्य देशों के सचिव शामिल हैं। इसका कार्य सहयोग के कार्यक्रमों की मॉनिटरिंग करना तथा अध्ययन के आधार पर सहयोग के नए मित्रों की पहचान करना है। यह तकनीकी समिति के कार्यो का निरीक्षण करती है व उसके कार्यो को प्रभावी बनाने के लिए सुझाव भी देती है।
4. **तकनीकी समितियां-** इसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये अपने-अपने क्षेत्र में कार्यक्रम लागू करने, समन्वय करने व उन्हें मॉनिटरिंग करने के लिए उत्तरदायी हैं। ये सहयोग के नए क्षेत्रों की सम्भावनाओं का भी पता लगाती है। इनके सभी कार्य तकनीकी आधार के हैं।
5. **सचिवालय-** महासचिव इसका अध्यक्ष होता है। उसका कार्यकाल 2 वर्ष होता है। यह पद सदस्य देशों को बारी-बारी से प्राप्त होता रहता है। सचिवालय को 7 भागों में बांटा गया है। प्रत्येक विभाग का कार्य निदेशक की देखरेख में चलता है। सचिवालय संगठन के प्रशासनिक कार्यो का निष्पादन करता है। इसकी स्थापना 16 जनवरी, 1987 को दूसरे सार्क सम्मेलन (बंगलौर) द्वारा की गई है।

इनके अतिरिक्त सार्क की एक कार्यकारी समिति भी है। जिसकी स्थापना स्थायी समिति द्वारा की जाती है। सार्क के कार्यों के निष्पादन के लिए एक वित्तीय संस्था का भी प्रावधान किया गया है। जिसमें सभी सदस्य देश निर्धारित अंशदान के आधार पर वित्तीय सहयोग देते हैं। इसमें भारत का हिस्सा 32 प्रतिशत है।

सार्क के शिखर सम्मेलन
(Summit Conferences of SAARC)

1985 से अब तक SAARC के 11 शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। उनका विस्त त वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है-

1. **पहला शिखर सम्मेलन-** सार्क का प्रथम शिखर सम्मेलन 7 से 8 दिसम्बर, 1985 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में हुआ। इसमें सातों सदस्य देशों ने भाग लिया। यह सम्मेलन जिआ-उर-रहमान के स्वप्न का साकार रूप था। इसके आयोजन से एक क्षेत्रीय सहयोग संगठन का सैद्धान्तिक आधार तैयार हो गया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता बंगलादेश के राष्ट्रपति एच.एम. इरशाद ने की। इस सम्मेलन में SAARC के उद्देश्यों व सिद्धान्तों पर आपसी सहमति हो गई। इसमें जो घोषणा पत्र प्रस्तुत किया गया उसमें सदस्य देशों को प्रतिवर्ष किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित होने के लिए कहा गया। इसमें एक मन्त्रिपरिषद् बनाने का भी निर्णय हुआ। इसमें तकनीकी समिति व कार्यकारी समिति के निर्माण की बात भी पास हो गई। इस सम्मेलन में विभिन्न समस्याओं तथा सहयोग के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक विचार - विमर्श हुआ।

2. **दूसरा शिखर सम्मेलन-** SAARC का द्वितीय शिखर सम्मेलन 16-17 नवम्बर, 1986 को बंगलौर (भारत) में हुआ। यह सम्मेलन दो दिन तक चला और इसमें सभी सदस्य देशों ने विभिन्न समस्याओं व सहयोग के क्षेत्रों पर व्यापक विचार विमर्श करके सांझी योजनाएं व नीतियां बनाने का समर्थन किया। इस सम्मेलन में भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी ने किया। उन्होंने बंगलादेश के राष्ट्रपति इरशाद से SAARC का अध्यक्ष पद भी प्राप्त किया। इसमें बंगलादेश के अनुभवी कूटनीतिज्ञ अबुल हसल को सार्क का महासचिव नियुक्त किया गया। इसमें विकासशील गतिविधियों में स्त्रियों के सहयोग पर तथा मादक पदार्थों के प्रयोग को बन्द करने के लिए एक तकनीकी समिति के निर्माण का निर्णय हुआ। इसमें सहयोग के नए क्षेत्रों रेडियो-दूरदर्शन कार्यक्रम, पर्यटन, शिक्षा व आपदा प्रबन्ध पर अध्ययन को शामिल किया गया। इसमें दक्षिण एशिया को आतंकवाद से मुक्त करने पर भी आपसी समझौता करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यद्यपि इस सम्मेलन में पाकिस्तान ने द्विपक्षीय मुद्दे उठाकर माहौल को खराब करने की कोशिश की लेकिन वह असफल रहा। जब भारत ने दक्षिण एशिया में एक सांझा बाजार (Common Market) स्थापित करने की बात कही तो पाकिस्तान ने इसका विरोध किया। पाकिस्तान भारत की बड़ी आर्थिक भागेदारी से चिन्तित था। इस सम्मेलन में विकासशील देशों पर बढ़ते ऋणों के भार पर भी चिन्ता प्रकट की गई। इसमें NIEO की मांग भी दोहराई गई तथा परमाणु निःशस्त्रीकरण पर काफी जोर दिया गया। इस प्रकार SAARC का द्वितीय शिखर सम्मेलन एक ऐतिहासिक यादगार बन गया।

3. **तीसरा शिखर सम्मेलन -** SAARC का तीसरा शिखर सम्मेलन नवम्बर, 1987 में नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में आतंकवाद निरोधक समझौता किया गया जिसमें प्रत्येक सार्क देश को किसी अन्य देश में आतंकवादी गतिविधियां संचालित न करने की बात कही गई। इसमें आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त व्यक्ति को अपने-अपने देशों में राजनीतिक शरण न देने पर सहमति हुई। नेपाल नरेश ने सार्क की मूल भावना सहयोग व आपसी सौहार्द को मजबूत बनाने का आह्वान किया। इसमें भारत के सहयोग को भी सराहा गया। भारत ने इस सम्मेलन में केन्द्रीय आर्थिक क्षेत्रों जैसे - व्यापार, उद्योग, शक्ति तथा वातावरण में सहयोग देने का विचार रखा लेकिन उसे पूर्ण समर्थन न मिलने के कारण घोषणा पत्र में शामिल नहीं किया गया। भारत ने अफगानिस्तान को सार्क का सदस्य बनाने पर अपनी सहमति प्रकट की तथा पाकिस्तान ने 'दक्षिण-एशियाई परमाणु विहीन क्षेत्र' की बात कही। इन प्रस्तावों को भी अन्तिम घोषणा पत्र में स्थान नहीं मिल सका। इस सम्मेलन में दक्षिण एशिया संरक्षित खाद्यान्न भंडार समझौता भी हुआ ताकि इस क्षेत्र में खाद्यान्न की कमी या अकाल की स्थिति में उसका सामना किया जा सके।

4. **चौथा शिखर सम्मेलन -** सार्क का चौथा शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1988 में इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में आयोजित हुआ। इसकी अध्यक्षता पाकिस्तान की प्रधानमन्त्री बेनजीर भुट्टो ने की। इस सम्मेलन में सार्क के सिद्धान्तों के प्रति वचनबद्धता को दोहराया गया। 31 दिसम्बर को जारी इस्लामाबाद घोषणापत्र में मादक पदार्थो के उत्पादन, तस्करी व दुरुपयोग पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई और 1989 को 'मादक पदार्थो के दुरुपयोग के विरुद्ध सार्क वर्ष' घोषित करने का निर्णय लिया गया। इस सम्मेलन में सार्क के शासनाध्यक्षों ने इस शताब्दी के अन्त तक खाद्यान्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य, जनसंख्या नियंत्रण व पर्यावरण संरक्षण पर एक सामूहिक कार्य योजना बनाने का निश्चय किया गया जिसे "सार्क-2000; बुनियादी आवश्यकता परियोजना' के नाम से जाना जाता है। इस सम्मेलन में दक्षिण एशियाई उत्सवों को समय-समय पर आयोजित करने का निर्णय लिया गया। इसमें 'ग्रीन हाउस प्रभाव' तथा दक्षिण एशिया पर इसके प्रभावों के अध्ययन को सामूहिक रूप से आगे बढ़ाने पर भी निर्णय हुआ। इसमें काठमाण्डू घोषणापत्र के प्रावधानों को भी दोहराया गया।

5. **पांचवां शिखर सम्मेलन -** सार्क का पांचवां शिंखर सम्मेलन मालद्वीव की राजधानी माले में (नवम्बर, 1990) हुआ। इसमें भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर ने किया। उन्होंने सार्क क्षेत्र को शान्ति क्षेत्र घोषित करने पर बल दिया। सम्मेलन के घोषणापत्र में आर्थिक क्षेत्र में आपसी सहयोग बढ़ाने तथा जन संचार माध्यम, जैविक तकनीकी और पर्यावरण को आर्थिक मुद्दों में शामिल करने पर सहमति की बात स्वीकार की गई। इसमें मादक पदार्थो के गैर कानूनी व्यापार, मादक पदार्थो की तस्करी तथा अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध गहरी चिन्ता प्रकट की गई। इसमें यह भी निर्णय लिया गया कि सार्क का अगला सम्मेलन श्रीलंका में होगा। इस सम्मेलन में 1991 को सार्क आवास वर्ष, 1992 को 'सार्क पर्यावरण वर्ष' तथा 1993 को 'सार्क अपंग व्यक्ति वर्ष' के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।

6. **छठा शिखर सम्मेलन-** सार्क का छठा शिखर सम्मेलन 21 दिसम्बर, 1991 को कोलम्बो (श्रीलंका) में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने किया। इस सम्मेलन में क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान के लिए क्षेत्रीय सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसमें आतंकवाद, की निंदा करने, निःशस्त्रीकरण का स्वागत करने, गरीबी निवारण हेतु दक्षिण-एशियाई समिति का गठन करने तथा सार्क देशों में प्राथमिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार करने पर जोर दिया गया। भारत ने सांझी आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान किया। इसमें संयुक्त उद्योग स्थापित करने तथा क्षेत्रीय परियोजनाओं को पूरा करने हेतु एक सामूहिक कोष गठित करने का निर्णय लिया गया।

7. **सातवां शिखर सम्मेलन -** सार्क का सातवां शिखर सम्मेलन बंगला देश की राजधानी ढाका में 11-13 अप्रैल, 1993 को आयोजित हुआ। इसमें सभी सदस्य देशों ने भाग लिया। इसमें भारत की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने की। इसमें अंतःक्षेत्रीय व्यापार के उदारीकरण के लिए एक समझौता (SAPTA) किया गया। इसमें व्यापार वस्तु, निर्माण और सेवाएं, पर्यावरण, जनसंख्या, आवास, बच्चों, अपंग व्यक्तियों, स्त्री विकास, प्रौद्योगिकी, आतंकवाद, मादक पदार्थो का व्यापार आदि के सम्बन्ध में सार्क घोषणा पत्र में संगठित कार्य योजना को भी स्वीकार किया गया। इसमें सार्क को मजबूत बनाने के निश्चय को भी दोहराया गया तथा अगला सार्क सम्मेलन भारत में आयोजित करने की घोषणा की गई।

8. **आठवां शिखर सम्मेलन-** सार्क का आठवां शिखर सम्मेलन 3-4 मई, 1995 को भारत की राजधानी नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। इसमें सभी देशों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इसके घोषणापत्र में सभी देशों द्वारा गरीबी और आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया गया। इसमें SAPTA समझौता लागू करने का भी निश्चय किया गया। इस सम्मेलन में आतंकवाद के बढ़ते प्रभाव तथा परमाणु शस्त्रों की बढ़ती होड़ पर नियंत्रण करने की मांग की गई। इसमें वर्ष 1995 को गरीबी समाप्ति का वर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया। इसमें सार्क को अधिक उपयोगी संस्था के रूप में विकसित करने पर भी विचार-विमर्श हुआ।

9. **नौवां शिखर सम्मेलन-** सार्क देशों का नौवां शिखर सम्मेलन मई, 1997 में मालद्वीव की राजधानी माले में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में भारत की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री इन्द्र कुमार गुजराल ने की। इसमें सभी सदस्य देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भारत ने दक्षिण एशियाई आर्थिक समुदाय के गठन का आह्वान भी किया। इसमें दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र (SAFTA) की 2001 में स्थापना के लिए प्रयासों को तेज करने की घोषणा की गई। इसमें गरीबी उन्मूलन व स्त्रियों

की खरीद-फरोख्त पर भी व्यापक विचार विमर्श हुआ। माले घोषणा पत्र में अगला सम्मेलन श्रीलंका में आयोजित करने का निर्णय लिया गया। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् का विस्तार करने का भी आहवान किया गया। इसमें इस क्षेत्र से वीजा अवरोधक समाप्त करने व शरणार्थी कानून के दुरुपयोग पर रोक लगाने का निर्णय लिया गया। इसमें आतंकवाद को रोकने के लिए ठोस कदम उठाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसमें सार्क देशों के बीच आवागमन, पर्यटन तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा देने का भी संकल्प लिया गया।

10. **दसवां शिखर सम्मेलन-** सार्क का दसवां शिखर सम्मेलन 29 जुलाई 1998 को श्रीलंका की राजधानी कोलम्बों में आयोजित हुआ। इसमें भारत का नेत त्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। इसमें भारत ने सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण की बात कही। इसके घोषणापत्र में सार्क देशों की एकीकृत कार्य योजना पर बल दिया गया। इसमें आर्थिक विकास के लिए सांझे आर्थिक कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इसमें आतंकवाद पर नियंत्रण तस्करी पर रोक, स्वास्थ्य, जनसंख्या, महिला व बाल कल्याण योजनाओं पर बल तथा पर्यावरण सुरक्षा को महत्व दिया गया। इसमें भारत की तरफ से 2000 वस्तुओं के तटकर को कम करने की घोषणा की गई। इसमें सदस्य देशों को विज्ञान व तकनीकी सहयोग में व द्धि करने की आवश्यकता पर बल दिया गया तथा SAFTA की 2001 तक स्थापना करने का निर्णय लिया गया।

11. **ग्यारहवां शिखर सम्मेलन -** सार्क का 11वां शिखर सम्मेलन काफी लम्बे समय बाद जनवरी, 2002 को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में हुआ। यह सम्मेलन उस वातावरण में हुआ जब भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध के आसार थे। पाकिस्तान ने इस सम्मेलन में अपने द्विपक्षीय मुद्दों को उठाने का प्रयास किया लेकिन उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा। 6 जनवरी, 2002 को जारी सार्क घोषणापत्र में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की समाप्ति के प्रति वचनबद्धता को व्यक्त किया गया। सार्क नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से यह प्रार्थना की कि आतंकवाद के विरुद्ध कठोर कानून बनाए जाएं। इसमें सांझे हित के विषयों - आर्थिक सहयोग, गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, स्त्री व बाल कल्याण आदि पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया। इसमें दक्षिण एशिया की अर्थव्यवस्था के एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने तथा विश्वीकरण (Globalisation) के प्रभावों को कम करने के लिए केन्द्रीय क्षेत्रों-व्यापार, वित्त व निवेश में सहयोग बढ़ाने का आह्वान किया गया। इसमें यह भी निर्णय किया गया कि अगला सार्क शिखर सम्मेलन पाकिस्तान में (2003) होगा।

सार्क की भूमिका का मूल्यांकन

जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए SAARC का जन्म हुआ था, उनको प्राप्त करने में यह संगठन अधिक सफल नहीं रहा है। आज समस्त विश्व क्षेत्रीय सहयोग की उपयोगिता को स्वीकारने लगा है तो SAARC को भी इस दिशा में अथक प्रयास करने की जरूरत है। आज भारत व पाकिस्तान के आपसी मतभेद दक्षिण एशिया में अशान्ति के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं। अन्य SAARC देश भी सैनिक ताकतों के साथ मिलकर क्षेत्रीय सहयोग की भावना के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। यदि SAARC के सदस्य देश आपसी मतभेद भुलाकर एक सहयोगपूर्ण नीति पर चलें तो दक्षिण एशिया विश्व के सामने एक नई चुनौती पेश कर सकता है। इस क्षेत्र में आर्थिक विकास के काफी अवसर हैं जो आपसी तकनीकी व आर्थिक सहयोग के आधार पर गतिमान हो सकते हैं। भारत इस क्षेत्र की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है। SAARC के अन्य देशों को भारत के साथ सकारात्मक सहयोग करना चाहिए जिससे दक्षिण एशिया में आत्मनिर्भरता के युग की शुरुआत हो सके।

आज SAARC के सदस्य देश आपसी सहयोग द्वारा तथा उप-क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा राजनीतिक विवादों से ऊपर उठकर आर्थिक विकास का मार्ग तैयार कर सकते हैं। इसके लिए सार्क देशों को SAFTA की तरफ मुड़ जाना चाहिए। दक्षिण एशिया में मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित होने की प्रबल सम्भावनाएं हैं। इससे दक्षिण एशिया में आर्थिक विकास का नया मार्ग प्रशस्त होगा। इससे विकसित देशों पर उनकी निर्भरता कम होगी और उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर विश्वीकरण के दुष्प्रभावों को भी कम करने में मदद मिलेगी। पाकिस्तान को यह बात अवश्य समझनी होगी कि सार्क में भारत की बढ़ती सहभागिता से उसका तथा पाकिस्तान दोनों का फायदा होगा। इससे विकास को गति मिलेगी और राजनीतिक सद्भाव को प्रोत्साहन मिलेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत की बिग ब्रदर की भावना का पाकिस्तान द्वारा समुचित आदर किया जाए तो सार्क एक

उपयोगी संस्था का रूप ले सकता है। आज पाकिस्तान द्वारा भारत पर जो प्रायोजित आतंकवाद थोपा जा रहा है, उससे सार्क पर भी बुरा असर पड़ सकता है। चीन के साथ पाकिस्तान के नए सम्बन्ध दक्षिण एशिया में बढ़ती आर्थिक व राजनीतिक सहयोग की प्रव त्ति को खटाई में डाल सकते हैं।

यदि सार्क की भूमिका को सकारात्मक बनाना है तो आज भारत और पाकिस्तान को आपसी मतभेदों को दूर करने की सबसे प्रबल आवश्यकता है। सार्क को महाशक्तियों के हस्तक्षेप से मुक्त रखकर आपसी सहयोग के नए क्षेत्र तलाशने के साथ साथ आज सार्क को आर्थिक मंच के साथ-साथ राजनीतिक मंच बनाने की भी जरूरत है। आज सार्क देशों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी सहयोग को बढ़ाने की प्रबल सम्भावनाएं हैं। सभी SAARC देशों को इस दिशा में ठोस कदम अवश्य उठाने चाहिए। अपने सांझे अनुभवों व तकनीकी सहयोग के द्वारा SAARC देश सामूहिक आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन निकट भविष्य में ऐसी सम्भावना कम ही दिखाई देती है। अतः निष्कर्ष तौर पर यही कहा जा सकता है कि SAARC क्षेत्रीय सहयोग की कल्पना को जन्म देने में तो अवश्य सफल रहा है लेकिन सकारात्मक क्षेत्रवाद की उत्त्पत्ति से अभी काफी दूर है अर्थात SAARC प्रभावशाली क्षेत्रीय सहयोग संगठन नहीं है।

अध्याय-17
दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ
(ASEAN)

'दक्षिण-पूर्वी एशिया' शब्द का प्रयोग उन देशों के लिए किया जाता है जो हिन्द महासागर के पूर्व तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में आते हैं। 1945 से पूर्व यह शब्द अंतर्राष्ट्रीय संबंधों से गायब था। 1945 के बाद ही भारत के पूर्व तथा चीन के दक्षिण-पश्चिम में स्थित देशों म्यांमार, बरुनी, इंडोनेशिया, कम्पूचिया, लाओस, मलेशिया, फिलिपाइन, सिंगापुर, थाईलैंड तथा वियतनाम आदि देशों का क्षेत्र 'दक्षिण पूर्वी एशिया' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह क्षेत्र सामरिक तथा भौगोलिक द ष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण साम्राज्यवादी देशों का उपनिवेश रहा और इसकी आर्थिक सम द्धि ने साम्राज्यवादी ताकतों को इस ओर आकर्षित किया। साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव ने 1945 के बाद पश्चिमी शक्तियों को नई चुनौती पेश की। इस क्षेत्र में पश्चिम द्वारा साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए 'इफाके' एवं 'ग्रेट ईस्ट एशियन को प्रोसपेरेटी स्फेयर' जैसे संगठनों को महत्व दिया गया। लेकिन इनसे इस क्षेत्र कोई कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और 1954 में SEATO का गठन किया गया। सैनिक संगठन होने के कारण SEATO भी इस क्षेत्र के आर्थिक विकास की समस्याओं पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका। इस संगठन में पश्चिमी शक्तियों की भागेदारी से चिन्तित इस क्षेत्र के देशों ने आर्थिक विकास का भार स्वयं वहन करने की घोषणा के परिणामस्वरूप 1959 में ही ASEAN के निर्माण का रास्ता साफ हो गया।

ASEAN की स्थापना

वियतनाम में अमेरिकी हस्तक्षेप, कंबोडिया में राजनीतिक संकट, ब्रिटेन व फ्रांस की एशिया नीति में परिवर्तन तथा हिन्द-चीन क्षेत्र के देशों में आई राजनीतिक जाग ति ने इस क्षेत्र में एक ऐसी शक्तिशाली आर्थिक संस्था स्थापित करने का रास्ता साफ किया जो इस क्षेत्र के पूर्ण आर्थिक विकास में योगदान दे सके। इनके परिणामस्वरूप 8 अगस्त, 1967 को ASEAN की स्थापना हेतु बैंकाक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए गए। प्रारम्भ में इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर तथा थाईलैण्ड ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। बाद में अन्य देशों ने भी इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली और सदस्यता का आंकड़ा 10 से ऊपर पहुंच गया। भारत, रूस व चीन को भी ASEAN में पूर्ण संवाद सहभाग बना लिया गया है। आज इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर, थाईलैण्ड, ब्रुनेई, वियतनाम, लाओस, म्यांमार तथा कंबोडिया ASEAN के दस प्रमुख सदस्य राष्ट्र हैं।

ASEAN के उद्देश्य

ASEAN एक विशुद्ध असैनिक संगठन है। फिर भी बैंकाक घोषणापत्र में सभी सदस्य देशों को क्षेत्रीय शान्ति हेतु सहयोग करने की अपील की गई है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. क्षेत्रीय शान्ति व स्थिरता को प्रोत्साहित करना।
2. क्षेत्र में सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।
3. सांझे हितों में परस्पर सहायता व सहयोग की भावना को बढ़ाना।
4. शिक्षा, तकनीकी ज्ञान, वैज्ञानिक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देना।
5. क्षेत्र में अनुसंधान, प्रशिक्षण तथा अध्ययन को प्रोत्साहित करना।
6. समान उद्देश्यों वाले क्षेत्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ अधिक सहयोग करना।

7. कृषि व्यापार तथा उद्योग के विकास में सहयोग देना।

इस तरह ASEAN के निर्माण का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, वैज्ञानिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा प्रशासनिक सहयोग को बढ़ावा देना है।

ASEAN का संगठनात्मक रूप

ASEAN के प्रमुख अभिकरण निम्नलिखित हैं-

1. **विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन -** इसे परामर्श मंत्रालय के नाम से भी जाना जाता है। इसका सम्मेलन वर्ष में एक बार अवश्य आयोजित करने का निर्णय इसी अभिकरण द्वारा लिया जाता है। इसमें सदस्य राज्यों के सभी विदेश मन्त्री शामिल होते हैं।
2. **स्थायी समिति-** विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के दौरान यह समिति विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करवाती है तथा क्षेत्रीय सहयोग में व द्धि करने के आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करती है। इसमें मेजबान देश का विदेश मन्त्री तथा अन्य सदस्य देशों के राजदूत शामिल होते हैं।
3. **सचिवालय-** प्रशासनिक सहयोग के कार्यो को पूरा करने के लिए 1976 में ASEAN के संगठनात्मक स्वरूप में परिवर्तन करके सचिवालय नामक अभिकरण भी जोड़ दिया गया। इसका कार्यालय इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में है। इसका अध्यक्ष महासचिव होता है। इसकी नियुक्ति 2 वर्ष के लिए होती है। यह प्रशासनिक गतिविधियों पर अपना पूरा नियंत्रण रखता है। इसके अतिरिक्त सचिवालय में ब्यूरो निदेशक तथा अन्य कर्मचारी भी होते हैं।

इन तीन अभिकरणों के अतिरिक्त ASEAN की नौ स्थाई तथा आठ अस्थाई समितियां भी हैं जो संगठन के विभिन्न कार्यो का निष्पादन करती हैं।

ASEAN के कार्य

इसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। यह समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, व्यापारिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में कार्यरत है। आज दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक सामाजिक व आर्थिक समस्याएं हैं जिनको हल करने के लिए यह संगठन निरन्तर प्रयासरत है। ASEAN की स्थायी समिति ने जनसंख्या विस्फोट, निर्धनता, आर्थिक शोषण, असुरक्षा से सम्बन्धित अनेक नीतियां व कार्यक्रम बनाए हैं। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. यह दक्षिण - पूर्वी एशिया में मुक्त व्यापार क्षेत्र विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। व्यापार की उदार नीतियों को प्रोत्साहित करके इस दिशा में निरन्तर प्रयास जारी हैं। इसका उद्देश्य सांझा बाजार स्थापित करना है।
2. पर्यटन के क्षेत्र में सहयोग को बढ़ावा देने के लिए यह अपने एक सामूहिक संगठन 'आसियण्टा' के माध्यम से कार्य कर रहा है।
3. यह सदस्य देशों में सुरक्षा व शान्ति के लिए आणविक हथियारों पर रोक लगाने पर जोर दे रहा है।
4. यह संगठन दक्षिण-पूर्वी एशिया के आर्थिक विकास पर जोर दे रहा है।
5. यह सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए रेडियो तथा दूरदर्शन के माध्यम से सहयोग को बढ़ावा दे रहा है।
6. यह जनसंख्या नियंत्रण, शिक्षा का विकास, समाज कल्याण, दवाईयों पर नियंत्रण, खेल आदि के कार्यक्रमों को प्रोत्साहित कर रहा है।
7. कृषि को बढ़ावा देने के लिए यह तकनीकी शिक्षा का लाभ किसानों तक पहुंचाने के प्रयास कर रहा है।

इस प्रकार ASEAN सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी व प्रशासनिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए प्रयास कर रहा है। यह इस क्षेत्र में एक सांझा बाजार स्थापित करने की दिशा में प्रयासरत् है।

ASEAN के शिखर सम्मेलन

ASEAN के कार्यो व भूमिका का व्यापक मूल्यांकन उसके शिखर सम्मेलनों में लिए गए निर्णयों के आधार पर ही किया जा सकता है। इसके प्रमुख शिखर सम्मेलन निम्नलिखित हैं-

1. **प्रथम बाली शिखर सम्मेलन -** इस सम्मेलन में फरवरी, 1976 में पारस्परिक व्यापार को बढ़ावा देने की नीति पर जोर दिया गया। इसमें कम खाद्य एवं ऊर्जा वाले देशों की अधिक ऊर्जा शक्ति वाले देशों द्वारा सहायता करने का आश्वासन भी दिया गया। इस सम्मेलन में दो प्रमुख दस्तावेजों पर हस्ताक्षर हुए। प्रथम दस्तावेज द्वारा समस्त सदस्य देशों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता के प्रति आदर करने एक दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करने के प्रति आदर करने व पारस्परिक झगड़ों का हल शान्तिपूर्ण ढंग से पारस्परिक सहयोग की प्रव ति पर आधारित सिद्धान्तों के आधार पर हल करने पर जोर दिया गया, दूसरे दस्तावेज में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व तकनीकी सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया।
2. **दूसरा क्वालालम्पुर शिखर सम्मेलन -** अगस्त 1977 में आयोजित इस सम्मेलन में सदस्य देशों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता व स्थिरता का क्षेत्र विकसित करने पर जोर दिया। इस सम्मेलन में विकासशील देशों की विकसित देशों पर बढ़ती निर्भरता को चिन्ताजनक माना गया।
3. **तीसरा मनीला शिखर सम्मेलन -** 14 दिसम्बर, 1987 को आयोजित इस सम्मेलन में फिलीपीन्स में एक्विनो सरकार की स्थिरता, कम्बोडिया समस्या तथा आसियान (ASEAN) राष्ट्रों के दूसरे राष्ट्रों के साथ गठबन्धनों पर व्यापक विचार विमर्श किया गया। इस सम्मेलन में 'दक्षिण पूर्वी एशिया' क्षेत्र को परमाणु मुक्त क्षेत्र विकसित करने, पर जोर दिया गया। इसमें वरीयता व्यापार समझौते की अनुपालना करने व आसियान क्षेत्र को एक आर्थिक शक्ति के रूप में विकसित करने दिया गया।
4. **चौथा सिंगापुर शिखर सम्मेलन -** इस सम्मेलन में (1992) नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की मांग दोहराई गई। इसमें एशियान को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने व शान्ति क्षेत्र घोषित करने पर भी जोर दिया गया। इसमें सांझा कर योजना पर भी बातचीत हुई।
5. **पांचवां बैंकाक शिखर सम्मेलन** - दिसम्बर, 1995 में आयोजित इस सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशिया को 2003 तक मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने पर निर्णय किया गया। इसमें बौद्धिक सम्पदा सम्बन्धी एक समझौता भी हुआ। इसके अतिरिक्त आसियान क्षेत्र को नाभिकीय शस्त्र विहीन क्षेत्र बनाने पर भी एक समझौता हुआ।
6. **छठा हनोई शिखर सम्मेलन** -दिसम्बर 1998 में हनोई (वियतनाम) में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में 2003 से पहले ही इस क्षेत्र को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने पर निर्णय लिया गया। 'हनोई कार्य योजना' के तहत क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण, व्यापार उदारीकरण तथा वित्तीय सहयोग में व द्धि करने के उपाय भी निर्धारित किए गए।
7. **सातवां सेरी बेगावन शिखर सम्मेलन -** नवम्बर, 2001 में आयोजित बादर सेरी बेगावन (ब्रुनेई) सम्मेलन में भारत को आसियान का पूर्ण संवाद सहभागी बनाने पर सहमति हुई। इसमें रूस व चीन को भी संवाद सहभागी बनाने पर सहमति प्रकट की गई।

ASEAN की भूमिका का मूल्यांकन

राजनीतिक विद्वानों का मानना है कि वियतनाम युद्ध के बाद आसियान (ASEAN) निरंतर प्रगति के पथ पर है। 1976 के बाली शिखर सम्मेलन ने क्षेत्रीय सहयोग के जो नए आयाम स्थापित किए थे, उन्हें प्राप्त करने के लिए आज आसियान के सदस्य राष्ट्र निरन्तर प्रयास कर रहे हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने के प्रयास अन्तिम सीमा पर हैं। ASEAN एक ऐसी क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में विकसित हो रहा है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व तकनीकी सहयोग के नए आयाम स्थापित करेगा।

लेकिन आज 'ASEAN' के सामने अनेक चुनौतियां हैं चीन की सामरिक शक्ति में व द्धि से इसकी सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। अमेरिका तथा जापान से भी ASEAN की सुरक्षा व्यवस्था को चुनौती मिल रही है। आज ASEAN राष्ट्रों के पास

आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक पिछड़ेपन का ही मूल मंत्र है। पर्याप्त पूंजी व क्रय शक्ति के अभाव के कारण आर्थिक सहयोग की गति बहुत मन्द है। इन देशों में आपसी मतभेद भी है। इन देशों की विकसित देशों पर निर्भरता निरन्तर बढ़ रही है। इन देशों में पश्चिमी ताकतों के सैनिक अड्डे भी मौजूद हैं। दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में बार-बार पैदा होने वाले मुद्रा संकट इसकी कार्यप्रणाली पर बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। यदि ASEAN के देश विकसित देशों पर अपनी आर्थिक निर्भरता में कमी करें और आपसी सहयोग की प्रव त्ति का विकास करें तो दक्षिण पूर्वी एशियाई क्षेत्र में नए आर्थिक सम्बन्धों के अध्याय की शुरुआत होगी और ASEAN एक मजबूत क्षेत्रीय आर्थिक संगठन के रूप में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करने के योग्य होगा।

अध्याय-18
एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग
(Asia-Pacific Economic Co-operation)

APEC विश्व में मुक्त व्यापार व्यवस्था का सबसे प्रबल समर्थक संगठन है। यह संगठन एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागरीय तटीय देशों में व्यापारिक गतिविधियों को सरल व सुगम बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अन्य क्षेत्रीय संगठनों की तरह यह भी एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागरीय तटीय क्षेत्रों में मुक्त व्यापार व्यवस्था द्वारा क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। APEC एक प्रादेशिक व्यवस्था होने के बावजूद भी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के खिलाफ नहीं है। 1997 के वेंकूवर बैठक में APEC ने अपने सदस्य देशों से कहा कि वे अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के लिए मिल कर कार्य करें। इस तरह APEC की क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के साथ साथ अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग में भी अप्रत्यक्ष भूमिका है।

APEC का गठन

APEC ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री बॉब हॉक की सोच का परिणाम हैं। इसकी स्थापना 1989 में हुई। इसमें प्रारम्भ में 12 देश शामिल हुए जो हैं - ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, जापान, दक्षिण कोरिया, कनाडा, मलेशिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया, थाईलैंड, सिंगापुर, फिलिपीन्स, ब्रुनेई तथा इंडोनेशिया। 1991 में 2 वर्ष पश्चात APEC में चीन, ताईवान तथा हांगकांग शामिल हो गाएं 1993 में पापुआ न्यूगायना तथा मैक्सिको ने इसकी सदस्यता ग्रहण की। 1994 में चिली भी इसका सदस्य बन गया और इसकी सदस्य संख्या 18 तक पहुंच गई।

APEC के उद्देश्य

इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. सदस्य राज्यों में आपसी आर्थिक सहयोग तथा व्यापार बढ़ाना।
2. एशिया प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र को मुक्त आर्थिक क्षेत्र के रूप में विकसित करना।
3. सदस्य देशों में निवेश प्रवाह में व द्धि करना तथा निवेश संरक्षण को मजबूत बनाना।
4. आर्थिक विकास के लिए निजी क्षेत्र का सहयोग प्राप्त करना।
5. अपने वांछित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए सदस्य देशों को एक मंच पर लाना तथा उनमें एकता की भावना का विकास करना।

APEC के सम्मेलन

APEC के सम्मेलन व उसमें लिए गए निर्णय निम्ललिखित हैं-

1. **प्रथम शिखर सम्मेलन**

   APEC का प्रथम शिखर सम्मेलन नवम्बर, 1993 में अमेरिका के सिएटल शहर में हुआ। इसमें सदस्य देशों को आपसी आर्थिक सहयोग को बढ़ाने पर जोर दिया गया और एशिया प्रशान्त महासागरीय तटीय क्षेत्र को मुक्त व्यापार क्षेत्र के रूप में विकसित करने पर जोर दिया गया।

2. द्वितीय शिखर सम्मेलन

APEC का दूसरा शिखर सम्मेलन 1994 में बोगोर (इंडोनेशिया) में हुआ। इस सम्मेलन में मुक्त व्यापार उवं निवेश का मुद्दा ही प्रमुख रहा। सदस्य देशों ने इस दिशा में कार्य करने के लिए सर्वसम्मति से निर्णय लिया। अधिक विकसित देशों को इस लक्ष्य को प्रापत करने के लिए 2010 तथा शेष को 2020 तक का समय दिया गया ।

3. तीसरा शिखर सम्मेलन

इसका तीसरा शिखर सम्मेलन 1995 में इसाका में हुआ। इसमें आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए संकल्पवाद लचीलेपन तथा सर्वसम्मत चिंतन के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के लिए एक कार्ययोजना का प्रारूप तैयार किया गया। इस कार्य योजना को सर्वत्र सराहा गया।

4. विदेशी मन्त्रियों का सम्मेलन

APEC के वाणिज्य तथा विदेश मन्त्रियों का वार्षिक सम्मेलन नवम्बर 1996 में सूबिक खाड़क तथा मनीला में आयोजित हुआ। इसमें सूचना प्रौद्योगिकी (तकनीक) के बाजार को उदार बनाने पर सहमति हो गई तथा मुक्त व्यापार क्षेत्र के विकसित होने से रोकने वाले सभी प्रतिरोधों को समाप्त करने के लिए एक कार्य योजना का प्रारूप तैयार किया गया। इस सम्मेलन में मनीला कार्ययोजना के नाम से अनुमोदित कार्य योजना के अंतर्गत विकसित अर्थव्यवस्था के लिए 2010 तक तथा अविकसित या विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के लिए 2020 तक मुक्त व खुले व्यापार तथा निवेश के प्रावधानों को कार्यरूप देने पर सहमति हुई। इस सम्ममेलन में WTO की दिसम्बर, 1996 में होने वाली बैठक में सूचना तकनीक के समझौते को पूरा करने पर भी निर्णय लिया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका ने 2000 तक सीमा शुल्क शून्य करने पर जोर दिया, लेकिन मलेशिया तथा अन्य विकासशील देशों ने इसका विरोध किया। विकासशील देशों ने कहा कि इससे उन देशों को हानि पहुंचेगी, जो अपनी तकनीक तथा उद्योगों को विकसित करने तथा मार्किट में अपना उचित स्थान बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इसने चीन तथा ताईवान को WTO में प्रवेश देने के मुद्दे पर विचार किया गया। सम्मेलन के अन्त में जारी घोषणापत्र में इनको सदस्यता देने से सभी ने मना कर दिया। लेकिन इस सम्मेलन में ASEAN के एकमात्र सदस्य 'वियतनाम' जो अब तक APEC की सदस्यता से वंचित था को भी सदस्यता प्रदान करने का निर्णय लिया गया और रूस को भी इसमें शामिल करने पर सहमति हो गई। इसमें सदस्य देशों से आह्वान किया गया कि वे APEC में आर्थिक सहयोग एवं विकास के सिद्धान्तों के आधार पर स्थिर विकास के लिए कार्य करें। इस सम्मेलन में APEC में आर्थिक सहयोग व विकास में व द्धि करने के लिए निजी क्षेत्र को भी शामिल करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

5. वैंकूवर बैठक

APEC के वाणिज्य व विदेश मन्त्रियों की एक बैठक सन् 1997 में हुई। इस बैठक में स्थिर विकास के लिए मन्त्रियों में रिपोर्ट मांगी गई जो 1996 की मनीला बैठक में सुनिश्चित की गई थी। इस बैठक में मन्त्रियों को कहा गया कि वे व्यापारी वर्ग गतिविधियों को आसान बनाने के लिए उनके साथ मिलकर कार्य करें व उन्हें हर तरह की सम्भव सहायता दें। इस बैठक में व्यापार क्षेत्र को विकसित करने के लिए APEC व्यापार परिषद् की सिफारिशें लागू करने के साधनों की समीक्षा करने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। इसमें निवेश के प्रवाह तथा संरक्षण की आवश्यकता पर बल देने के साथ साथ आधारभूत कार्य योजना में निजी क्षेत्र को भी शामिल करने की बात कही गई। इस तरह यह बैठक अधिक उदारीकरण के साथ आर्थिक सहयोग व व्यापार में व द्धि को लेकर सम्पन्न हुई।

6. शंघाई सम्मेलन

APEC देशों का नई सदी का प्रथम शिखर सम्मेलन 19 से 21 अक्तूबर तक शंघाई (चीन) में हुआ। इसमें सदस्य देशों द्वारा आपसी आर्थिक सहयोग तथा व्यापार बढ़ाने के मुद्दे पर खुली बातचीत हुई और APEC को खुला आर्थिक क्षेत्र बनाए जाने के उद्देश्य को दोहराया गया। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट माना गया और इसे एकजुट होकर समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इस सम्मेलन में प्रथम बार एक राजनीतिक घोषणा पत्र जारी किया गया जिसमें अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का मुद्दा प्रमुख था।

मूल्यांकन

(An Evaluation of APEC)

1989 से लेकर आज तक APEC निरंतर विकास के मार्ग पर है। यह सदस्य देशों में आपसी आर्थिक सहयोग बढ़ाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह एशिया प्रशान्त महासागरीय तटीय देशों में मुक्त व्यापार क्षेत्र विकसित करने के लिए निरन्तर प्रयासरत् है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसके सदस्य देशों में अधिक सहयोग की भावना नही है। चीन अधिक उदारीकरण का विरोध करता रहा है। WTO में चीन व ताईवान की सदस्यता को लेकर APEC के देश आपसी फूट का शिकार हैं। अमेरिका अपनी दादागिरी कायम करने के उद्देश्य से निरन्तर APEC के लक्ष्यों को प्राप्त करने के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करता रहता है। अमेरिका सयीमा भूतकों को शून्य करने पर जोर देता रहा है, लेकिन कम विकसित देश इसका विरोध करते आ रहे हैं। चीन व ताईवान WTO में शामिल होने से आना-कानी करते आ रहे हैं। वे अपने बाजारों को सदस्य देशों के लिए पूरी तरह खोलने को तैयार नहीं हैं। उनको खतरा है कि इससे उनको लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। चीन के WTO में शामिल होने सम्बन्धी प्रस्तावों से अमेरिका व उसके पिछलग्गू देश सन्तुष्ट नहीं है। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के बारे में भी नीति भेदभावपूर्ण है। इस तरह APEC के देशों में जो आपसी मतभेद हैं, उनके चलते एशिया प्रशान्त महासागर के तटीय क्षेत्रों को मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाना कठिन काम है। इसे मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने के लिए APEC के सदस्य देशों को आपसी मतभेद भुलाकर इस दिशा में कुछ सकारात्मक व ठोस कदम उठाने होंगे। इसी से APEC एक शक्तिशाली संगठन के रूप में उभरेगा और इस क्षेत्र में आर्थिक सम्बन्धों का नया अध्याय शुरू होगा।

अध्याय-19
अमेरिका राज्यों का संगठन
(Organization of American States)

1823 के मुनरो सिद्धान्त ने ही अन्तर अमेरिकी क्षेत्रवाद के बीज बो दिए थे। इससे प्रभावित होकर ही अमेरिकी राज्यों ने विश्व में अपनी पहचान स्थापित करने के लिए पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया और अमेरिकी राज्यों को संगठित करने के लिए पनामा में 1826 में एक अमेरिकी राज्यों का सम्मेलन बुलाया गया। इसके बाद इसको मजबूती प्रदान करने के लिए 1890 में अन्तर अमेरिकी कांफ्रेंस हुई। अमेरिकी राज्यों को संगठित करने का सर्वाधिक ठोस प्रयास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शुरू आया। समान प्रतिरक्षा, खनिज पदार्थो के आदान-प्रदान, वित्तीय और सांस्कृतिक सहयोग की आवश्यकता को समस्त अमेरिकी राज्यों ने अनुभव करके 1948 में बोगोटा सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने 'अमेरिकी राज्यों का संगठन' (OAS) की नींव डाली।

आज OAS एक विस्त त व सुद ढ़ क्षेत्रीय व्यवस्था है जो अब अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय एवं महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार समस्त अमेरिका महाद्वीप में फैला हुआ है। इसका अपना चार्टर है। इसमें 18 अध्याय व 112 धाराएं हैं। इसको धारा 1 के अंतर्गत एक प्रादेशिक अभिकरण बताया गया है।

ओ.ए.एस की सदस्यता
(Membership of OAS)

OAS में अधिकतर अमेरिकी राज्यों ने सदस्यता ग्रहण की है। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या 21 थी जो अब लगभग 25 है। कनाडा व बोलीविया को इसकी सदस्यता से निकाल दिया गया है। सभी अमेरिकी राज्य इसकी सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं व छोड़ सकते हैं। लेकिन सदस्यता छोड़ने से पूर्व दो वर्ष का नोटिस देना आवश्यक होता है। इसकी सदस्यता समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें प्रत्येक राज्य को एक-एक मत ही देने का अधिकार प्राप्त है।

ओ.ए.एस. के उद्देश्य
(Objective of OAS)

इस संगठन के चार्टर में इसके उद्देश्यों पर पूरा प्रकाश डाला गया है। और इनकी प्राप्ति के लिए राज्यों को अपनी नीतियों में तालमेल बैठाने का निर्देश दिया गया है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. शान्ति व न्याय पर आधारित व्यवस्था को स्थापित करना।
2. अमेरिकी राज्यों की एकता व स्थिरता को प्रोत्साहित करना।
3. सदस्य राज्यों के मध्य आदान-प्रदान में व द्धि करना।
4. सदस्य राज्यों की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखण्डता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

ओ.ए.एस. का संगठनात्मक रूप
(Organisational Structure of OAS)

OAS के कुछ प्रधान अंग हैं जिनकी सहायता से यह अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता है। ये प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं-

1. अन्तर-अमेरिकी सभा

2. विदेशी मन्त्रियों की परामर्श समिति
3. परिषद्
4. अमेरिकी भ्रात त्व संघ
5. विशिष्ट अभिकरण।

1. **अन्तर अमेरिकी सभा** - यह OAS का प्रमुख अंग है। इसे OAS की महासभा भी कहा जाता है। इसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसकी बैठक प्रत्येक पांच वर्ष बाद होती है। स्थान का निर्धारण आपसी सहमति पर आधारित होता है। इसका प्रमुख कार्य संगठन की नीतियां व कार्यक्रम का निर्धारण करना है। इसके निर्णय बहुमत पर आधारित होते हैं। यह निर्णयों में सर्वसम्मति के सिद्धान्त का पूरा पालन करने का प्रयास करती हे। इसे OAS की सर्वोच्च संस्था माना जाता है।
2. **विदेश मन्त्रियों की परामर्श समिति-** इसका कार्य तत्कालिक कार्यो या महत्वपूर्ण कार्यो पर विचार करने के लिए बैठक बुलाना है। इसमें समान हित के मुद्दों पर विचार किया जाता है। यह निरोधक शक्ति से परिपूर्ण संस्था है जो अपने सदस्य राज्यों को विशेष मामलों में आदेश दे सकती है। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी है।
3. **परिषद्-** इसमें सभी सदस्य राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। यह संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यो की देखभाल के साथ साथ शान्ति तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्य भी करती है। इसकी स्थिति सुरक्षा परिषद् जैसी है। इसका सत्र निरन्तर चलता रहता है। यह संगठन की प्रमुख तालमेल स्थापित करने वाली संस्था है। यद्यपि यह OAS के पहले दोनों अंगों के अधीन है, लेकिन इसकी भूमिका अति प्रभावशाली है। यह अमेरिकी भ्रात त्व संघ तथा अपनी सहायक परिषदों की कार्यप्रणाली पर भी नियंत्रण रखती है। आर्थिक व सामाजिक परिषद् तथा शिक्षा व विज्ञान परिषद इसकी सहायक परिषद है। इनके कार्यो पर OAS परिषद् पूरा नियंत्रण रहता है। यह परिषद् समाज सदस्यता व समान मताधिकार के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती है और इसका कार्यालय वाशिंगटन में है।
4. **अमेरिकी भ्रात त्व संघ -** यह OAS की केन्द्रीय व स्थायी संस्था तथा सचिवालय है। यह संगठन के समस्त कर्मचारियों का समूह है। इसका प्रमुख महासचिव होता है जो अन्तर-अमेरिकी कान्फ्रेंस (महासभा) द्वारा चुना जाता है। इसकी अवधि 10 वर्ष होती है। इसका कार्यालय वाशिंगटन में है।
5. **विशिष्ट अभिकरण** - ये अभिकरण विशेषतापूर्वक कार्यो का निष्पादन करते हैं। इनका कार्यक्षेत्र विषय विशेष तक ही सीमित होता है। परामर्शदात्री सुरक्षा समिति, अन्तर-अमेरिकी आर्थिक और सामाजिक परिषद्, अन्तर-अमेरिकी न्यायिक परिषद्, अन्तर-अमेरिकी सांस्कृति परिषद्, अन्तर-अमेरिकी कृषि विज्ञान परिषद्, अन्तर-अमेरिकी बाल संस्था, अन्तर अमेरिकी मानवाधिकार आयोग, अन्तर-अमेरिकी स्त्री आयोग आदि OAS के सहायक व विशिष्ट अभिकरण हैं।

ओ.ए.एस. तथा ब्यूनस आयर्स सन्धि

OAS की स्थापना के समय इसके घोषणा पत्र में अनुमोदित प्रावधान कालान्तर में अपर्याप्त व अव्यावहारिक प्रतीत होने लगे। इन प्रावधानों को अधिक सुस्पष्ट व व्यापक बनाने हेतु 1967 में अर्जेन्टाइना की राजधानी यूनस आयर्स में OAS का सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में उत्तर-अमेरिकी सहयोग के नए आयाम (मानदण्ड) स्थापित किए गए और OAS के संगठनात्मक स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन किए गए। 27 फरवरी, 1967 को सभी सदस्य राज्यों द्वारा इसे सर्वसम्मति से अनुमोदित करके एक सन्धि का रूप दे दिया गया। यह सन्धि 1967 से ही प्रभावी है।

ओ.ए.एस. तथा उरुग्वे घोषणापत्र

दक्षिणी अमेरिका के देश उरुग्वे में 14 अप्रैल, 1967 को अमेरिकी राष्ट्रपतियों का सम्मेलन हुआ जिसके घोषणा पत्र ने OAS को अनेक नए उत्तरदायित्व सौंपे। इसमें दक्षिणी अमेरिकी आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहन देना, ग्रामीण जनता की जीवन दशा सुधारना, कृषि उत्पादन में व द्धि करना, तकनीकी विकास एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में नए कार्यक्रम क्रियान्वित करना शामिल है। इससे OAS का क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक हुआ है।

ओ.ए.एस. का मूल्यांकन

यद्यपि OAS एक प्रभावशाली संस्था है जिसे UNO का विश्वास प्राप्त है। परन्तु राजनीतिक विवादों के बारे में इसे आंशिक सफलताएं ही मिली हैं। अमेरिका की दादागिरी की नीति ने इस संगठन को सर्वाधिक हानि पहुंचाई है। क्यूबा तथा ग्रेनाडा जैसे देश अमेरिका की इस नीति का शिकार हुए हैं। ग्वाटेमाला की शिकायत पर यह निकारागुआ के खिलाफ कोई ठोस निर्णय लेने में असक्षम रहा है। हैती की समस्या का भी हल करने में यह संगठन प्रायः नाकाम ही रहा है। इसलिए अनेक विचारकों ने इसकी राजनीतिक उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। लेकिन उनका यह विचार पूर्णतयाः सत्य नहीं है। आज इसके सदस्य राज्यों की जनसंख्या 50 करोड़ है जो अमेरिका महाद्वीप के बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करना था जिस पर यह आज भी कायम है। आज यह अन्तर अमेरिकी आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग में व द्धि करने के लिए कृतसंकल्प है। यह अपने सदस्य राज्यों में आर्थिक सहयोग के सेतु के रूप में कार्य करता है। आर्थिक सहयोग के साथ-साथ यह राजनीतिक सहयोग में भी व द्धि कर रहा है। आज इसके सदस्य राज्य सामूहिक रूप से किसी भी बाहरी आक्रमण का सामना करने के लिए एकजुट हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि OAS एक मजबूत क्षेत्रीय संगठन है।

अध्याय-20
शस्त्र-नियंत्रण और निःशस्त्रीकरण
(Arms Control and Disarmament)

मनुष्य ही मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है। संघर्ष व युद्ध मानव स्वभाव का आवश्यक अंग है। लेकिन जब इनका कोई ठोस आधार नहीं हो तो ये मानवता के विनाश के कारण बनते हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले पक्ष की तो जीत होती है लेकिन सम्पूर्ण मानवता की हार होती है। मानव सभ्यता का इतिहास युद्धों का इतिहास है। मनुष्य शक्ति व सत्ता प्राप्ति के लिए सदैव युद्धों का सहारा लेता रहा है। दो विश्व युद्धों के पीछे भी यही मूल कारण था। पाषाण युग से आधुनिक युग तक की मनुष्य की विकास यात्रा में अनेक युद्धों का अस्तित्व रहा है। युद्धों ने शान्ति के विचार को कमजोर किया है। मनुष्य के स्वभाव में शान्ति का विचार भी उतना ही प्रबल है जितना युद्ध का। हीगल जैसे जर्मन आदर्शवादियों ने तथा अन्य अन्ध राष्ट्रवादियों ने सदैव युद्ध में ही विश्वास किया है लेकिन प्रबुद्ध राष्ट्रवाद में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों या देशों ने शान्ति के विचार को युद्ध के विचार से ज्यादा महत्व दिया है। युद्ध का सहारा लेने वाले राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिए इसका बार-बार दुरुपयोग करते आए हैं। युद्ध प्रिय राष्ट्र शस्त्रों के निर्माण व भण्डारण को प्राथमिकता देते हैं। आज जिस गति से शस्त्रों का निर्माण हो रहा है, उससे मानवता को भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद तो शस्त्र निर्माता देशों ने अपने अपने देशों में शस्त्र बाजारों का मजबूती से विकास किया है ताकि कमजोर से कमजोर देश भी शस्त्र खरीद सकें। आज अनेक देशों के पास परमाणु आयुद्य हैं। जो सम्पूर्ण विनाश के सूचक हैं। आज हम परमाणु युग में जी रहे हैं। आज चारों दिशाओं में आतंक का ही संतुलन है। आणविक शस्त्रों के आगे न कोई देश कमजोर है और न शक्तिशाली। दो विश्व युद्धों ने मानव को युद्ध की विभिषिका से बचाने के लिए सोचने को विवश कर दिया है। इन युद्धों के पीछे शस्त्र होड़ ही प्रमुख कारण थी। आज बुद्धिजीवी वर्ग ने शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण के द्वारा विश्व शांति के विचार को सुद ढ़ बनाने की दिशा में प्रयास करने के लिए प्रेरित किया है। तीसरे विश्व युद्ध के खतरे से बचने के लिए शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण के सिवाय हमारे सामने कोई विकल्प नहीं है।

शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण का अर्थ
(Meaning of Arms Control and Disarmament)

यद्यपि शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण एक जैसे शब्द लगते हैं लेकिन इन दोनों में सुक्ष्म अन्तर है।

"शस्त्र नियंत्रण में वे सभी प्रयास शामिल हैं जो शस्त्र दौड़ में कमी करके युद्ध की सम्भावनाओं को कम करते हैं या इसके क्षेत्र को सीमित करते हैं। शस्त्र नियंत्रण निःशस्त्रीकरण से अधिक व्यापक अवधारणा है। इसमें भविष्य में हथियारों का नियंत्रण भी शामिल होता है। निःशस्त्रीकरण केवल वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों के नियंत्रण से संबंधित होता है, जबकि शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादन किए जाने वाले हथियारों पर भी रोक लगाता है। आज शस्त्र नियंत्रण का प्रयोग भावी परमाणु शस्त्रों के उत्पादन को रोकने के लिए अधिक किया जाता है।

शस्त्र नियंत्रण राष्ट्रों में कटौती तथा प्रतिबन्ध के मेल से बनी अवधारणा है जो निकटवर्ती अवधारणा निःशस्त्रीकरण से अधि व्यापक है।

निःशस्त्रीकरण की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि शस्त्रास्त्र सैन्य बलों को विघटित कर देने तथा आयुधों को समाप्त कर देने पर ऐसा अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण विकसित होगा, जिसमें युद्ध के स्थान पर शान्ति के लिए महत्वपूर्ण स्थान होगा। इस

प्रकार - "निःशस्त्रीकरण उस महाविनाश को रोकने का एक प्रयास है जो युद्ध के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और जिससे सम्पूर्ण मानवता की हानि होती है।"

मार्गेन्थो ने निःशस्त्रीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है - "शस्त्र दौड़ को समाप्त करने के उद्देश्य से विशेष या उसी प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति या कटौती निःशस्त्रीकरण कहलाती है।"

इस प्रकार निःशस्त्रीकरण युद्ध सामग्री तथा सैनिकों की संख्या में कटौती का पक्षधर है, जबकि शस्त्र नियंत्रण में वे सभी उपाय शामिल हैं जो शस्त्रों के प्रयोग को सीमिति या नियमित करते हैं। निःशस्त्रीकरण इस विश्व में वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों को समाप्त करने या नष्ट करने से सरोकार रखता है। यह शस्त्र नियंत्रण से कम व्यापक है। शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादित शस्त्रों को सीमित या प्रतिबन्धित करता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण वर्तमान में युद्ध सामग्री व सैनिकों को नियंत्रित करने तथा शस्त्र नियंत्रण शस्त्र दौड़ को नियंत्रित करने का प्रयास है।

लेकिन ये दोनों अवधारणाएं एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। विद्यमान युद्ध सामग्री में कटौती तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक शस्त्रों के उत्पादन या शस्त्र दौड़ पर रोक न लगाई जाए। इन दोनों के उद्देश्य समान हैं - अंतर्राष्ट्रीय जगत में शस्त्रों पर नियंत्रण या कटौती द्वारा मानव समाज को युद्ध की विभीषिका से बचाना। इसलिए वर्तमान समय में इन दोनों का समान महत्व है। आज परमाणु आयुद्यों के अस्तित्व ने सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। इसलिए विश्व के सभी देश निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण की वकालत करते हैं।

निःशस्त्रीकरण के प्रकार

(Types of Disarmament)

निःशस्त्रीकरण निम्नलिखित प्रकार का हो सकता है-

1. **सामान्य एवं स्थानीय निःशस्त्रीकरण-** सामान्य निःशस्त्रीकरण शस्त्रार्थो का ऐसा परिसीमन है जिस पर अधिकांश राष्ट्र सहमत होते हैं। इसके अंतर्गत सन्धिकर्ता देशों पर गुणात्मक एवं मात्रात्मक नियंत्रण लगाए जाते हैं। इसका उदाहरण 1922 का वॉशिंगटन नौसैनिक समझौता है जिस पर हस्ताक्षर कर तत्कालिक महाशक्तियों ने नौ सैनिक क्षमताओं की होड़ की सम्भावनाओं को कम कर दिया था।

   स्थानीय निःशस्त्रीकरण क्षेत्र विस्तार की द ष्टि से सीमित होता है तथा इसमें गिने-चुने राष्ट्र ही शामिल होते हैं। इस प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य क्षेत्रीय स्थिरता व शान्ति को सुद ढ़ करना होता है। 1871 का रश बागोट समझौता इसका उदाहरण है।

2. **मात्रात्मक एवं गुणात्मक निःशस्त्रीकरण-** मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण में सैन्य बलों तथा उपलब्ध शस्त्रास्त्रों का संख्यात्मक परिसीमन किया जाता है। इसका उद्देश्य सब प्रकार के शस्त्रों में कटौती करना है। 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन इसका प्रमुख उदाहरण है।

   गुणात्मक निःशस्त्रीकरण में विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों की कटौती की जाती है। इसमें केवल घातक शस्त्रों का ही परिसीमन किया जाता है। 1868 के सैंट पीटर्सबर्ग समझौते द्वारा फटने वाली डमडम गोलियों का निषेध किया जाना इसी प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है। 1987 की 'मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि' भी (अमेरिका और सोवियत संघ) इसका प्रमुख कारण है।

3. **पारस्परिक तथा आणविक निःशस्त्रीकरण-** पारम्परिक निःशस्त्रीकरण में परम्परागत शस्त्रों व सेनाओं में कटौती का नाम है। आज आणविक युग में परम्परागत शस्त्रों का अधिक महत्व नहीं रह गया है। 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि आणविक निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है इसके अंतर्गत आणविक आयुद्यों के विकास व प्रसार को परिसीमित किया गया है।

4. **पूर्ण एवं आंशिक निःशस्त्रीकरण-** पूर्ण निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों को समाप्त करने का प्रयास शामिल है। इसमें आनुपातिक कटौती के स्थान पर सम्पूर्ण कटौती शामिल होती है। इसका अर्थ है एक ऐसी विश्व व्यवस्था की स्थापना जिसमें युद्ध करने के सारे मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिए गए हों। इसके तहत समस्त सैन्य बल व सैन्य सामग्री नष्ट कर दी जाएगी। ऐसी स्थिति अभी नहीं है। यह केवल एक म गत ष्णा ही है।

आंशिक निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों का परिसीमत नहीं किया जाता है। यह सामान्य या स्थानीय संदर्भ में सैन्य बलों तथा शस्त्रास्त्रों पर मात्रात्मक एवं गुणात्मक सीमाएं लगाता है जिससे युद्ध की विनाशकता में कमी आती है। SALT-I और SALT-II इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

5. **अनिवार्य और ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण -** अनिवार्य निःशस्त्रीकरण युद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों द्वारा पराजित राष्ट्रों पर थोपा जाता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों के बाद जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाना इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार का निःशस्त्रीकरण भेदभावपूर्ण होता है और इससे स्थायी शान्ति की नींव नहीं पड़ सकती।

   इसके विपरीत ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण को राष्ट्र स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। 1968 की अणु प्रसार निरोध सन्धि इसका उदाहरण है। इससे शान्ति की नींव मजबूत होती है। यह स्थायी होता है। इसे बाध्यकारी बल की आवश्यकता नहीं होती है।

निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण क्यों?

(Why Disarmament and Arms Control?)

शस्त्रीकरण के दुष्परिणामों को संसार दो विश्व युद्धों के परिणामों के रूप में झेल चुका है। जापान ने तो परमाणु शस्त्रीकरण के व्यापक प्रभावों की जो मार सही है, वह सर्वविदित है। आज तक मनुष्य ने शस्त्रों के बल पर जितने शान्ति के प्रयास किए हैं, वे अस्थायी ही रहे हैं। शान्ति को स्थाई रूप में कायम करने के लिए निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण का होना अति आवश्यक है। इनके अभाव में विश्व शान्ति का विचार निर्मूल सा प्रतीत होता है। निःशस्त्रीकरण विभिन्न महाशक्तियों में तनाव में कमी करके स्थायी शान्ति स्थापित करता है। आज आणविक युग में तो इसका महत्व और ज्यादा है। हम जिस वातावरण में जी रहे हैं, वह अशान्त व अविश्वास का है। शस्त्रीकरण ने मानव व प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग किया है। इसने राष्ट्रों के मध्य तनावों को जन्म दिया है। इसने त तीय विश्वयुद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। आज शान्ति, सुरक्षा व सम द्धि के लिए इसकी अत्यंत आवश्यकता है। निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण ही केवल एकमात्र ऐसा उपाय है जो विश्व शान्ति के विचार को प्रबल बना सकता है। इसलिए निःशस्त्रीकरण व शस्त्र-नियंत्रण की आवश्यकता निम्न कारणों से है-

1. **निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करता है-** शस्त्रीकरण से शस्त्र-निर्माण की दौड़ में व द्धि होती है। सभी राष्ट्र अल्प सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का भंडारण करने लग जाते हैं। इससे वे दूसरे के हितों की उपेक्षा करने का अपराध कर बैठते हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। राज्यों में वैमनस्य की भावना प्रबल हो जाती है। ऐसे में सदैव युद्ध का खतरा बना रहता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए तनाव घटाना आवश्यक है और तनाव घटाने के लिए शस्त्र दौड़ तथा शस्त्र दौड़ घटाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण।

2. **निःशस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग विकसित होता है -** सभी नवोदित राष्ट्रों ने अपने आर्थिक विकास ने अनेक प्रयत्न किए हैं, लेकिन उनके सारे प्रयास असफल ही रहे हैं। अपना स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व बनाए रखने के लिए इन देशों ने शस्त्र उत्पादन तथा शस्त्र-भण्डारण पर पानी की तरह पैसा बहाया है। शस्त्र दौड़ का प्रभाव विकसित देशों पर भी पड़ा है। इसलिए जब तक इन देशों का अधिकतर बजट शस्त्रों की खरीद-फरोख्त पर व्यय होगा, ये देश अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकते। इसलिए आर्थिक विकास के लिए शस्त्रों पर खर्च किए जाने वाले व्यय को रोकना अति आवश्यक है। ऐसा केवल निःशस्त्रीकरण या शस्त्र-नियंत्रण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

3. **निःशस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना में कमी आती है-** यह बात सत्य है कि आज लड़ाई दो सेनाओं के बीच न होकर, दो हथियारों के बीच होती है। जिस देश के पास पर्याप्त मात्रा में अस्त्र-शस्त्र हों, वह दूसरों के लिए भी प्रेरणा स्त्रोत बन जाता है। शक्ति मनुष्य को पथभ्रष्ट करती है और अत्यधिक शक्तिशाली होना नाश का कारण बनता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा जापान पर बमों का प्रयोग किया जाना उसके शक्ति प्रदर्शन का ही एक अंग था। शक्ति प्रदर्शन का सबसे अच्छा अवसर युद्ध होता है। इसलिए दूसरे देश की तरह प्रत्येक देश सैन्य या शस्त्र शक्ति में व द्धि करना चाहता है ताकि जरूरत पड़ने पर उसका प्रयोग किया जा सके। यदि किसी देश के पास शस्त्र न हों तो वह युद्ध में अधिक विनाशकारी भूमिका नहीं निभा सकता। शस्त्र दौड़ को अपने राष्ट्रीय हितों के रूप में परिभाषित करने की जो प्रव ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए खतरनाक है। शस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य को बढ़ावा देकर, अन्त में युद्ध का कारण बनता है। अतः आज सबसे अधिक आवश्यकता शस्त्र दौड़ को रोकने

की है ताकि त तीय विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को धूमिल किया जा सके। इसके लिए यह जरूरी है कि अन्धाधुन्ध शस्त्र दौड़ व शक्ति प्रदर्शन से बचा जाए। ऐसी परिस्थिति में निःशस्त्रीकरण ही एक मात्र उपाय है जो हमें युद्ध की विभीषिका से बचाकर शान्ति के मार्ग की ओर ले जा सकता है।

4. **निःशस्त्रीकरण जन-कल्याण का मार्ग है-** आज शस्त्र दौड़ के युग में गरीब से गरीब देश भी अपने राष्ट्रीय सुरक्षा व हितों के नाम पर शस्त्रों को खरीदने या उनका निर्माण करने पर अरबों-खरबों रूपये खर्च करते हैं। इससे वे अपनी जनता की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी न करने के दोषी बन जाते हैं। यदि आज जो राशि शस्त्र दौड़ पर खर्च हो रही है, उसे जनकल्याण के कार्यों पर खर्च कर दिए जाए तो समस्त विश्व की कायापलट हो सकती है। विश्व में बढ़ रही भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी तथा अकाल जैसी समस्याओं का सफलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। शस्त्र मनुष्य का पेट नहीं भर सकते और न तन ढांपने के लिए उसे कपड़ा दे सकते हैं। आइजहावर ने इस बात में अपना मत देते हुए कहा है कि "प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थो में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता है, जो ठिठुरते हैं किन्तु उन्हें वस्त्र नहीं दिए जाते, एक चोरी का सूचक है।" आज सभी देश आर्थिक विकास के संसाधनों का शस्त्र साधनों पर जो खर्च कर रहे हैं, वह विश्व के भावी कल्याण के लिए शुभ संकेत नहीं है। इससे जन कल्याण का मार्ग अवरुद्ध होगा। यदि हमें जनकल्याण को बढ़ावा देना है और विश्व में सच्ची शान्ति की स्थापना करनी है तो शस्त्रों पर किए जाने वाले खर्च की दिशा आर्थिक विकास की ओर करनी होगी। आज विश्व शान्ति व सम द्धि के लिए आवश्यकता शस्त्रों की नहीं, निःशस्त्रीकरण की है। निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो विश्व से भुखमरी, गरीबी, कुपोषण जैसी भयानक समस्याओं का निदान कर सकता है। इससे बढ़कर जनकल्याण का मार्ग कोई दूसरा नहीं हो सकता।

5. **शस्त्रीकरण से विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो सकता-** शस्त्रीकरण से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कटुता व वैमनस्य की भावना का जन्म होता है। एक देश दूसरे देश से अवांछित व्यवहार करना आरम्भ कर देता है। शस्त्र शक्ति से सम्पन्न देश कमजोर देशों पर अपनी नीतियां थोपकर मनमाना हस्तक्षेप करने की प्रव ति को जन्म देता है। घ णा और द्वेष का नकारात्मक वातावरण पैदा होने लगता है। परस्पर विवाद इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनके स्थायी युद्ध में बदलने की पूर्ण सम्भावना रहती है। शान्तिपूर्ण उपायों के लिए ऐसे अशान्त व विवादपूर्ण वातावरण में कोई स्थान नहीं होता हैं इसलिए शस्त्रीकरण पर नियंत्रण आवश्यक बन जाता है। निःशस्त्रीकरण ही ऐसा साधन है जो अंतर्राष्ट्रीय विवादों के स्थायी समाधान के लिए शान्त व सकारात्मक वातावरण का निर्माण करता है।

6. **शस्त्रीकरण सर्वनाश का दूत हैः** आज विश्व के शास्त्रस्त्रों की जो होड़ बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए शुभ संकेत नहीं है। आज बम्ब के आविष्कार ने द्रुतगामी प्रक्षेपास्त्रों को जन्म दे दिया है। आज एक स्थान पर ही बैठकर परमाणु शस्त्रों को ले जाने वाले वाहनों का बटन दबाकर विश्व के किसी भी कोने में विनाश किया जा सकता है। जापान पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रयोग किए गए बम एकमात्र ट्रेलर थे। आज यदि अणुशक्ति की पूरी फिल्म देख ली जाए तो प थ्वी पर कुछ भी नहीं बचेगा। सम्पूर्ण प थ्वी एक अन्धकारमय आवरण से ढक जाएगी। अणु शक्ति के प्रयोग के बाद हजारों वर्षो तक जारी रहने वाला विकिरण भविष्य में जानव जाति के जन्म की सभी सम्भावनाओं को निर्मूल कर देगा। ऐसे सर्वनाश से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि शस्त्रीकरण की बजाय शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण पर ध्यान दिया जाए ताकि सम्पूर्ण मानव जाति व प थ्वी को महाविनाश से बचाया जा सके।

7. **शस्त्रीकरण से अवांछित हस्तक्षेप को बढ़ावा मिलता है -** शस्त्रीकरण असुरक्षा को ऐसा वातावरण निर्मित कर देता है कि कमजोर से कमजोर देश भी शस्त्र प्राप्ति के लिए विकसित देशों या शस्त्र निर्माता धनी देशों पर निर्भर हो जाता है। शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ ने शस्त्रीकरण को जिस कदर बढ़ावा दिया, वह विश्व शान्ति के लिए सबसे घातक बना हुआ है। अस्त्र आपूर्ति के नाम पर इन महाशक्तियों ने अवांछित हस्तक्षेप का जो खेल विश्व में खेला, वह सर्वविदित है। इसी तरह की प्रव ति आज भी है। अमेरिका जैसा देश पाकिस्तान के आर्थिक व राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। इससे एशिया महाद्वीप में शान्ति को सबसे बड़ा खतरा बना हुआ है। महाशक्तियों द्वारा ऐसा हस्तक्षेप अनुचित है। इससे गरीब राष्ट्रों पर अनुचित दबाव पड़ता है। इसलिए यदि गरीब देशों की शस्त्र आवश्यकताओं कम हो जाएं या समाप्त हो जाएं तो विकसित देशों को विकासशील देशों में हस्तक्षेप का अवसर नहीं मिलेगा। उनकी इस निर्भरता को निःशस्त्रीकरण के द्वारा ही कम किया जा सकता है।

8. **शस्त्रीकरण नैतिकता के विपरीत है-** शस्त्रीकरण युद्ध को जन्म देता है और युद्ध सदैव अनैतिक होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का उत्पादन या संग्रह करना अनैतिक है। युद्ध राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का नैतिक साधन नहीं है। इससे मानवता की हानी होती है। नैतिकतावादी विचारकों का कहना है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी अच्छे ही होने चाहिए। इसलिए निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो नैतिकता के अधिक निकट हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण ही विश्व शान्ति की स्थापना का सच्चा आधार हो सकता है। आज विश्व में चारों तरफ आतंक का जो संतुलन है, उसे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों से ही कम या समाप्त किया जा सकता है। मानव जाति के अस्तित्व को आज सबसे अधिक खतरा आणविक हथियारों से है। निःशस्त्रीकरण के बिना सम्पूर्ण विनाश को नहीं रोका जा सकता है। इसलिए आज अनेक राजनेता, कूटनीतिज्ञ, दार्शनिक व वैज्ञानिक विश्व में शस्त्र-दौड़ को कम करने या समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं। लेकिन कुछ स्वार्थी व्यक्ति निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण को अधिक महत्व देते हैं। उनका कहना है कि निःशस्त्रीकरण से हजारों कारखाने बन्द हो जाएंगे और अनेक देशों में बेरोजगारी तथा भुखमरी बढ़ जाएगी। इससे तकनीकी विकास का मार्ग अवरुद्ध होगा। उनका यह तर्क अधिक अच्छा नहीं है। मानव ज्ञान का मानवता के विनाश के लिए प्रयोग करना अनुचित व अनैतिक है। आज मनुष्य जाति को विनाश से बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण की अत्यधिक आवश्यकता है। विश्व राजनेताओं द्वारा इस दिशा में सकारात्मक प्रयास करने चाहिए ताकि विश्व शान्ति का आधार मजबूत हो। तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावनाएं क्षीण हों और मानवता की सुरक्षा व सम द्धि की गारन्टी प्राप्त हो।

निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण के लिए किए गए प्रयास

(Efforts for Disarmament and Arms Control)

निःशस्त्रीकरण का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना शस्त्रीकरण का जब से मनुष्य ने शस्त्र निर्माण और उनके की कला सीखी, साथ में उनके दुष्प्रभावों की चिन्ता भी सताने लगी। मनुष्य सदैव शास्त्रास्त्रों से भय खाता आया है और शान्ति के बारे में विचार करता रहा है। उसकी या शासन सत्ता की तरफ से निःशस्त्रीकरण के बराबर प्रयास किए जाते रहे हैं। लेकिन प्रारम्भिक चरण में उसे आंशिक सफलता भी प्राप्त नहीं हुई। निःशस्त्रीकरण का प्रथम प्रयास सैद्धान्तिक तौर पर 1648 ई. में शुरू हुआ। इस समय वैस्टफालिया की सन्धि में प्रथम बार अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण तथा सैनिक शक्ति में कटौती का अनुभव किया गया। उस समय से आज तक इसकी निरन्तर प्रगति हो रही है। निःशस्त्रीकरण के इतिहास को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है-

(क) प्रथम विश्व युद्ध से पहले

(ख) प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक

(ग) द्वितीय विश्व युद्ध से शीत युद्ध के अन्त तक

(घ) शीत युद्ध के अन्त से वर्तमान समय तक

(क) **प्रथम विश्व युद्ध से पहले -** प्रथम विश्व युद्ध से पहले 1648 की वैस्टफालिया सन्धि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम प्रयास थी। इसके बाद 1817 में रश-बेगोट समझौते द्वारा कनाडा-अमरीका सीमांत को निःसैन्य करने पर सहमति जताई। निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास था जिस पर ब्रिटेन तथा अमेरिका ने सामूहिक रूप से स्वीकार किया। 1831 के फ्रांसीसी निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव में भी असैन्यकृत विश्व की कल्पना की गई, लेकिन इसे ज्यादा महत्व नहीं दिया गया। इसके बाद 1868 की सैन्ट पीटर्सबर्ग सन्धि में भी फटने वाली डमडम गोलियों के प्रयोग की मनाही की गई। 1870 में ब्रिटेन भी नियोजना का प्रस्ताव रखा लेकिन इसका भी वही काल हुआ जो 1981 की फ्रांसीसी योजना का हुआ था। इसके उपरान्त 1874 में बैसेल्स प्रस्तावों में भी वायु प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग की मनाही की गई। इसे भी व्यापक समर्थन नहीं मिल सका।

19 वीं सदी के अन्त में 1899 के प्रथम हेग सम्मेलन में मानव कल्याण व विश्व शान्ति के लिए शस्त्रार्थो में कटौती करने पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में हवा में से मार करने वाले अस्त्रों तथा विस्फोटकों को दागने पर प्रतिबंध लगाया गया और बेहोश करने वाली गैस का प्रयोग भी वर्जित किया गया। इसके बाद 1907 में सामूहिक निःशस्त्रीकरण का

सार्थक प्रयास द्वितीय हेग सम्मेलन में किया गया। इस सम्मेलन में सैनिक व्यय में कटौती का प्रस्ताव लाया गया लेकिन। इन दोनों सम्मेलनों ने युद्ध के संचालन को विनिमय करने तथा युद्ध की क्रूरताएं कम करने के प्रयासों की नींव अवश्य डाल दी। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत ने विश्व शान्ति के सारे उपायों को समाप्त कर दिया और 1914 से पूर्व निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास कल्पना की वस्तु बनकर रह गए।

(ख) **प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक -** 1919 में प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते ही विश्व शांति के प्रयास तेज हो गए। इस युद्ध में प्रयोग किए गए हथियारों के प्रभावों पर व्यापक विचार विमर्श हुआ। भविष्य में ऐसे किसी भी युद्ध की सम्भावना को रोकने के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना पर विचार किया गया और विश्व शांति बनाए रखने का उत्तरदायित्व इसे ही सौंपा गया। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के अन्दर व इससे बाहर दोनों तरफ निःशस्त्रीकरण के प्रयास किए गए।

1. **राष्ट्र संघ द्वारा किए गए प्रस्ताव-** राष्ट्र संघ के संविधान में धारा 8 के अंतर्गत शान्ति स्थापना के लिए राष्ट्रीय शास्त्रास्त्रों को राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुरूप कम करने के लिए निःशस्त्रीकरण समझौतों का प्रयास करने का प्रावधान किया गया। लीग की सदस्यता ग्रहण करने वाले देशों को शस्त्र नियंत्रण को स्वीकार करने की शर्त स्वीकार करना अनिवार्य था। 28 जून 1919 की वर्साय संधि को स्वीकार करने वाले देशों ने राष्ट्र संघ के सदस्यों के रूप में अपनी सैनिक शक्ति में कमी लाने का प्रथम व्यवहारिक प्रयास किया। इसके अंतर्गत विजेता राष्ट्रों द्वारा हारे हुए देशों का अनिवार्य निःशस्त्रीकरण किया।

राष्ट्रसंघ ने अपनी निःशस्त्रीकरण की कार्य योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित प्रयास किए-

1. **स्थायी परामर्शदाता आयोग -** राष्ट्रसंघ ने निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए जनवरी, 1920 में स्थायी परामर्शदाता आयोग की स्थापना की। विशुद्ध सैनिक संगठन होने के नाते यह निःशस्त्रीकरण की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर सका। इसलिए नवम्बर, 1920 में इसमें 6 असैनिक सदस्यों को शामिल करके इसे अस्थायी मिश्रित आयोग में बदल दिया गया। अतः इससे निःशस्त्रीकरण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई।

2. **जेनेवा प्रोटोकोल -** इसका उद्देश्य मध्यस्थता द्वारा सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण के प्रयास करना था। 15 जून, 1925 को प्रोटोकोल का अनुसरण करते हुए सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने पर विचार विमर्श हुआ लेकिन ग्रेट ब्रिटेन ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रयास राष्ट्रसंघ द्वारा जेनेवा प्रोटोकोल व्यवस्था के तहत किया गया निःशस्त्रीकरण का प्रयास असफल हो गया।

3. **सज्जीकरण आयोग -** 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बन्द कर देने पर इसकी जगह राष्ट्र संघ ने सज्जीकरण आयोग की स्थापना की। इसका कार्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए तैयारी करना था। इस आयोग ने 1930 तक निःशस्त्रीकरण मतभेदों को दूर करने में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल नहीं की। 1930 में व्यापक विचार विमर्श के बाद इस आयोग ने अपनी कार्य योजना का ढांचा पेश किया। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीः

   क) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों पर रोक लगाई जाए।

   ख) स्थल युद्ध की सामग्री का मात्रात्मक तथा गुणात्मक परिसीमन किया जाए।

   ग) अनिवार्य सैनिक सेवा को निश्चित सीमा तक कम किया जाए।

   घ) हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर सीमित किया जाए।

   ङ) स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की जाए।

4. **जेनेवा सम्मेलन -** सज्जीकरण आयोग की प्रमुख बातों को ही ध्यान में रखकर 13 फरवरी, 1932 को राष्ट्र संघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में हुआ। इसमें 61 राष्ट्रों के 232 प्रतिनिधियों ने अपने 337 प्रस्तावों सहित भाग लिया। यद्यपि यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक व्यवस्थित प्रयास था लेकिन मंचूरिया संकट की काली छाया भी इस पर पड़ी। इस सम्मेलन में निम्नलिखित बातों पर विचार हुआ।

   क) आक्रमणकारी को कठोरतापूर्वक सजा देना तथा पंचनिर्णय को अनिवार्य बनाना।

ख) विवादों को मध्यस्थता द्वारा हल करना।

ग) राष्ट्र संघ की सुरक्षात्मक शक्ति का विकास अर्थात दण्डात्मक सेना का निर्माण

लेकिन परस्पर सहयोग की भवना के अभाव के कारण यह सम्मेलन असफल रहा। इस सम्मेलन में प्रत्येक देश अपनी-अपनी धाक जमाने की फिराक में था। जर्मनी ने शस्त्रास्त्रों में समान कटौती का विचार रखा। उसने कहा कि वर्साय की सन्धि के अनुसार जो अन्याय उसके साथ हुआ था उसे समाप्त किया जाए। अब उसे भी अन्य यूरोपीय शक्तियों के समान ही सैन्य शक्ति का विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। जब उसकी बात को मानने से इंकार कर दिया गया तो उसने राष्ट्र संघ के इस निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से दूर होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार राष्ट्र संघ के सदस्य देशों के भेदभावपूर्ण व्यवहार व गलत नीतियों के कारण निःशस्त्रीकरण के इस व्यवस्थित प्रयास को गहरा आघात पहुंचा।

राष्ट्र संघ के बाहर किए गए प्रयास

1919 से 1939 तक विभिन्न देशों ने विश्व शांति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से आपस में अनेक वार्ताएं की जिससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला। इस दौरान किए गए निःशस्त्रीकरण के प्रयास निम्नलिखित हैं -

1. **वॉशिंगटन नौ-सैनिक सम्मेलन -** यह सम्मेलन 12 नवम्बर, 1921 से 6 फरवरी, 1922 तक वॉशिंगटन (अमेरिका) में हुआ। इस सम्मेलन में सात सन्धियां की गई। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी राष्ट्र संघ का सदस्य न होते हुए भी ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बैल्जियम, हॉलैंड, पुर्तगाल, चीन व जापान के साथ भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य विभिन्न देशों में नौ सेना के विस्तार के लिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक प्रतिस्पर्धा को रोकना था। इस सम्मेलन में 'नौसैनिक प्रतिस्पर्धा परिसीमन सन्धि पर सभी देशों ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि में नवीन विशाल नौ सैनिक पोत बनाने; अड्डे स्थापित करने, वर्तमान नौ सैनिक अड्डों की नए सिरे से किला बन्दी करने पर सहमति हुई। लेकिन इस सम्मेलन में पनडुब्बियों; छोटे युद्धपोतों, विध्वंसकों के सम्बन्ध में कोई आम राय नहीं बन सकी। फ्रांस ने इस सन्धि का समर्थन नहीं किया। इसलिए इसका व्यापारिक रूप नहीं बन सका और अंतर्राष्ट्रीय नौ-सैनिक शक्तियों में निर्णय प्रतिस्पर्धा जारी रही।
2. **जेनेवा नौ-सेना सम्मेलन -** अमेरिका की पहल पर 1927 में एक नवीन नौ सैनिक समझौता करने हेतु जेनेवा में सम्मेलन बुलाया गया। फ्रांस व इटली इसमें शामिल नहीं हुए। अमेरिका, जापान व ब्रिटेन के मध्य विचार विमर्श तक ही यह सम्मेलन सिमटकर रह गया। इन तीनों देशों में भी आपस में आप सहमति नहीं बन सकी। अतः यह सम्मेलन भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा।
3. **लन्दन नौ-सेना सम्मेलन -** 1927 के जेनेवा सम्मेलन के असफल रहने पर नवीन प्रयास के रूप में प्रथम लन्दन नौसेना सम्मेलन 21 जनवरी 1930 को प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में नौ सैनिक शक्ति को समतुल्यता के आधार पर घटाने के लिए सभी देशों को कहा गया। इटली ने फ्रांस के साथ, जापान ने ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ समतुल्यता शक्ति को घटाने पर विचार किया। इसमें हुए सन्धि के कारण अमेरिका तथा जापान ने ब्रिटेन के साथ मिलकर क्रूजरों, विध्वंसकों तथा पनडुब्बियों में भार वाहक क्षमता को सीमित करना स्वीकार किया। फ्रांस तथा इटली ने इस सन्धि पर अपनी असहमति व्यक्त की। इस सन्धि की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं:

   क) इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन ने 5, अमेरिका ने 3 तथा जापान ने 1 बड़ा युद्ध पोत नष्ट करने पर सहमति जताई।

   ख) पांच महाशक्तियों ने 1936 तक नए युद्धपोतों के निर्माण पर रोक लगा दी।

   ग) सामान्य युद्ध पोतों पर 5.1 इंच से अधिक तथा बड़े युद्ध पोतों पर 6.1 इंच से अधिक व्यास की तोपें न लगाने पर सहमति हुई।

   घ) इसमें पनडुब्बियों का आकार 2000 टन तक घटाने पर समझौता हुआ।

   लेकिन इस सन्धि का एक दोष यह था कि इसकी एक धारा में हस्ताक्षर करने वाले देशों को यह अधिकार दिया गया था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय स्थिति खराब हो जाती है तो सन्धिकर्ता देश फिर से शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। यही प्रावधान इसकी असफलता का सबसे बड़ा कारण था।
4. **द्वितीय लंदन नौ-सेना सम्मेलन -** इसका प्रयास 1935 में अन्तिम रूप से साकार हुआ। यह सम्मेलन 9 दिसम्बर, 1935 से आरम्भ होकर 25 मार्च 1936 तक चला। इस सम्मेलन में सभी महाशक्तियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जापान

ने ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर जल सेना रखने की मांग की। प्रथम सम्मेलन की तरह यह भी परस्पर विरोधी मांगों का अखाड़ा मात्र बन गया। इटली ने भी फ्रांस के साथ नौ सैनिक शक्ति की समतुल्यता की मांग की। इस तरह जापान और इटली ने इसमें कोई सहयोग नहीं दिया। इस सन्धि पर केवल अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने ही हस्ताक्षर किए। लेकिन जापान और इटली के सहयोग के बिना यह सम्मेलन अधिक सफल नहीं रहा। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने केवल भविष्य में नौ-सेना निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों की सूचनाओं का परस्पर आदान-प्रदान करने का निर्णय किया।

इस प्रकार इस दौरान किए गए सन्धियां व समझौते किसी बाध्यकारी शक्ति के अभाव के कारण असफलता का ताज बनते गए और विश्व के अनेक देशों में परस्पर वैमनस्य की भावना बढ़ती रही। सभी महाशक्तियों ने शस्त्र दौड़ को जारी रखा। अन्त में शस्त्र प्रतिस्पर्धा ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कटुता पैदा कर दी और इसकी परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में हुई।

ग. द्वितीय विश्वयुद्ध से शीत-युद्ध के अन्त तक

शस्त्र दौड़ ने द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इसके परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध से भी अधिक भयानक थे। इस युद्ध में प्रथम बार आणविक प्रहार किए गए। इससे जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासाकी आणविक हथियारों का निशाने बने। इस युद्ध की भयानक विनाश लीला ने विश्व को नए सिरे से शान्ति के लिए विचार करने को विवश कर दिया। इसलिए विश्व के अनेक देशों ने निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उपाय तलाशने शुरू कर दिए। यद्यपि शीत युद्ध की उग्रता ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपायों को ठेस अवश्य पहुंचाई, लेकिन इस दौरान अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास भी किये गए ताकि त तीय विश्व युद्ध या शीत युद्ध को वास्तविक युद्ध में परिवर्तित होने पर रोक लग सके। 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक निःशस्त्रीकरण के लिए किए गए प्रयास निम्नलिखित हैं-

1. द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद निर्मित अंतर्राष्ट्रीय संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) ने निशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण की जिम्मेदारी अपने प्रसिद्ध अंग सुरक्षा या महासभा को सौंप दी। UNO के चार्टर की धारा 2, 11, 26, 47 में निःशस्त्रीकरण का उल्लेख किया गया है।

2. **अणु शक्ति आयोग-** जनवरी 1946 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा एक अणु शक्ति आयोग की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। इस आयोग का उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जो राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत रखने को तैयार हो जाए ताकि परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए किया जा सके। सुरक्षा परिषद् ने इस आयोग को निर्देश दिया कि वह निम्नलिखित विषयों पर प्रस्ताव तैयार करे-

   अ) अणु शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए करना सुनिश्चित बनाना।

   ब) अणु शक्ति के वैज्ञानिक ज्ञान का शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए विभिनन देशों में आदान-प्रदान।

   स) जन-संहारक अणु आयुद्यों को बहिष्कृत करना।

   द) प्रभावशाली निरीक्षण व्यवस्था का ढांचा तैयार करना ताकि उससे कोई बच न सके।

   परम्परागत आयोग की प्रथम बैठक 14 जून 1946 को न्यूयॉर्क में हुई। अमेरिका ने इस बैठक में परमाणु कार्यक्रम पर अपना एकाधिकार बनाए रखने के उद्देश्य से एक ऐसी योजना रखी जो अधिक अन्यायपूर्ण थी। इसलिए सोवियत संघ ने अमेरिका की इस 'बरुच योजना' को अस्वीकार कर दिया। सोवियत संघ ने अणु बमों के संग्रह को नष्ट करने पर जोर दिया। उसने साथ में यह भी कहा अणु शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रभावशाली उपाय किए जाए। अमेरिका और सोवियत संघ ने अलग-अलग सुझाव पेश करके इस योजना को खटाई में डाल दिया। इसलिए निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी सफल नहीं हो सका।

3. **परम्परागत-शस्त्र आयोग -** इसकी स्थापना फरवरी, 1947 में की गई। सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य इस आयोग में शामिल थे। इस आयोग का उद्देश्य सेना के शस्त्रों पर नियंत्रण रखना तथा उनमें कमी करने का प्रयास तलाशना था। इस आयोग में सोवियत संघ ने सुझाव दिया कि अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों का सर्वप्रथम निःशस्त्रीकरण किया जाए। लेकिन अमेरिका का कहना था कि शस्त्रों को कम करने पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। सोवियत संघ

ने कहा कि प्रत्येक देश को अपनी सेना में 1/3 कटौती करनी चाहिए और परमाणु हथियारों के निर्माण पर रोक लगानी चाहिए तथा जितने परमाणु शस्त्र बन चुके हैं, उन्हें तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए। इस तरह परस्पर विरोधी विचारधारा व शीत-युद्ध के चलते अमेरिका और सोवियत संघ ने निःशस्त्रीकरण के इस प्रयास को भी धराशायी कर दिया।

4. **संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग-** जनवरी, 1952 में परम्परागत शस्त्र आयोग तथा अणु शक्ति आयोग दोनों को मिलाकर संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना कर दी गई। इसे सुरक्षा परिषद् के अधीन रखा गया। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों (अणु आयुद्यों सहित) व सेनाओं के नियमन तथा दूसरी समिति को राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों सम्बन्धि सूचनाओं पर विचार-विमर्श का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस आयोग में सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों के साथ-साथ कनाडा को भी शामिल किया गया। इस प्रकार इसकी सदस्य संख्या 12 हो गई। इस आयोग ने अपने व्यापक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हुए - सैन्य बल के आधार व शस्त्रास्त्रों की संख्या में कटौती, व्यापक निःशस्त्रीकरण सन्धियां, वास्तविक शस्त्र संख्या आदि पर सुझाव दिए। सोवियत संघ ने इस बात पर जोर दिया कि सभी देशों को अपनी सेनाओं में 1/3 कटौती करनी चाहिए। आणविक आयुद्यों पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए तथा आणविक ज्ञान का हस्तांतरण करना चाहिए। लेकिन अमेरिका ने आणविक ज्ञान के आदान-प्रदान के उपरान्त ही निःशस्त्रीकरण के उपाय करने पर जोर दिया। इस प्रकार परस्पर मतभेदों के कारण इस आयोग की कार्यप्रणाली पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा और निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी अपने पूर्ववर्ती प्रयासों की तरह निरर्थक सिद्ध हुआ।

5. **शान्ति हेतु अणु योजना -** 1953 में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने शान्ति हेतु परमाणु योजना प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए करने की बात कही। लेकिन उन्होंने परमाणु हथियारों के भविष्य के बारे में कुछ नहीं कहा। इसी बात पर आशंकित होकर सोवियत संघ ने कहा कि परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए प्रयोग करने के लिए यह जरूरी है कि वर्तमान परमाणु आयुद्यों को नष्ट कर दिया जाए। अमेरिका ने सोवियत संघ का यह सुझाव स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार शान्ति की यह योजना भी असफल रही।

6. **जेनेवा सम्मेलन -** जुलाई, 1955 में स्विटजरलैण्ड के जेनेवा नगर में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजहावर ने खुली आकाश योजना प्रस्तुत की। इस सम्मेलन में सोवियत संघ, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 'मुक्त आकाश योजना' प्रस्तुत करके अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ परस्पर सैनिक बजट, वर्तमान शक्ति एवं उसके विकास की सम्भावनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान तथा परस्पर जांच व निरीक्षण करने का रास्ता साफ कर दिया। लेकिन सोवियत संघ ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया और कहा कि हथियारों की जांच व निरीक्षण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण अभिकरण की स्थापना की जाए। उसने आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबंध तथा परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने की आवश्यकता पर भी बल दिया। अमेरिका ने सोवियत संघ की मांगों का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप यह योजना भी निष्क्रिय रही।

7. **निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक-** 14 जून, 1957 को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक हुई। इसमें रूस ने त्रिसूत्री फार्मूला पेश किया गया (क) दो वर्ष के लिए परमाणु परीक्षण रोक दिए जाएं (ख) परीक्षण की रोक को प्रभावी बनाने हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाए। (ग) समझौते के क्रियान्वयन के लिए एक नियंत्रण कक्ष स्थापित किया जाए।

   परन्तु सोवियत संघ के यह प्रस्ताव पश्चिमी शक्तियों को स्वीकार्य नहीं हुए। इसलिए यह प्रयास भी बेकार सिद्ध हुआ।

8. **निःशस्त्रीकरण की बुल्गानिन योजना -** फरवरी, 1958 में सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ने एक निःशस्त्रीकरण योजना का ढांचा पेश किया जिसे बुल्गानिन योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना के प्रमुख प्रस्ताव निम्नलिखित थे-

   क) सभी तरह के परमाणु व तापनाभिकीय शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाई जाए।

ख) अमेरिका, ब्रिटेन और रूस परमाणु शस्त्रों को नष्ट करें।

ग) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को वापिस बुलाया जाए।

घ) आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के बारे में समझौता किया जाए।

ङ) नाटो तथा वार्सा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता किया जाए।

अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों ने सोवियत संघ की योजना को एक प्रचार बताया। इस प्रकार यह योजना भी फ्लॉप हो गई।

9. **रापाकी योजना-** मार्च 1958 में पोलैण्ड के विदेश मन्त्री ने 'रापाकी योजना' प्रस्तुत की जिसमें यूरोप की सुरक्षा व शान्ति के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को परमाणु शक्ति विहीन करने का सुझाव दिया गया। इस योजना के तहत इन देशों में आणविक शस्त्रों के निर्माण, संग्रह व उपयोग पर रोक लगाना प्रस्तावित हुआ। सोवियत संघ ने तो इसका समर्थन कर दिया, लेकिन अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार 'रापाकी योजना' ने भी असफलता का ताज पहन लिया।

10. **पूर्ण सर्वमान्य निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव-** 18 सितम्बर, 1959 को सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने निःशस्त्रीकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में इस प्रस्ताव में कहा कि चार वर्ष के अन्दर सभी राष्ट्रों का इस प्रकार निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि युद्ध के सभी साधन समाप्त हो जाएं। इसके साथ-साथ एक आंशिक निःशस्त्रीकरण योजना भी प्रस्तुत की गई जिसमें नाटो व वारसा पैक्ट के देशों में एक अनाक्रमण सन्धि करने, आक्रमण के समय परस्पर सहायता करने, यूरोप के देशों से विदेशी सेना हटाने, मध्य यूरोप को परमाणु विहीन क्षेत्र बनाने पर विचार किया गया। लेकिन शीत-युद्ध की उग्रता के कारण दोनों महाशक्तियों में इस योजना पर आम राय नहीं बन सकी। इसलिए यह योजना भी असफल रही।

11. **दस राष्ट्रीय जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन -** यह सम्मेलन 1960 में जेनेवा में हुआ और इसमें 10 राष्ट्रों ने भाग लिया, ये राष्ट्र थे - ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, इटली, बुल्गारिया, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत संघ, तथा चेकोस्लोवाकिया। इसमें 5 नाटो के तथा 5 वर्साय सन्धि के देश थे। इसमें प्रथम स्तर की वार्ता में समस्त पक्षों के बीच आणविक व प्रक्षेपास्त्र निःशस्त्रीकरण एवं पारम्परिक सैन्य बल के परिसीमन पर व्यापक चर्चा हुई। द्वितीय स्तर की वार्ता में तीन परमाणु शक्तियों, अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन के बीच परमाणु शस्त्र-नियंत्रण, परिसीमत तथा आणविक परीक्षण निषेध पर विचार-विमर्श हुआ। परन्तु परस्पर कोई सर्वमान्य समझौता न होने के कारण यह सम्मेलन भी निष्क्रिय हो गया।

12. **अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि-** यह निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम था। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी तथा सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव के प्रयासों से निःशस्त्रीकरण का कुछ विकास हुआ। 15 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा अमेरिका ने इस सीमित परमाणु सन्धि पर हस्ताक्षर किए और यह सन्धि 10 अक्तूबर, 1963 को लागू हुई तो इस पर 100 देश हस्ताक्षर कर चुके थे। इस सन्धि के द्वारा भूगर्भीय - परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र तथा परमाणु परीक्षण करने पर पाबन्दी लगा दी गई। इसकी प्रमुख धाराएं निम्नलिखित थी-

क) प्रथम धारा में तीनों देशों द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने क्षेत्राधिकार में वायुमण्डल आकाश तथा समुद्र में किसी तरह का आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।

ख) इसकी दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था की गई।

ग) तीसरी धारा में तीनों देशों की सहमति पर नए देश के इसमें शामिल होने का प्रावधान किया गया।

घ) इसकी चौथी धारा में सन्धि से अलग होने का प्रावधान था।

ङ) इसकी अन्तिम धारा में सन्धि के अंग्रजी तथा रूसी भाषा के दोनों रूपों को समान मान्यता दी गई।

इस सन्धि का प्रमुख दोष यह था कि भूगर्भ-परीक्षणों पर यह सन्धि चुप थी। फिर भी धीरे धीरे 108 देशों ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया और यह एक व्यापक कार्यक्रम बन गई। इसे निःशस्त्रीकरण की एक अच्छी शुरुआत

व युगान्तरकारी घटना कहा जा सकता है। क्योंकि इस सन्धि ने निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में तेजी ला दी और सभी देश निःशस्त्रीकरण का महत्व समझने लग गए।

13. **निःशस्त्रीकरण आयोग सम्मेलन -** 1963 की समिति परमाणु प्रतिबंध सन्धि ने निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम को बढ़ावा देने के लिए 21 जनवरी, 1964 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक हुई। इसमें कहा गया कि सामरिक महत्व के शस्त्रास्त्रों के विकास को रोका जाए, उनका उत्पादन बन्द किया जाए; यूरोप तथा अन्य देशों में अणु-रहित क्षेत्रों का विकास किया जाए, अनाक्रमण समझौते हों, बमवर्षक विमान नष्ट किए जाएं तथा भूमिगत परमाणु परीक्षण भी रोके जाएं। लेकिन महाशक्तियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की भावना के चलते इन प्रस्तावों को भी अस्वीकार कर दिया गया।

14. **बाह्य आकाशी सन्धि-** 1966 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए बाहरी अन्तरिक्ष प्रयोग सम्बन्धी एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने बाहरी आकाश में परमाणु शस्त्रों को भेजना निषिद्ध मान लिया। इस सन्धि की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं-

   क) अन्तरिक्ष अन्वेषण का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए किया जाएगा।

   ख) अन्तरिक्ष की गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को केन्द्र बनाया जाए।

   ग) अन्तरिक्ष कार्यक्रम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाया जाए।

   इस सन्धि को दोनों महाशक्तियों ने मान लिया और आकाश में परीक्षण करने की योजना को नकारने वाली बात स्वीकार कर ली।

15. **परमाणु अप्रसार-सन्धि -** सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच 1968 में यह सन्धि हुई। इस सन्धि का उद्देश्य विश्व को बढ़ते परमाणु शस्त्रों के खतरे से बचाना था। इसलिए 24 अप्रैल, 1968 को महासभा का एक विशेष अधिवेशन इस सन्धि पर विचार करने के लिए बुलाया गया। पहली बार दोनों महाशक्तियों ने इस सन्धि को सर्वसहमति से स्वीकार किया। परमाणु अस्त्र-अप्रसार सन्धि (Nucelar Non-Proliferation Treaty) की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीं -

   क) परमाणु शक्ति सम्पन्न देश गैर परमाणु शक्ति वाले देशों को परमाणु शस्त्र बनाने वाली परमाणु तकनीक का रहस्य नहीं देंगे।

   ख) परमाणु शक्ति का शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए प्रयोग किए जाने वाली तकनीक का ज्ञान हस्तांतरित किया जा सकता है।

   ग) परमाणु शक्ति से हीन राष्ट्रों को अपने परमाणु संस्थानों के निरीक्षण का अधिकार अंतर्राष्ट्रीय शांति आयोग को देना स्वीकार किया।

   घ) सम्भावित परमाणु शक्ति वाले देश परमाणु ऊर्जा का प्रयोग अपने आर्थिक विकास तथा अन्य असैनिक कार्यो के लिए कर सकते हैं।

   अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद अनेक देशों ने हस्ताक्षर कर दिए। लेकिन भारत, अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि इन देशों ने इस संधि को पक्षपातपूर्ण माना। यह सन्धि निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य वास्तविक हल नहीं थी। इस सन्धि में न तो नए परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर रोक लगाई गई थी और न ही परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु अनुसंधान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था थी। यह संधि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के हितों की पोषक थी। इसका अन्तिम लक्ष्य गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को परमाणु शक्ति बनने से रोकना था। फ्रांस व चीन ने भी इस सन्धि को अपने राष्ट्रीय हितों के खिलाफ मानते हुए हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। इसी तरह कुछ अन्य देशों ने भी इसके पक्षपातपूर्ण स्वरूप के कारण अमान्य कर दिया। इस प्रकार अनेक देशों ने इसे अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा 'परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार' की भावना का पोषक कहा। अतः निशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य उपाय प्रस्तुत नहीं कर सका।

16. **समुद्री तल सन्धि -** 7 दिसम्बर, 1970 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि महासमुद्रों को परमाणु शस्त्रों से मुक्त रखा गया। इस प्रस्ताव को असली जामा पहनाने के लिए 11 फरवरी, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ व ब्रिटेन ने क्रमशः वॉशिंगटन, मास्को तथा लन्दन में हस्ताक्षर किए। इस सन्धि द्वारा यह प्रावधान् किया गया कि किसी भी राष्ट्र के समुद्र तट से 19 किलोमीटर तक के क्षेत्रीय जल को छोड़कर महासागरों के किसी भी अन्य हिस्से में परमाणु शस्त्र व उनके वाहक प्रक्षेपास्त्र तैनात न किए जाएं। किन्तु इसमें परमाणु शस्त्रों से लदी हुई पनडुब्बियों व युद्धपोतों को मुक्त रखा गया। इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्ता देशों ने समुद्री तल, महासागरीय तल तथा उपधरती पर किसी भी तरह के जनसंहारक शस्त्रों व परमाणु शस्त्रों के विस्तार पर रोक लगाने की बात स्वीकार की। और यह सन्धि 18 मई, 1972 को लागू हो गई। लेकिन परमाणु शस्त्रों से लैस पनडुब्बियों व युद्धपोतों को इस सन्धि की व्यवस्थाओं से मुक्त रखने के कारण यह महत्वहीन हो गई।

17. **जैविक शस्त्र समझौता -** 10 अप्रैल, 1972 को अमेरिका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ ने जीवाणु शस्त्रों के उत्पादन, संग्रह तथा उनके प्रयोग पर रोक लगाने के लिए आपस में समझौता किया। इस समझौते के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि वे ऐसे अस्त्रों का न तो निर्माण करेंगे और न ही प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। यह समझौता 26 मार्च, 1975 को लागू हो गया। इस समझौते के अनुसार नशीले पदार्थो, शस्त्रों, उपकरणों तथा वाहको को नष्ट करने या उन्हें शांतिपूर्ण उद्देश्य की तरफ मोड़ने का निर्णय लिया गया।

18. **सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते (SALT-I, II)** अमेरिका और सोवियत संघ के बीच 3 जुलाई, 1974 को प्रथम दस वर्षीय आणविक आयुद्य परिसीमन समझौता हुआ और इसे 31 मार्च, 1976 को लागू करने की बात पर सहमति हुई। इसके अनुसार 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परिक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नई सीमा लगाने का निर्णय हुआ। शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए किए गए विस्फोटों को इसकी परिधि से बाहर रखा गया। इसका उद्देश्य परमाणु युद्ध की सम्भावना को कम करना था। इसके बाद 1979 में सोवियत संघ तथा अमेरिका ने दूसरा साल्ट समझौता किया। इस समझौते का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था लेकिन अफगानिस्तान संकट ने इसे हानि पहुंचाई और इसका अनुमोदन स्थगित हो गया। यह समझौता 28 नवम्बर 1980 को साल्ट पर नवीन वार्ता शुरू होने पर नए सिरे से लागू होने के कगार पर पहुंच गया। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने अपने सामरिक शस्त्रों को 5 वर्षो तक सीमित करने पर विचार किया ताकि निःशस्त्रीकरण को प्रभावी बनाया जा सके।

19. **ब्रेह्यनेव योजना -** फरवरी, 1981 में सोवियत नेता ब्रह्यनेव ने अपनी 8 सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। उसने कहा कि सोवियत संघ अमेरिका के साथ सार्थक शस्त्र नियंत्रण वार्ताओं का इच्छुक है। उसने नवीन पनडुब्बियों के विस्तार तथा आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों के विकास को रोकने पर अपनी सहमति दर्शाई। इस योजना का सर्वत्र स्वागत किया गया। लेकिन अमेरिका ने कोई उत्साहवर्धन प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसलिए यह योजना प्रभावी कार्यक्रम नहीं बन सकी।

20. **चार-सूत्री रीगन प्रस्ताव-** अमेरिका ने ब्रेह्यनेव योजना के प्रत्युत्तर में अपना चार-सूत्री कार्यक्रम (फरवरी, 1981 में) प्रस्तुत किया। इसमें अमेरिका ने कहा कि सोवियत संघ अपने एस.एस. 5 व एस.एस. 20 प्रक्षेपास्त्र नष्ट कर दे तथा अमेरिका पर्शिग 2 तथा समकक्ष थल आधारित प्रक्षेपास्त्र तैनात न करे, सामरिक शस्त्रों में भारी कटौती करने के लिए वार्ताएं करने लिए तैयार हो जाए। लेकिन सोवियत संघ ने इसे प्रचारकारी हथकंडा बताकर अस्वीकार कर दिया।

21. **रीगम निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव -** मई, 1982 में अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने अंतरर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों को सीमित करने के लिए सोवियत संघ को कुछ सुझाव दिए। रीगन प्रस्तावों में कहा गया कि दोनों देशों को परस्पर परमाणु प्रक्षेपास्त्र कम करने चाहिए और साथ ही भूमि तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों में कमी की जानी चाहिए। इसमें परस्पर 1/3 कटौती का प्रस्ताव पेश किया गया। लेकिन सोवियत संघ इसका सकारात्मक उत्तर न दिए जाने के कारण यह प्रस्ताव भी निरस्त हो गया।

22. **जेनेवा वार्ता का नया दौर -** 1983 में जेनेवा में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच START वार्ता के असफल रहने पर 1985 में फिर से नए सिरे से वार्ता करने पर सहमति हुई। दोनों देश फिर से शस्त्र दौड़ रोकने पर सहमत

हो गए। सोवियत संघ अमेरिका के साथ START, MRF और INF वार्ताएं एक साथ शुरू करने पर सहमत हो गया। लेकिन अमेरिका ने स्पष्ट कहा कि वह न तो अपने स्टारवार कार्यक्रम को समाप्त करेगा और न उसमें ढील देगा। इस तरफ परस्पर आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच यह वार्ता 23 अप्रैल, 1985 को स्थगित हो गई।

23. **निःशस्त्रीकरण सम्मेलन नई दिल्ली -** 1985 में 6 देशों अर्जेन्टाइना, ग्रीस, स्वीडन, मास्को, तनजानिया तथा भारत का सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें परमाणु अस्त्र बनाने वाले देशों से आग्रह किया गया कि वे सभी परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाएं और परमाणु शस्त्र दौड़ को समाप्त करें। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

24. **रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता -** नवम्बर 1985 में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने विश्व शाति बनाए रखने के लिए अंतरिक्ष में शस्त्र-दौड़ पर नियंत्रण करने तथा धरती पर इसे समाप्त करने के लक्ष्य पर जोर दिया। लेकिन यह वार्ता बिना किसी ठोस परिणाम के समाप्त हो गई।

25. **मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि -** 8 दिसम्बर, 1987 को अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा इस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। INF सन्धि के नाम से प्रसिद्ध इस सन्धि में यह व्यवस्था की गई कि दोनों पक्ष 500 से 5000 किमी. तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को तैनाती स्थानों से हटा लेंगे या नष्ट कर देंगे। इसमें अमेरिका द्वारा एक परमाणु बम युक्त 364 प्रक्षेपास्त्र तथा सोवियत संघ द्वारा 3-3 परमाणु बमों से युक्त 500 प्रक्षेपास्त्र हटाने पर सहमति हुई। इस सन्धि के अनुसार सोवियत संघ के एस.एस.12 तथा एस.एस. 22 एवं अमेरिका के पर्शिग 2 प्रक्षेपास्त्र महासागरों पर दागकर नष्ट करने का निर्णय हुआ। इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए परस्पर निरीक्षण की सुविधा देने पर सहमत हो गए। इस सन्धि का सभी देशों ने स्वागत किया और निर्धारित अवधि में दोनों देशों ने अपने प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट भी कर दिया। इस प्रकार यह सन्धि निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम था। इससे तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना कम हो गई।

26. **गोर्बाच्योव की घोषणा -** 7 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपनी सेनाओं में कटौती तथा पूर्वी यूरोप में अपने परम्परागत शस्त्रों में कटौती की एक पक्षीय घोषणा की। यह सोवियत संघ की तरफ से निःशस्त्रीकरण के लिए उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से लेकर शीत युद्ध की समाप्ति तक निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रयास किए गए। इनमें से कुछ प्रयास सफल भी रहे। लेकिन कोई ऐसा प्रभावी कार्यक्रम तैयार नहीं हो सका जो तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना को पूर्णतयाः नष्ट कर सके। 1989 के अन्त में सोवियत संघ के विघटन ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नए सिरे से स्थापित करने के विचार को प्रबल बना दिया। इस समय अनेक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र जन्म ले चुके थे। अमेरिका को सोवियत संघ की चुनौती से अब अधिक सावधान रहने की आवश्यकता नहीं रही। अब चीन व भारत परमाणु शक्ति सम्पन्न एशियाई देशों के रूप में उभरने लगे। नई चुनौती का सामना करने के लिए अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ अपना निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम जारी रखना आवश्यक समझा और शीत युद्ध के बाद भी निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की बागडोर अमेरिका के ही हाथ में रही।

(घ) शीतयुद्ध के अंत से वर्तमान समय तक

शीत युद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में किए गए प्रयास निम्नलिखित थे-

1. **वॉशिंगटन शिखर-सम्मेलन -** सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव तथा अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के बीच शीत युद्ध के अन्त के बाद यह पहला सम्मेलन जून 1990 में वॉशिंगटन में हुआ। इसमें रसायनिक शस्त्रों सहित शस्त्र नियंत्रण पर एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ। दोनों देशों ने अपने-अपने शस्त्र भंडारों में से 5000 टन कम करने तथा हजारों टन विध्वंसक सामग्री नष्ट करने पर सहमति जताई। इसकी अवधि 1992 से 2000 तक रखी गई। इसमें रासायनिक शस्त्रों पर तुरन्त रोक लगा दी गई। इस सम्मेलन में 'सामरिक शस्त्र कटौती सन्धि' (START) को संचालित करने वाले कुछ नियमों पर भी समझौता हुआ। इस प्रकार शीत युद्ध के बाद यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण का प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था।

2. **पेरिस वार्ता -** 19 नवम्बर, 1990 को वारसा तथा नाटो के देशों ने परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने के उद्देश्य से पेरिस में एक सम्मेलन बुलाया। इसमें टैंकों, तोपों, सैनिक सशस्त्र वाहनों को नष्ट करने का निर्णय लिया गया। इसमें टैंकों की 20000, सैनिक सशस्त्र वाहन 30000, लड़ाकू हवाई जहाज 6800 तथा हैलीकॉप्टर 2000 की संख्या तक निश्चित की गई। इस वार्ता ने एक ऐसा वातावरण तैयार किया कि निःशस्त्रीकरण के प्रयास पहले की तुलना में अब अधिक सफल दिखाई देने लगे।

3. **सामरिक शस्त्रों में कटौती की ऐतिहासिक सन्धि (START-I)** - सामरिक शस्त्रों पर कटौती की प्रक्रिया जो SALT-II के दौरान निष्क्रिय हो गई थी। अब START-I के माध्यम से पुनर्जीवित हो उठी। इस सन्धि द्वारा सोवियत संघ तथा अमेरिका ने अपने अपने परमाणु शस्त्रों में से 30 प्रतिशत कटौती करने पर सहमति प्रकट की। सोवियत संघ ने 11000 से 7000 तथा अमेरिका ने 12000 से 9000 तक शस्त्र कटौती करना स्वीकार किया। यह पहला औपचारिक प्रयास था जिसके अंतर्गत दोनों महाशक्तियों ने स्वेच्छा से घातक हथियारों में कटौती करना स्वीकार किया।

4. **जॉर्ज बुश की निःशस्त्रीकरण घोषणा -** 28 सितम्बर, 1991 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने एक पक्षीय निशस्त्रीकरण की घोषणा की। उसने अपनी इस योजना में कहा।

   क) जहाजों और पनडुब्बियों से छोड़ी जाने वाली सभी समुद्री परमाणु मिसाइलें समाप्त हों।

   ख) कम दूरी तक मारक क्षमता रखने वाले सभी सामरिक परमाणु शस्त्रों को नष्ट करना।

   ग) बी-52 तथा अन्य बम वर्षकों को निष्क्रिय करना।

   घ) स्टार्ट सन्धि को क्रियान्वित करना।

   इस प्रकार अमेरिका ने अपने एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण के इस कदम द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आशावान बना दिया कि अब तीसरे विश्व युद्ध का कोई खतरा नही है। उसने अपने परमाणु हथियारों को नष्ट करने की एक तरफा घोषणा करके सम्पूर्ण विश्व को चौंका दिया। उसके इस कदम ने सोवियत संघ को भी शस्त्र कटौती के लिए प्रेरित किया।

5. **गोर्बाच्योव की घोषणा -** अमेरिका के द्वारा शस्त्र कटौती के सकारात्मक प्रयास का सोवियत संघ ने भी सकारात्मक उत्तर दिया। उसने अपनी सभी परमाणु मिसाइलों को जल्दी हटाने की घोषणा की। उसने अपनी सशस्त्र सेनाओं में 200000 तक कटौती करने तथा 2000 परमाणु अस्त्रों को कम करने की घोषणा की। उसने कहा कि - (I) जंगी जहाजों और बहुउद्देश्यीय पनडुब्बियों से सभी सामरिक शस्त्रों को दूर कर लिया जाएगा (II) परमाणु शस्त्रों का भंडारण कम किया जाएगा (III) सामरिक महत्व के खतरनाक शस्त्रों में भी कटौती की जाएगी। इस प्रकार सोवियत संध की इस घोषणा को सभी देशों ने सराहा। इसलिए यह घोषणा स्वैच्छिक निःशस्त्रीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रयास थी।

6. **स्टार्ट - II संधि -** 3 जनवरी, 1993 को अमेरिका और सोवियत संघ के बीच निःशस्त्रीकरण के लिए स्टार्ट-II सन्धि पर हस्ताक्षर किए। यह 1991 की START-I सन्धि के विकास का अगला प्रयास थी। इस सन्धि के द्वारा दोनों देश अपने शस्त्रों में व्यापक कटौती करने पर सहमत हो गए। 2/3 कटौती के तहत दोनों देश अपने परमाणु शस्त्रों को 6500 तक रखने पर सहमत हो गए। इसमें समुद्र तल के नीचे वाली विध्वंसक मिसाइलों की संख्या 1700 से 1750 तक के लाने पर सहमति हुई। बमवर्षक जहाजों द्वारा ले जाने वाले परमाणु शस्त्रों की संख्या 750 से 1250 तक, भारी ICMBS पर शस्त्रों की संख्या 656 तक करने पर समझौता हुआ। इस तरह START-II सन्धि INF तथा START-I से भी अधिक व्यापक थी। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को काफी लाभ हुआ।

7. **रासायनिक हथियार निषेध सन्धि-** 13 अप्रैल, 1993 को 160 देशों ने पेरिस में इस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए और यह 29 अप्रैल, 1997 से लागू हो गई। इस सन्धि के प्रारूप में रासायनिक शस्त्रों की खोज, विकास, भण्डारण व हस्तांतरण पर पूर्ण रोक की व्यवस्था की गई है। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने 15 वर्ष तक अपने रासायनिक हथियारों को नष्ट करने की बात पर सहमति जताई है। रासायनिक शस्त्रों को नष्ट करने

की दिशा में अमेरिका तथा रूस के सहयोग के बिना यह सन्धि अधिक प्रभावी नहीं हुई है। आज भी चोरी-छिपे अनेक देश रासायनिक हथियारों का निर्माण कर रहे हैं।

8. **अमेरिका तथा उत्तरी कोरिया के बीच परमाणु समझौता -** 21 अक्तूबर 1994 को अमेरिका और उत्तर कोरिया ने आपस में एक परमाणु समझौता किया। इस समझौते के अनुसार उत्तरी कोरिया अपने वर्तमान परमाणु कार्यक्रम को स्थगित करने तथा अपने परमाणु संस्थानों की जांच कराने पर सहमत हो गया। इस समझौते ने विश्व शांति के विचार को मजबूत आधार प्रदान किया। इससे निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की प्रक्रिया में तेजी आई।

9. **व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Comprehensive Test Ban Treaty) -** CTBT के नाम से प्रसिद्ध यह ऐतिहासिक सन्धि 11 सितम्बर, 1998 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा भारी बहुमत से पारित कर दी गई। इस संधि के तहत परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाई गई है। भेदभावपूर्ण होने के कारण भारत ने CTBT पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया और इसके प्रारूप में कुछ संशोधन करने की अपनी मांग दोहराई। पाकिस्तान ने भी कहा कि जब तक भारत इसे स्वीकार नहीं करेगा, वह भी CTBT पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। वीटो पावर प्राप्त पांचों देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए और अन्य देशों पर भी इस पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया। भारत का इससे चिन्तित होना स्वाभाविक था क्योंकि यह सन्धि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु संवर्धन पर कोई रोक नहीं लगाती। यदि इस सन्धि को सर्वसहमति का आधार प्राप्त हो जाएगा तो विकसित परमाणु शक्ति सम्पन्न देश विकासशील देशों पर अपना परमाणु साम्राज्यवाद थोपने में सक्षम हो सकते हैं। इसकी समीक्षा करने के लिए वियना सम्मेलन (1999) में भारत ने भाग नहीं लिया। इस समय तक 154 देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए थे और 45 ने इसकी पुष्टि कर दी थी। लेकिन अभी भी कुछ परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा इसकी पुष्टि होना शेष है। भारत की चिन्ता स्वाभाविक है। यदि इसको मान लिया जाए तो परमाणु विहीन देश परमाणु शस्त्र नहीं बना सकेंगे और न ही परमाणु तकनीक का शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए प्रयोग कर सकेंगे। इसलिए पक्षपातपूर्ण होने के कारण विकासशील परमाणु शक्ति सम्पन्न देश भी इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने में आनाकानी कर रहे हैं। इसलिए इसकी विश्वसनीयता व प्रभावशीलता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है।

10. **परमाणु कचरा सन्धि -** 1997 में परमाणु कचरे के बारे में कुछ नियमों का निर्णारण करने के लिए इस संधि पर हस्ताक्षर किए गए। भारत ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया लेकिन दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान तथा न्यूजीलैंड ने इसका विरोध किया। इस सन्धि के अनुसार जिस देश में परमाणु विस्फोट होगा, वही देश परमाणु कचरे का निपटान करेगा।

11. **परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव -** संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 8 दिसम्बर, 1998 को परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव पास किया। इसमें परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों से अणु-युद्ध की सम्भवनाओं को कम करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया गया। इसमें परमाणु अप्रसार को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। इसमें परमाणु परीक्षण न करने तथा परमाणु तकनीकी के विकास पर रोक लगाने की बात भी कही गई। इस प्रस्ताव में मौजूदा परमाणु शस्त्रों के भण्डारों पर चिन्ता व्यक्त की गई।

12. मई 2000 में सम्पन्न हुए परमाणु अप्रसार सन्धि समीक्षा सम्मेलन में भी पांच परमाणु शक्ति सम्पन्न वीटो पावर वाले देशों ने परमाणु शस्त्रों में कटौती की घोषणा की। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को अधिक बल मिला है।

13. मई, 2002 में अमेरिका और रूस के बीच हुई परमाणु शस्त्र कटौती संधि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस सन्धि के अनुसार 2012 तक परमाणु शस्त्रों में कटौती का लक्ष्य पूरा किया जाना है।

इस प्रकार राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने वाले बराबर प्रयास किए जाते रहे हैं। शीतयुद्ध में शिथिलता के दौरान तो निःशस्त्रीकरण के प्रयास अधिक प्रभावी रहे हैं। लेकिन आज भी विश्व के अनेक देशों में अन्धाधुन्ध शस्त्र प्रतिस्पर्धा का दौर जारी है। आज परमाणु शस्त्रों के युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को असुरक्षित महसूस करता

है और आर्थिक साधनों के अभावों के बावजूद भी परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की पंक्ति में शामिल होना चाहता है। आज परस्पर असुरक्षा के वातावरण में प्रत्येक राष्ट्र शस्त्र-दौड़ में आगे रहना चाहता है। दो विश्वयुद्धों ने शस्त्र दौड़ को अत्यधिक बढ़ाया है। तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना ने इसमें अप्रत्याशित व द्धि की है। विकासशील देश पारस्परिक मतभेदों का शिकार होने के कारण क्षेत्रीय शान्ति को सबसे बड़ी चुनौती दे रहे हैं। आज आतंक का संतुलन है कोई भी अपने को सुरक्षित नहीं मानता है। प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों की घातक मारक क्षमता से अच्छी तरह परिचित है, फिर भी वह शस्त्रदौड़ में पीछे नहीं हटना चाहता। विश्व जनमत के निःशस्त्रीकरण के पक्ष में होने के बावजूद भी शस्त्र-प्रतिस्पर्धा शस्त्र नियंत्रण या निःशस्त्रीकरण पर हावी है। परमाणु युद्ध का भय अनियन्त्रित शस्त्र दौड़ को बढ़ावा दे रहा है। आज विश्व के विकसित व परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम में अपनी सकारात्मक व पक्षपात विहीन भूमिका निभाने की आवश्यकता है ताकि भय मुक्त विश्व समाज की स्थापना की जा सके और आतंक के संतुलन के स्थान पर शांति का वातावरण हो।

अध्याय-21
यूरोपीय समुदाय
(European Community)

लम्बे अरसे तक विश्व राजनीति में अपना वर्चस्व स्थापित रखने वाले यूरोपीय शक्ति का द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान काफी ह्रास हुआ। शक्ति राजनीति व आर्थिक सम्बन्धों का केन्द्र माना जाने वाला यूरोप एक बालू की दीवार की तरह बिखरता प्रतीत होने लगा। इस युद्ध ने यूरोप का समस्त नक्शा ही बदल दिया। विश्व मानचित्र पर सोवियत संघ एकमात्र शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। इस विश्व युद्ध ने यूरोपीय शक्तियों को जो जान-माल का नुकसान पहुंचाया, उसने यूरोपीय शक्तियों की अर्थव्यवस्थाओं की पूरी तरह कमर तोड़ दी। यूरोप में सर्वत्र आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं में रूचि लेनी आरम्भ कर दी। अमेरिका तथा सोवियत संघ की परस्पर विरोधी भूमिकाओं ने यूरोप के राजनीतिक विभाजन की खाई को और अधिक चौड़ा कर दिया। अपनी अपनी भूमिकाओं को मजबूत बनाने के लिए अमेरिका और पश्चिमी यूरोप तथा सोवियत संघ ने भौगोलिक द ष्टि से लाभदायक पूर्वी यूरोप में अपने अपने सहायता कार्यक्रम चलाने शुरू कर दिए। लेकिन यूरोप के दार्शनिक व नेतागण इस बात से भली भांति परिचित थे कि लम्बे समय तक आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना उनके भविष्य के लिए लाभकारी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने अपनी आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं का समाधान अपने साधनों से ही करने की योजना बनाई जिसके परिणामस्वरूप यूरोपीय समुदाय का तेजी से विकास हुआ।

यूरोपीय समुदाय का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ध्वस्त यूरोपीय अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास होने लगा। इसके साथ-साथ यूरोप की सैनिक व राजनीतिक व्यवस्था को भी सुद ढ़ बनाया जाने लगा और यूरोप फिर से अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व राजनीतिक सम्बन्धों का केन्द्र बिन्दू बन गया। यूरोपीय समुदाय के विकास का अध्ययन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है।

क) यूरोपीय आर्थिक व राजनीतिक समुदाय का विकास।

ख) यूरोपीय सैनिक समुदाय का विकास।

क) यूरोपीय आर्थिक व राजनीतिक समुदाय का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही जुलाई, 1944 में ब्रेटनवुडस सम्मेलन में यूरोप के पुनरोद्धार और आर्थिक विकास के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्र कोष की स्थापना की गई जिसका कार्य ध्वस्त देशों के आर्थिक पुननिर्माण में सहयोग देना तथा मुद्राओं में स्थायित्व प्रदान करना था। इस प्रक्रिया में अमेरिका ने भी मुद्राओं में स्थायित्व प्रदान करना था। इस प्रक्रिया में अमेरिका ने भी ट्रूमैन सिद्धान्त के द्वारा यूरोप को आर्थिक सहायता प्रदान की ताकि वह सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सके। इसके पश्चात् यूरोप के देशों में संगठित होने के प्रयास तेज होने लगे जिनके परिणामस्वरूप यूरोपीय समुदाय का जन्म हुआ। यूरोपीय आर्थिक व राजनीतिक समुदाय के विकास की प्रमुख घटनाएं निम्नलिखित हैं:

1. **बेनीलक्स समझौता** - बेल्जियम, नीदरलैंड (हालैण्ड) तथा लक्जमबर्ग के बीच सितम्बर, 1944 में हुए समझौते के परिणामस्वरूप बेनीलक्स संघ का निर्माण हुआ। 1947 में इस समझौते में कुछ परिवर्तन करके इस समझौते द्वारा सदस्य राष्ट्रों में चुंगी प्रणाली को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया और आयात पर एक समान टैरिफ व्यवस्था लागू करने पर सहमति हुई। इस प्रकार यह समझौता यूरोपीय समुदाय के विकास की दिशा में प्रथम सुव्यवस्थित प्रयास था जिस पर यूरोपीय आर्थिक संघ का अस्तित्व निर्भर था।

2. **मार्शल योजना** - द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ध्वस्त यूरोपीय अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए चलाए गए सहायता कार्यक्रम में मार्शल योजना का बहुत बड़ा योगदान है। अमेरिका के विदेश मंत्री मार्शल ने यूरोप के आर्थिक उद्धार का जो कार्यक्रम चलाया उसे मार्शल योजना का नाम दिया जाता है। मार्शल ने कहा कि यूरोप का पुनर्निर्माण जल्दी किया जाना चाहिए ताकि यूरोप की लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था को सर्वनाश से बचाया जा सके और यूरोप में साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को रोका जा सके। पश्चिमी देशों ने तो इस योजना को अच्छा कदम बताया लेकिन सोवियत संघ ने इसका विरोध किया। जून 1947 में 16 पश्चिमी देशों - फ्रांस, इंगलैण्ड, तुर्की, आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड, स्वीडन, स्विटजरलैंड, पुर्तगाल लकजमबर्ग, नार्वे, इटली, आइसलैण्ड, ग्रीस, डेनमार्क, बेल्जियम तथा तुर्की ने पेरिस में एक सम्मेलन बुलाया और एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति की स्थापना की। इस समिति ने अमेरिका को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह वह 13 अरब डालर खर्च करने को तैयार है तो 1952 तक समस्त यूरोप का पुनर्निर्माण हो सकता है। अमेरिका की सहमति प्राप्त होने पर मार्शल योजना के तहत समस्त यूरोप में आर्थिक सहायता कार्यक्रम चलाया गया और यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण किया गया। इस योजना को कार्यरूप देने के लिए यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना की गई। इस संगठन ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय का तेजी से विकास किया।

3. **कोमिनफोर्म** - अमेरिका की मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में सितंबर 1947 में सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए कोमिनफार्म की स्थापना की। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य तो यूरोप में साम्यवादी नीतियों का प्रसार करना था। सोवियत संघ ने अपने इस वांछित उद्देश्य को पूरा करने के लिए यूरोप में जो आर्थिक सहायता कार्यक्रम चलाए, उनसे यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण हुआ। सोवयित संघ ने बलगारिया, हंगरी, रूमानिया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फ्रांस तथा इटली के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन वारसा में बुलाया और पूर्वी यूरोपीय राज्यों को संगठित करने का प्रयास किया। सोवियत संघ की आर्थिक सहायता की नीति पूर्वी यूरोप को संगठित करने में सफल रही।

4. **यूरोपीय परिषद** - 26 देशों के यूरोपीय प्रतिनिधि 1948 में हेग में एकत्रित हुए जो यूरोपीय परिषद की स्थापना का आधार बना जिसके परिणाम स्वरूप 5 मई, 1949 को यूरोपीय परिषद की स्थापना हुई 1955 तक 15 यूरोपीय राष्ट्र इसके सदस्य बन गए। इसका प्रमुख उद्देश्य यूरोपीय देशों को आर्थिक व राजनीतिक एकीकरण की ओर प्रेरित करना था।

5. **आर्थिक सहयोग और विकास संगठन** - मार्शल योजना को क्रियान्वित करने वाले यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन के स्थान पर 1961 में नया संगठन उभरा जिसे आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन कहा जाता है। इसके प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित निर्धारित किए गए 1. अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों के अनुकूल विश्व व्यापार को बढ़ावा देना 2. सदस्य देशों में आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना 3. सदस्य देशों के उच्चतम आर्थिक विकास, रोजगार तथा विकसित जीवन स्तर को बढ़ाना 4. आर्थिक स्थिरता के साथ साथ अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोग देना। इसके 20 सदस्य देशों ने यूरोप के आर्थिक विकास के साथ साथ गैर यूरोपीय देशों के भी आर्थिक सहयोग में व द्धि की।

6. **यूरोपीय आर्थिक समुदाय या सांझा बाजार** - इसे यूरोपीय संघ के नाम से भी जाना जाता है। इसकी स्थापना 1 जनवरी 1958 को हुई। आज इसकी सदस्य संख्या 15 है। बेल्जियम, डेनमार्क, जर्मनी, ग्रीस, स्पेन, फ्रांस, आयरलैंड, इटली, लकजमबर्ग, नीदरलैंड, आस्ट्रिया, पुर्तगाल, फिनलैंड, स्वीडन तथा ब्रिटेन इसके प्रमुख सदस्य देश हैं। इसकी स्थापना के उद्देश्य - सदस्य देशों की सीमा शुल्क सारणी की एकल व्यवस्था को सुद ढ़ करना, वस्तुओं और सेवाओं का निर्बाध आवागमन, आर्थिक नीतियों में समन्वय पैदा करना था। यूरोपीय आर्थिक समुदाय या सांझा बाजार ने 1973 में अपने तटकर संघ के (EEC) माध्यम से EFTA के सदस्य देशों के साथ अनेक आर्थिक और वाणिज्य समझौते किये है ताकि यूरोप में एक स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र की स्थापना की जासके। इसने ASEN के साथ भी एक आर्थिक समझौता किया। इसकी सबसे महतवपूर्ण उपलब्धि यूरोपीय मुद्रा अर्थात यूरो को स्थापित करने की है। 1 जनवरी, 1991 को यूरो ने अंतर्राष्ट्रीय बाजार में दस्तक दी है। इस प्रणाली को 12 देशों ने स्वीकार कर लिया है। डेनमार्क, स्वीडन तथा ब्रिटेन ने यूरो प्रणाली को स्वीकार नहीं किया है। सांझा मुद्रा प्रणाली के विकास से यूरोपीय देशों में आर्थिक समुदाय अब यूरोपीय देशों के लिए एक लाभकारी संस्था बन गया है।

7. **यूरोपीयन कोयला व इस्पात समुदाय** - इसकी स्थापना अगस्त 1952 में हुई इसका उद्देश्य कोयले और इस्पात के लिए एक यूरोपीय मंडी का निर्माण करना था। प्रारंभ में इसे 6 देशों ने कार्यरूप दिया। 1973 में ब्रिटेन, आयरिश रिपब्लिक तथा डेनमार्क भी इसमें शामिल हो गए। इसकी स्थापना से यूरोपीय देशों में व्यापार अवरोध समाप्त हुए अर्थात आयात-निर्यात कर समाप्त हो गए। इसके बाद फ्रांस और जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था का एकीकरण हुआ और बिना चुंगी करों के लोहे व कोयले का निर्बाध आयात होने लगा। इस प्रयास को यूरोपीय आर्थिक सहयोग का एक महत्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है।

8. **यूरोपीय परमाणु शक्ति समुदाय** - इसकी स्थापना 25 मार्च, 1957 को रोम सन्धि के अनुसार की गई। इसकी स्थापना से यूरोपीय देशों की रोम सन्धि के अनुसार की गई। इसकी स्थापना यूरोपीय देशों में सांझा परमाणु कार्यक्रम चलाए गए। परमाणु सामग्री के लिए सांझा बाजार का विकास हुआ। परमाणु तकनीक के विकास के लिए नए नए शोध केन्द्र खोले गए।

9. **यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ** - यूरोपीयन सांझा बाजर के दुस्प्रभावों से बचने के लिए ब्रिटेन ने आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन तथा स्विट्जरलैड के साथ मिलकर 1960 में इसकी स्थापना की। बाद में फिनलैंड भी इसका सदस्य बन गया। इसका उद्देश्य सदस्य देशों द्वारा तटकर धीरे धीरे समाप्त करना है। लेकिन यह यूरोपीय सांझा बाजार से कम सक्रिय संगठन है।

10. **पारस्परिक आर्थिक सहायता की परिषद** - इसकी स्थापना 1949 में पूर्वी यूरोप के देशों - बल्गारिया, पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा सोवियत संघ द्वारा की गई। 1950 में जर्मनी तथा अल्बानिया भी इसके सदस्य बन गए। इसकी स्थापना से पूर्वी यूरोप के देशों में आर्थिक सहयोग के क्षेत्र का विकास हुआ। 1970 के बाद इस संस्था ने पूर्वी यूरोप के आर्थिक एकीकरण की दिशा में तेजी से प्रयास शुरू कर दिए। यूरोप के आर्थिक समुदाय के विकास में इसका योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है।

ख) यूरोपीय सैनिक समुदाय का विकास

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यूरोपीय देशों की प्रतिरक्षा सामग्री का जो नुकसान हुआ, उसकी भरपाई करना एक कठिन कार्य था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की गई सन्धियां व समझौते ने यूरोपीय राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना भर दी। वे प्रतिरक्षा के मामलों में अन्य देशों पर अपनी निर्भरता कम करना चाहते थे। शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ के बीच व्याप्त तनाव ने यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों पैदा कर दी। अपने को सैनिक रूप से मजबूत बनाने के लिए अनेक यूरोपीय देशों ने संगठित प्रयास शुरू कर दिए । यूरोप में सैनिक समुदाय के विकास को गति देने वाले प्रमुख प्रयास निम्नलिखित हैं -

1. **डंकर्क सन्धि** - यह सन्धि ब्रिटेन व फ्रांस के बीच 4 मार्च, 1947 को हुई। इसकी अवधि 50 वर्ष रखी गई। इन दोनों देशों ने जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध अपने आप को सुरक्षित करने के लिए संगठित होकर कार्य करने के लिए तैयार किया, इससे दोनों देशों में आर्थिक सहयोग व सैनिक सहायता का नया अध्याय शुरू हुआ। यह सन्धि सर्वव्यापी होने के कारण यूरोपीय समुदाय के संगठित विकास में ज्यादा महत्वपूर्ण योगदान नहीं दे सकी। यह केवल एक संकुचित क्षेत्रीय व्यवस्था थी।

2. **ब्रुसेल्स सन्धि** - इस सन्धि को पश्चिमी यूरोपीय सन्धि के नाम से भी जाना जाता है। इस सन्धि पर 17 मार्च, 1947 को फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम, नीदरलैंड (हॉलैण्ड) तथा लकजमबर्ग ने हस्ताक्षर किए। इसकी अवधि भी 50 वर्ष रखी गई। सन्धिकर्ता देशों ने आपसी आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामूहिक सुरक्षा को बढ़ावा देने व अपनी प्रतिरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाने के उद्देश्य से यह कदम उठाया। सन्धि के अन्दर यह प्रावधान किया गया कि यदि सन्धिकर्ता देशों में से किसी पर भी आक्रमण होता है तो उसका सामना सभी देश करेंगे। 1954 में पश्चिमी जर्मनी तथा इटली भी इसके सदस्य बन गए। इस प्रकार यूरोपीय सैनिक समुदाय के विकास में यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

3. **उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन** - नाटो के नाम से प्रसिद्ध इस संगठन का निर्माण 4 अप्रैल, 1949 को हुआ। इस बेनीलिक्स समझौते का ही विकसित रूप था। प्रारम्भ में इसमें बेल्जियम, फ्रांस, डेनमार्क, इटली, नार्वे, हॉलैण्ड,

लकजमबर्ग, पुर्तगाल तथा आइसलैण्ड शामिल थे। बाद में ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका शामिल हो गए। आज नाटो में 14 देश हैं। नाटो सन्धि के घोषणापत्र में स्पष्ट कहा गया है कि नाटो का उद्देश्य उत्तरी अटलांटिक महासागर के तटवर्ती देशों की शांति, सुरक्षा व स्वतन्त्रता की सुरक्षा करना है। सन्धि में 14 धाराएं हैं। इसकी 5वीं धारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र पर किया गया आक्रमण सम्पूर्ण संगठन पर आक्रमण माना जाएगा और यू एन ओ (U.N.O.) के चार्टर की धारा 51 के अंतर्गत सभी सन्धिकर्ता देश आक्रमण का मुंह तोड़जवाब देंगे। इसके अंतर्गत सशस्त्र कार्यवाही भी शामिल होगी। यद्यपि नाटो की स्थापना सोवियत संघ के बढ़ते साम्यवाद के प्रभाव को रोकने के लिए की गई थी। लेकिन शीत युद्ध की समाप्ति से इसकी भूमिका और अधिक बढ़ गई। अप्रैल, 1999 में वाशिंगटन के नाटो की 50वीं वर्षगांठ के अवसर पर नाटो को नए रूप में भूमिका पेश करने के लिए तैयार किया गया। आज नाटो समस्त यूरोप सहित विश्व के किसी भी भाग में युद्ध का डंका बजा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण यूरोपीय सैनिक समुदाय होने के साथ साथ अमेरिका जैसे देशों का भी समर्थन प्राप्त संगठन है। अफगानिस्तान व इसके विरुद्धगत वर्ष की गई सैनिक कार्यवाहियों में नाटों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संगठन ने यूरोप को सैनिक आधार पर संगठित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

4. **वारसा पैक्ट** - नाटों के जवाब में सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में पूर्वी जर्मनी सहित सात देशों की मदद से मई 1955 में वारसा सन्धि की 20 वर्ष के लिए हस्ताक्षर किए। इसे पूर्वी यूरोपीय संधि संगठन कहा गया। नाटो की स्थापना के बाद यह आवश्यक हो गया था कि पूर्वी यूरोप में भी संगठित सैनिक समुदाय का विकास किया जाए ताकि पश्चिम यूरोप व अमेरिका के बढ़ते सैनिक हस्तक्षेप पर रोक लगाई जा सके। सन्धि की धारा 3 में किसी सन्धिकर्ता देश पर किए गए बाहरी आक्रमण के खिलाफ सभी सन्धिकर्ता राष्ट्र मिलकर सैनिक कार्यवाही करेंगे। सन्धि में पारस्परिक विवादों के संदर्भ में शक्ति प्रयोग की मनाही की गई। लेकिन सोवियत संघ के विघटन के कारण 1 जुलाई, 1991 को वारसा पैक्ट भंग कर दिया गया। अपने जीवन काल में वारसा पैक्ट एक महत्वपूर्ण संगठन रहा। इसने पूर्वी यूरोप को सैनिक आधार पर संगठित बनाए रखा।

5. **यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय** - पश्चिमी यूरोप को सैनिक द ष्टि से संगठित करने के लिए 27 मई, 1952 को फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, हॉलैण्ड, बेल्जियम और लकजमबर्ग ने मिलकर 50 वर्षीय यूरोपीय प्रतिरक्षा संधि पर हस्ताक्षर किए। इस सन्धि के अनुसार इस संगठन को नाटो के लिए एक सैनिक टुकड़ी के रूप में विकसित करने पर जोर दिया गया। यह यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयास थी। लेकिन 1954 में इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया गया और यह सन्धि समाप्त हो गई।

6. **पश्चिमी यूरोपीयन संघ** - यूरोपीयन प्रतिरक्षा समुदाय के अवसान के बाद लन्दन सम्मेलन में (1954) पश्चिमी यूरोपीयन संघ का जन्म हुआ। इस सम्मेलन में फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, पश्चिमी जर्मनी, हॉलैण्ड, लकजमबर्ग तथा बेल्जियम ने भाग लिया। इस सम्मेलन में पश्चिमी जर्मनी पर से नाटो के देशों का सैनिक अधिकार हटाने का निर्णय लिया गया और उसे नाटो का सदस्य बनाया गया। इस तरह इस संगठन ने भी पश्चिमी यूरोप को एक जगह संगठित करने के प्रयास किया। 1990 में जर्मनी के एकीकरण के कारण इस संगठन का महत्व क्षीण हो गया।

मैस्ट्रिच सन्धि तथा यूरोपीय समुदाय -

1990 में सोवियत संघ के विघटन के बाद यूरोप में नए युग की शुरुआत हुई। पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण हो गया। इससे यूरोप में शक्ति का नया युग प्रारम्भ हुआ। वारसा पैक्ट की समाप्ति ने नाटो को अधिक शक्तिशाली बना दिया। अब पूर्वी व पश्चिमी यूरोपीय समुदाय के स्थान पर केवल यूरोपीय समुदाय की अवधारणा का जन्म हुआ। यूरोपीय समुदाय के नेताओं ने 11 दिसम्बर, 1991 को मैस्ट्रिच सन्धि पर हस्ताक्षर किए जिसके अंतर्गत समस्त यूरोप को एक आर्थिक, राजनीतिक व सैनिक ब्लाक में बांधने के प्रयास शुरू किए गए। इसके अंतर्गत समस्त यूरोप में एक मौद्रिक प्रणाली का प्रचलन करने पर सहमति हो गई। जिसे 1999 में सफलता प्राप्त हुई। इस समय समस्त यूरोप में (तीन देशों डेनमार्क, स्वीडन तथा ब्रिटेन को छोड़कर) एक मुद्रा प्रणाली जिसे यूरो कहा जाता है का प्रचलन है। इस व्यवस्था ने समस्त यूरोप को एक राजनीतिक संघ के रूप में परिवर्तित करने का काम किया है।

इस सन्धि के आधार पर ही यूरोपियन राष्ट्र सांझा मण्डी, एक मौद्रिक प्रणाली बनाने में सफल हुए हैं। अनेक यूरोपीय देशों में निर्बाध आयात-निर्यात को बढावा मिला है। आज यूरोप एक सांझा बाजार ही नहीं एक शहर समुदाय बनता जा रहा है। आज ब्रिटिश टेलीकॉम और डच टेलीकॉम ब्रुसेल्स में कारोबार के लिए विज्ञान करते हुए देखे जा सकते हैं। इटली के वकील पेरिस में वकालत कर सकते हैं। स्पेन के वास्तुकला के छात्र हेलसिंकी में काष्ट वास्तुकला के पाठ्यक्रम में बेरोक-टोक भाग ले सकते हैं। आज समस्त यूरोप की भौगोलिक दूरी सिकुड़ गई है। यूरोप एक आंतरिक सीमा रहित क्षेत्र के रूप में विकसित हो चुका है। यूरो के प्रचलन ने यूरोपीय समुदाय के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे यूरोप में एक नए आर्थिक युग की शुरुआत हुई है। आज यूरोप विभाजितम यूरोप की बजाए एकीकृत यूरोप है। सहकारी अर्थव्यवस्था के विकास ने यूरोप में नए आयाम स्थापित किए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मैस्ट्रिच सन्धि यूरोपीय मौद्रिक एवं राजनीतिक एकीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। आज यूरोपीय समुदाय के विकास के रूप में यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ यूरोप अर्थात् संयुक्त राज्य यूरोप की अवधारणा का विकास हो रहा है। इसे देखकर कहा जा सकता है कि भविष्य में यूरोपीय समुदाय निरंतर विकास की ओर अग्रसर होगा और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नए आयाम स्थापित करेगा।

अध्याय-22
भारत की विदेश नीति
(India's Foreign Policy)

विदेश नीति क्या है?
(What is Foreign Policy?)

किसी भी देश की विदेश नीति मुख्य रूप से कुछ सिद्धान्तों, हितों एवं उद्देश्यों का समूह होता है जिनके माध्यम से वह राज्य दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध स्थापित करके उन सिद्धान्तों की पूर्ति हेतु कार्यरत रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्यों की अपनी विदेश नीति होती है जिसके माध्यम से वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने संबंधों का निरूपण करते है। विशेष रूप से सर्वप्रथम मॉडलस्की ने इसको परिभाषित करते हुए कहा था कि विदेश नीति समुदायों द्वारा विकसित उन क्रियाओं की व्यवस्था है जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को बदलने तथा उनकी गतिविधियों को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में ढ़ालने की कोशिश करता है। परन्तु विदेश नीति की इस प्रकार की परिभाषा को अति सरलीकरण माना जाएगा क्योंकि विदेश नीति का उद्देश्य मात्र दूसरों के व्यवहार का परिवर्तन मात्र नहीं हो सकता है। अपितु इसके माध्यम से दूसरे राज्यों की गतिविधियों का नियत्रंण करना भी अति आवश्यक होता है। इस प्रकार विदेश नीति में परिवर्तन के साथ-साथ कई बार निरंतरता की आवश्यकता भी होती है। क्योंकि विदेशी नीति परिवर्तन एवं यथास्थिति दोनों प्रकार की नीतियों का समन्वय होता है। बल्कि फेलिम्स ग्रास तो इससे भी एक कदम आगे निकल जाते हैं जब वे कहते है कि कई बार किसी राज्य के साथ कोई संबंध न होना या उसके बारे में कोई निश्चित नीति न होना भी विदेश नीति कहलाता है। इस प्रकार विदेश नीति के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलू होते है। यह सकारात्मक रूप में जब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार का प्रयास करती है तथा नकारात्मक रूप में तब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार को परिवार्तित करने का प्रयास करती है।

अतः विदेश नीति उन सिद्धान्तों, हितो व उद्देश्यों के प्रति वचनबद्धता जिनके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में अपने संबंधों का निर्वाह करता है। इस संदर्भ में विदेश नीति पर निर्णय लेने के साथ-साथ इसका अन्य राज्यों के साथ संबधों का वहन करना भी अति महत्त्वपूर्ण हो जाता है। लेकिन इस प्रकार के व्यवहार के समय राज्य को अपने लाभ-हानि अर्थात् संसाधन एवं जोखिम दोनों का मूल्यांकन भी कर लेना चाहिए।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विदेश नीति एवं राष्ट्रीय हितों के बीच एक गहन संबंध होता है। राष्ट्रहित विभिन्न संदर्भो में विदेश नीति हेतु आवश्यक भूमिका निभाते हैं-**प्रथम,** ये विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के संदर्भ में सामान्य अभिविन्यास प्रदान करते है। **द्वितीय,** ये निकट भविष्य की स्थिति में विदेश नीति को नियंत्रण करने वाले मापदण्डों का विकल्प प्रदान करते हैं। **तृतीय,** राष्ट्रीय हित विदेश नीति को निरंतरता प्रदान करते हैं। **चतुर्थ**, इन्ही के आधार पर विदेश नीति बदलते हुए अतंर्राष्ट्रीय स्वरूप में अपने आपको ढ़ालने में सक्षम हो सकती है। **पंचम**, राष्ट्रीय हित विदेश नीति को मजबूत आधार प्रदान करते हैं क्योंकि ये समाज के समन्वित एवं सर्वसम्मति पर आधारित मूल्यों की अभिव्यक्ति होते हैं। अन्ततः ये विदेशी नीति हेतु दिशा निर्देशन का कार्य करते हैं।

ऐतिहासिक प ष्ठभूमि
(Historical Background)

किसी भी देश की विदेश नीति एक विशिष्ट आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण के स्वरूप द्वारा काफी हद तक निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त उसका इतिहास, विरासत, व्यक्तित्व, विचार धाराएँ,विभिन्न संरचनाओं आदि का प्रभाव भी उस पर स्पष्ट

रूप से परिलक्षित होता है। भारत भी इस स्थिति का अपवाद नहीं है। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्यों के निर्धारण एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी इन्ही बहुमुखी तत्वों का योगदान रहा है। अतः भारत की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को सही दिशा में समझने हेतु इसके ऐतिहासिक संदर्भ का अध्ययन करना अनिवार्य है। क्योंकि इस प ष्ठभूमि का विदेश नीति पर गहरा प्रभाव होता है। इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने उचित ही कहा था कि- ' यह नहीं समझना चाहिए की भारत ने एकदम नये राज्य के रूप में कार्य प्रारम्भ किया है। इसकी नीतियाँ हमारे भूत व वर्तमान इतिहास तथा राष्ट्रीय आंदोलन के विकास तथा इनके द्वारा अभिव्यक्त विभिन्न आदर्शो पर आधारित है।'

इसलिए भारत की विदेश नीति की समझ एवं आंकलन हेतु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं स्वाधीनता संग्राम के इतिहास पर द ष्टिपात करना अति आवश्यक बन पड़ा है। इस काल में होने वाले घटनाक्रमों के आधार पर ही स्वतंत्र भारत की विदेश नीति का विकास हुआ है। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की जड़ें उन प्रस्तावों व नीतियों में ढूंढी जा सकती है जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी स्थापना के पश्चात् के 62 वर्षों (1885-1947) में महत्वपूर्ण विदेश नीति के विषयों पर अपनाई थी। यह सत्य है कि पराधीन भारत की विदेश नीति का निर्माण 1885 में स्थापित इंडिया हाउस, लंदन में होता था। अग्रेंज अर्न्राष्ट्रीय मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन फिर भी भारत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में 'अंतर्राष्ट्रीय व्यक्ति' का दर्जा प्राप्त कर चुका था तथा कई विषयों पर कांग्रेस की प्रतिक्रियाओं के सकारात्मक परिणाम ही नहीं निकले, अपितु स्वतंत्र भारत की नीतियों हेतु ठोस आधार भी तैयार हो गया था। इसी आधार पर पराधीन भारत को अंतर्राष्ट्रीय सम्मेंलनों में भारत को भागीदारी प्राप्त होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप ही भारत संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था का 1945 में प्रारम्भिक सदस्य बन सका।

इसके अतिरिक्त, समय-समय पर राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अभिव्यक्त विचारों ने भारतीय विदेश नीति के मुख्य आधारों की स्थापना की। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा विभिन्न प्रस्ताओं एवं प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप विभिन्न सिद्धान्तों की उत्पति हुई (i) भारतीय कांग्रेस द्वारा सदैव साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का खंडन करना बाद के वर्षो में भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का भी प्रमुख लक्ष्य रहा, (ii) भारतीय कांग्रेस द्वारा स्वयं को समय-समय पर इंग्लैंड की विदेश नीतियों से असमबद्ध घोषित करने के कारण बाद के वर्षो में भी अपने आपको महाशक्तियों के हितो से अपने को अलग रखने में सक्षम रहा, (iii) मुस्लिम राष्ट्रों से सहयोग की नीतियों के कारण स्वतंत्र भारत ने भी हमेंशा अरब राष्ट्रों का ही साथ दिया; (iv) कांग्रेस द्वारा एशियाई एवं पिछड़े राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति के कारण स्वतंत्र भारत में भी अफ्रीकी व एशियाई राष्ट्रों के समर्थन की नीति अपनाई; तथा (v) विदेश नीति की स्थापना व निर्माण के संदर्भ में भी राष्ट्रीय कांग्रेस की पहल को ही आगे बढ़ाया। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भारत की विदेश नीति निर्धारण में ऐतिहासिक प ष्ठभूमि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति पर ब्रिटिश विरासत, स्वाधीनता संग्राम के अनुभवों, राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिक्रियाओं, स्वतंत्रता आंदोलन के नेत त्व आदि का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इन्ही प्रयासों एवं बदली हुई राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तथा अन्य नीति निर्धारक तत्वो ने स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया है।

उद्देश्य
(Objectives)

प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु विदेश नीति के उद्देश्य तय करते है। भारत की विदेश नीति ने भी अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप विभिन्न उद्देश्य निर्धारित किए है। भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है- (क) प्रमुख उद्देश्य; तथा, (ख) अन्य उद्देश्य। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रमुख उद्देश्य

1. राष्ट्रीय सुरक्षा
2. आर्थिक विकास
3. उपयुक्त विश्वव्यवस्था

अन्य उद्देश्य

1. उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व रंगभेद का विरोध
2. निरस्त्रीकरण का समर्थक
3. एशिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका
4. अफ्रो-एशियाई क्षेत्रीय सहयोग
5. संयुक्त राष्ट्र में आस्था
6. सभी राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण संबंध
7. भारतीय मूल एवं प्रवासी भारतीयों की रक्षा

सिद्धान्त

भारत ने विदेश नीति के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कुछ सिद्धान्तों का पालन किया है। सिद्धान्त न केवल विदेश नीति के तर्क संगत विश्लेषण में सहायक होते है, बल्कि नीति को निरंतरता भी प्रदान करते हैं। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलन के अनुभवों एवं स्वतंत्र भारत के समक्ष विश्व की उभरती स्थिति ने मुख्य रूप से भारत की विश्व नीति के सिद्धान्तों की उत्पति की है। भारतीय विदेश नीति के सिद्धान्तों को भी दो भागों में वर्गीक त किया जा सकता है जो निम्न प्रकार से है-

प्रमुख सिद्धान्त

1. गुटनिरपेक्षता
2. पंचशील

अन्य सिद्धान्त

1. यथार्थवाद
2. गत्यात्मकता एवं अनुरूपता
3. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्त्व

विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Features of Foreign Policy)

पिछले 56 वर्षों के इतिहास पर नजर डालने से भारत की विदेश नीति की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से उजागर होती है।

1. गुटनिरपेक्षता की नीति भारत की विदेश नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू एवं केन्द्रबिन्दु है। इसकी घोषणा स्वतंत्रता से पूर्व ही अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रथम रेडियो भाषण के रूप में 7 सितम्बर 1946 को ही कर दी थी। इस विदेश नीति को अपनाने के दो प्रमुख स्रोत रहे है- भौतिक तत्त्व एवं गैर-भौतिक तत्त्व। भौतिक तत्त्वों में प्रमुख रूप से भारत की तत्कालिक भू-राजनैतिक स्थिति एवं आर्थिक स्थिति महत्त्वपूर्ण रहें है। गैर-भौतिक तत्त्वों में भारत की ऐतिहासिक विरासत,भारतीय दर्शन एवं परम्पराएँ प्रभावी रहे हैं।

   इसके बारे में विस्तारपूर्वक जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता क्या है? सामान्य रूप से इसे सैन्य गठबन्धनों से अलग रहने की नीति मानते हैं। परन्तु यह विदेश नीति बहुत व्यापक एवं गतिशील है। अतः यह उपरोक्त से कहीं अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है। इस नीति के दो सकारात्मक एवं नकारात्मक - पहलू है। नकारात्मक रूप में इसे (i) सैन्य गुटों या शीतयुद्ध गुटबन्दियों से अलग रहना; तथा (ii) सैन्य गठबन्धनों में शामिल न होने की नीति माना

जा सकता है। सकारात्मक रूप में इसे (i) विश्व शान्ति स्थापित करने; (ii) उपनिवेशवाद,साम्राज्यवाद, रंगभेद आदि समाप्त करने; (iii) विश्व में स्वतंत्रता का प्रसार करने; (iv) सभी राष्ट्रों के मध्य सहयोग विकसित करने; तथा (v) नव-स्वतंत्र राष्ट्रों की सहायता करने की नीति माना जा सकता है।

गुटनिरेपक्षता की नीति को लेकर विदेशी विशेषज्ञों के मन में कई भ्रांतियाँ थी। शायद इसलिए उन्होंने नेहरू के आशयों पर विश्वास करने के बजाय इसे अन्य विदेश नीतियों जैसे अलगाववाद, गैर-सम्बद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकलवाद, अहिस्सेदारी आदि धारणाओं के समकक्ष माना। लेकिन नेहरू ने उनके इन विचारों का खण्डन करते हुए स्पष्टीकरण दिए। उनका कहना था कि जहां तक 'तटस्थता' व 'तटस्थीकरण' का प्रश्न है ये दोनों ही धारणाएँ बहुत सीमित हैं, क्योंकि आज के सन्दर्भ में विश्व युद्धों से तटस्थ रहना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत गुटनिरपेक्ष देश को तो युद्ध में हिस्सा लेना पड़ सकता है यदि वह उसके हितों के विरूद्ध है। इसीलिए जहां स्वतंत्रता, न्याय अथवा युद्ध होंगें वहां भारत तटस्थ नहीं रह सकता। इसी प्रकार 'अलगाववाद' के विषय में नेहरू का मानना था कि सैन्य गुटबन्दियों में हिस्सा न लेना अलगाववाद नहीं है। कई लेखकों ने इसे 'तीसरी शक्ति' के रूप में भी माना है। परन्तु यह नीति दोनों गुटों के बीच टकराव या संघर्ष की नीति न होकर अन्ततः एक विश्व व्यवस्था की कामना करती है अतः यह तीसरी शक्ति भी नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण थे कि भारत ने इस नीति का अनुसरण किया तथा इसके भारत हेतु क्या परिणाम निकले। भारत की स्वतंत्रता के समय की स्थिति व बाद के अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को देखने से ज्ञात होता है कि इस नीति को अपनाने हेतु निम्नलिखित बहुमुखी कारण थें-

(i) भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व रंगभेद के विरूद्ध एक लम्बा संघर्ष था इसलिए आजादी के बाद भारत का इन मुछों के विरूद्ध लड़ना अनिवार्य था। इस प्रकार का संघर्ष भारत विश्व सैन्य गुटों से अलग रहकर एक स्वतंत्र विदेश नीति के द्वारा ही कर सकता था।

(ii) भारत की भू-राजनैतिक व्यवस्था के फलस्वरूप इसे इस नीति को अपनाना पड़ा। भारत के निकट पड़ोस में दो साम्यवादी ताकतों (सोवियत संघ व चीन) का होना तथा भारत के पड़ोसी देश के साथ सीमा विवाद को लेकर भारत किसी भी गुट बन्धन से अलग रहना चाहता था।

(iii) भारत की उस समय की आर्थिक एवं सैन्य क्षमता तथा भविष्य में भारत की आर्थिक विकास की इच्छाओं के कारण भी उसे विश्व के सभी देशों से पूंजीनिवेश,आर्थिक सहायता,व्यापार आदि की बहुत आवश्यकता थी। अतः वह किसी एक गुट के साथ जुडना ज्यादा लाभप्रद नहीं मानता था।

(iv) विभिन्नि देशों से जुड़ना एक यथार्थवादी पदि श्य भी था क्योंकि इससे भारत के पास अपने विकास के विभिन्न विकल्प उपलब्ध थे।

(v) एक नव - स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत अब अपनी घरेलू एवं बाह्य नीतियों में किसी अन्य राष्ट्र का हस्तक्षेप पसंद नहीं करता था।

(vi) नेहरू का अपना व्यक्तित्व, नये राष्ट्र के समक्ष अपनी स्वतंत्र पहचान की चाह एवं विकास की बाध्यताओं के अनुरूप भी यही नीति अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुई।

उपरोक्त आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से अपनाई गई गुटनिरपेक्षता की नीति के भारत के लिए निम्न परिणाम देखने को मिले-

(i) इसका अर्थ यह निकला कि भारत को अब अपनी नीति में सैन्य के स्थान पर विकास को वरीयता प्रदान करनी होगी। यह केवल आदर्शवादिता ही नहीं थी, अपितु अनिवार्यता थी।

(ii) भारत की आर्थिक सहायता की मांग को देखते हुए भी अब इसे विश्व में सैन्य खर्चों में कटौती तथा गैर - सैन्य तरीकों के द्वारा विश्व शान्ति हेतु प्रयास करना आवयश्यक हो गया।

(iii) भारत को आर्थिक सहायता का स्वरूप भी अपने को दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर न बनाते हुए चुनना था। इसीलिए उसे सभी प्रमुख अर्थव्यवस्था से जुड़ना था। अतः इसकी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक एवं व्यक्तिपरक या निजी क्षेत्रों को बराबर स्थान देना आवश्यक था।

(iv) भारत की सुरक्षा मात्र सभी देशों से अच्छे संबंधों के कहने मात्र से आश्वस्त नहीं हो जाती है। इस द ष्टि से भारत को अपने राज्यों की रक्षा सामर्थ्य बढ़ाने की बजाय, राजनैतिक/राजनयिक विकल्पों पर जोर देने वाला बनना होगा।

(v) शीतयुद्ध की प्रव तियों के महत्वपूर्ण हो जाने से भारत को इन गठबंधनों से दूर रहते हुए विश्व शान्ति हेतु वैकल्पिक प्रयास करने होंगे।

(vi) परमाणु शक्ति के खतरों को देखते हुए भारत को निरस्त्रीकरण बढ़ाने हेतु प्रयास ही नहीं करने होंगे बल्कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रमुख परम्परा के रूप में विकसित करना होगा।

अतः जहां तक भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का प्रश्न है कि इसके माध्यम से नेहरू ने प्रमुख उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि इससे भारत स्वतन्त्र विदेश नीति, गुटों से अलग रहना, विश्व शान्ति, आर्थिक विकास आदि प्राप्त करना चाहता है। इसके अतिरिक्त, भारत अपनी राष्ट्रीय गरिमा के साथ - साथ नवोदित राष ट्रों की समस्या से भी अवगत था। अतः इस नीति के माध्यम से भारत उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा रंगभेद की नीतियों के भी विरूद्ध था। परन्तु भारत उपनिवेशवाद का शिकार होते हुए भी किसी के विरूद्ध स्थाई कट्टरता का रूख नहीं रखता था। अतः भारत ब्रिटेन, अमेरिका, चीन,पूर्व सोवियत संघ आदि सभी देशों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाते हुए अन्ततः शान्तिपूर्ण व सहअस्तित्व पर आधारित एक विश्व स्थापित करने की दिशा में आस्था रखता था।

भारत की सुरक्षा हेतु इस नीति के अन्तर्गत भारत ने सैनिक क्षमता या गुटबन्दी के स्थान पर राजनय को सशक्त माध्यम बनाया। परिणामस्वरूप एक ओर भारत ने दोनों महाशक्तियों से समान दूरी वाले संबंध विकसित करने के प्रयास किए, वहीं दूसरी ओर पड़ोसी राष्ट्रों से मित्रतापूर्वक संबंध बनाने की भरसक कोशिश की। भारत ने इस सन्दर्भ में प्रारम्भ से ही पाश्चात्य देशों (विशेषतौर पर)अमेरिका से मधुर संबंध बनाने के प्रयास किए परन्तु अमेरिका की नीतियों के कुछ प्रमुख विरोधाभाषों के कारण ऐसा संभव नहीं हो सका। पूर्व सोवियत संघ के साथ भी प्रारम्भ में थोड़ी सी दूरी बनी रही परन्तु शीघ्र ही दोनों के बीच घनिष्ठ संबंधों का विकास हुआ। 1970 के दशक तक आते - आते दोनों के बीच कुछ मुख्य मुद्दों को लेकर समान द ष्टिकोणों का विकास हुआ। ये मुद्दे थे - नवोदित राष्ट्रों की स्वतंत्रता का समर्थन ; हिन्द महासागर में बढ़ते सैन्यीकरण का विरोध; तीसरी दुनिया के देशों का विकास ; मुख्य तौर पर समाजवादी व्यवस्था में आस्था आदि। इसके बाद शीत युद्ध के अन्त के बाद रूस से संबंधों की निरन्तरता के साथ - साथ, अमेरिका से भी मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित कर लिए। पड़ोसियों के साथ भी पंचशील के ढाँचे के अन्तर्गत द्विपक्षीय एवं क्षेत्रीय आधार पर संबंधों को मजबूत बनाया। लेकिन कई कारणों से पाकिस्तान से समस्याओं के समाधान में अभी भी कड़वाहट बनी हुई है।

पिछले 56 वर्षों में गुटनिरपेक्षता की नीति की सफलताओं एवं असफलताओं का आंकलन करने से ज्ञात होता है कि इसके माध्यम से भारत को अपने हितों की पूर्ति में आंशिक सफलता प्राप्त हुई।

(i) सर्वप्रथम, 1950 व 1960 के दशकों में इस नीति के आधार पर भारत कुछ मामलों में बहुत सफल रहा। उदाहरणस्वरूप, नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों की मांगों को अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उठाने के सन्दर्भ में भारत को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। परन्तु वहीं दूसरी ओर 1962 चीन व 1965 में पाकिस्तान युद्ध के समय गुटनिरपेक्ष देशों से समर्थन प्राप्ति को लेकर भारत को घोर निराशा हुई। 1962 के युद्ध के समय कोई भी गुटनिरपेक्ष देश चीन को आक्रमणकारी कहने को राजी नहीं हुआ चीन व भारत के मामलों को सुलझाने सम्बन्धित पहल भी बहुत प्रभावी नहीं रही। 1965 के युद्ध के समय यह स्थिति और भी भयंकर सिद्ध हुई। गुटनिरपेक्ष राज्यों, द्वारा भारत को समर्थन तो दूर बल्कि कई देशों ने (मुख्य रूप से इंडोनेशिया) पाकिस्तान को भारत के विरूद्ध लड़ने हेतु हथियार भी प्रदान किए। इस प्रकार इन दशकों में गुटनिरपेक्षता की नीति भारत को सुरक्षा प्रदान करने में विफल रही।

(ii) द्वितीय, परन्तु 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय इसी नीति का अनुसरण करते हुए भारत को अत्याधिक सफलता मिली। भारत केवल अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान से ही निपटने में सफल नहीं रहा, अपितु पाकिस्तान-चीन-अमेरिका त्रिगुट को भेदने में भी सफल रहा। भारत की इस सफलता का मुख्य केन्द्र बिन्दु पूर्व सोवियत संघ के साथ हस्ताक्षरित मित्रता एवं सहयोग की सन्धि को माना जाता है। लेकिन गुटनिरपेक्षता की नीति ने ही भारत को आवश्यक लचक प्रदान की जिससे वह अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप अपनी विदेश नीति को ढालने में सक्षम रहा।

(iii) भारत की विदेश नीति को सबसे महत्वपूर्ण चुनौती 1991 के बाद शीत युद्ध की समाप्ति के बाद हुए परिवर्तनों के अनुरूप अपने आपको ढालने की थी। भारत ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट की घड़ी में भी अपने हितों की उचित रक्षा की। गुटनिरपेक्ष के लचीलेपन के कारण ही भारत जहां एक ओर पूर्व सोवियत संघ के सहयोग पर आश्रित अपनी स्थिति बदलकर अमेरिका से निकट सहयोग बनाने में सक्षम रहा वहीं दूसरी ओर भारत ने अपने को साम्यवादी देशों से विफल आर्थिक व व्यापारिक हितों को आशियान व पूर्वी एशिया के देशों से जोड़ने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, परमाणु अप्रसार, सीटी बीटी व प्रक्षेपास्त्रों के प्रतिबन्धों से निपटने तथा अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर आमसहमति विकसित करने में भी सफलता प्राप्त की। इस प्रकार शीतयुद्धोत्तर युग में नवीन समीकरणों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति में सफलता के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति द्वारा आवश्यक लचीलापन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार गुटनिरपेक्षता की नीति ने विभिन्न क्षणों एवं चुनौतियों के सन्दर्भ में भारत को राजनयिक लचीलापन प्रदान किया है ताकि यह अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने में सक्षम हो सके। यद्यपि प्रारम्भिक संकटों में इसके माध्यम से भारत को सफलता नहीं मिल सकी, परन्तु बाद के वर्षों में यह भारत के लिए अनुकूल साबित हुई। इसके अतिरिक्त, इस नीति के अग्रणीय नेता होने के कारण जवाहरलाल नेहरू अपने समान विचार रखने वाले नेताओं (नासिर, टीटो एवं सुकार्णो) के साथ इसे आन्दोलन का रूप देने में सफल रहे। इसीलिए इसे आन्दोलन के जनक के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसीलिए तीसरी दुनिया के देशों में भारत की छवि इन देशों को नेत त्व प्रदान करने वाली भी बनी। इसके अतिरिक्त, भारत को विभिन्न देशों से आर्थिक सहायता, तकनीक, पूंजीनिवेश आदि प्राप्त होने में सहायक सिद्ध हुई। इस नीति के कारण ही भारत विश्व में शीतयुद्ध युगीन दोनों गुटों से समन्वय बनाने में सफल रहा। वर्तमान शीतयुद्धोतर में आवश्यक लचीलेपन की आवश्यकता की पूर्ति भी भारत को इसी नीति के माध्यम से रही। यद्यपि आज यह विवाद जारी है कि शीतयुद्धोतर युग के नवीन ध्रुवीकरण के कारण यह नीति निरर्थक बन गई है। परन्तु यह सत्य नहीं है; क्योंकि गुटनिरपेक्षता की राष्ट्र की विदेश नीति एवं आन्दोलन दो अलग-अलग वस्तु है। तीसरी दुनिया के एक आन्दोलन के रूप में यह अवश्य शिथिल पड़ गया है, परन्तु एक राष्ट्र की विदेश नीति के रूप में यह हमेंशा सार्थक रहेगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारत है जिसने विश्व में हुए विभिन्न उतार-चढ़ावों के बावजूद इस नीति के माध्यम से अपने हितों की सफलतापूर्वक पूर्ति की है।

2. **पंचशील को अपनाना -** भारतीय विदेश नीति में पंचशील की नीति इसके नैतिक एवं शान्ति स्थापना के मूल्यों का द्योतक है। पंचशील इस द ष्टि से गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्त का ही भाग है। इसके माध्यम से भारत ने अपने पड़ोसियों से संबंधों के मापदण्डों की घोषणा की है। यह सिद्धान्त भारत के ही नहीं अपितु किन्हीं दो पड़ोसियों के आदर्श संबंधों के मापदण्ड भी कहे जा सकते हैं। जवाहरलाल नेहरू अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति को केवल कल्पना तक ही सीमित नहीं रखना चाहजे थे, अपितु विश्व शान्ति स्थापना हेतु इसे व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। इसीलिए इस नीति के क्रियान्वन हेतु शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम 29 अप्रैल 1954 के भारत - चीन व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में प्रतिपादित किया गया जिसे बाद में 28 जून 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई की भारत यात्रा के दौरान जारी संयुक्त घोषणापत्र में दोहराया गया। पंचशील के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(i) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता व सर्वोच्च सत्ता के लिए परस्पर सम्मान की भावना;

(ii) अनाक्रमण

(iii) परस्पर आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना;

(iv) समानता व पारस्परिक लाभ; तथा

(v) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

नेहरू के लिए यह सिद्धान्त मात्र भारत-चीन सहयोग तक ही सीमित नहीं था, अपितु यह भारत के संघर्षों का अन्त हो सकता है। पंचशील द्वारा, गुटनिरपेक्षता की भांति, नेहरू एशिया में 'शान्तिक्षेत्र' को बढ़ाना चाहते थे ताकि इसके अधिप्लावन प्रभावस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में शान्ति स्थापित हो सके। शायद यही कारण था कि इस सिद्धान्त को अफ्रो - एशियाई देशों के बाण्डुग (इन्डोनेशिया) सम्मेंलन 1955 तथा 14 दिसम्बर 1959 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 82 देशों द्वारा इसे भारत की पहल पर स्वीकृत किया। इस प्रकार यह सिद्धान्त भारत द्वारा संघर्ष व युद्ध के विकल्प के रूप में चीन, अपने अन्य पड़ोसी राज्यों तथा विश्व राष्ट्रों हेतु शान्ति स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। यद्यपि 1962 के भारत - चीन युद्ध ने इसकी सफलता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया था, परन्तु भारत ने इसका अनुसरण करना नहीं छोड़ा। इसके विपरीत शीतयुद्धोत्तर भारत - चीन के सुधरते सम्बन्धों में इस सिद्धान्त को दोबारा व्यवहार में लाया जा रहा है। उदाहरणस्वरूप, 1988 के बाद इन दोनों देशों के सुधरते संबंधों के परिणामस्वरूप राजीव गाँधी (1988), पी0 वी0 नरसिम्हाराव (1993), के० आर० नारायणन (1999) तथा अटल बिहारी वाजपेयी (2003) की चीन यात्राओं तथा ली पेंग (1991), जियांग जमीन (1996), ली पेंग (2001) तथा झू रोंगजी (2002) की भारत यात्राओं के दौरान दोनों देशों ने पंचशील के सिद्धांतों में फिर संयुक्त घोषणापत्रों के माध्यम से आस्था अभिव्यक्त की है।

3. **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में आस्था** - भारत की विदेश नीति की एक अन्य विशेषता यह है कि वह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास रखती है। य़द्यपि यह सिद्धान्त पंचशील का ही एक हिस्सा है, तथापि यह एक व्यापक अर्थ रखती है। व्यापक संदर्भ में यह भारत की 'जियो और जीने दो' की परम्परा का धोतक है। इस पंचशील से एक संदर्भ में अलग देखा जा सकता है, क्योंकि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व द्वारा विश्व में वैचारिक या अन्य किन्हीं आधारों पर स्थापित भेदभाव की मान्यता को अस्वीकार कर सभी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सैन्य गठबंधनों के संबंध में भी उनके गुट में भागीदारी न करते हुए भी अन्य क्षेत्रों में संबंध विकसित करने की मनाही नहीं है। शीतयुद्ध काल में साम्यवादी एवं पूंजीवादी गुटों की सैन्य नीतियों की आलोचना करते हुए भी सीमित स्तर तक आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी, सांस्क तिक आदि संबंधों का विकास जारी रहा। इस प्रकार विश्व शांति व विकास की सभी प्रतिक्रियाओं में सभी राष्ट्रों से मित्रतापूर्वक एवं सद्भावना आधारित संबंधों पर बल दिया। शीतयुद्धोत्तर भी विभिन्न राज्यों से परमाणु अप्रसार, भावी आर्थिक विश्व व्यवस्था, संयुक्त राष्ट्र का प्रजातान्त्रिकरण, निरस्त्रीकरण, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका, युद्ध एवं शान्ति के मुद्दों आदि विषयों पर मतभेद होने के बावजूद भी इनसे व्यापार, पूंजीनिवेश, प्रौद्योगिकी सहयोग आदि आज भी जारी है।

4. **साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं रंगभेद का विरोध** - भारत ने उपनिवेशवाद के विरूद्ध अपना संघर्ष अति गंभीर रूप से लिया। भारत ने इसे केवल अपने देश की स्वतन्त्रता तक ही सीमित न रखकर सम्पूर्ण उपनिवेशवादी ताकतों के विरूद्ध तथा सभी अधीन देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण द ष्टिकोण के रूप में लिया है। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई भारत ने इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता के रूप में लड़ी। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से ही नहीं, बल्कि नई दिल्ली में 1949 में एशियाई देशों का सम्मेंलन बुलाकर इंडोनेशिया की आजादी हेतु भरसक प्रयास किए। जिनके परिणामस्वरूप अन्ततः इंडोनेशिया को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य घोषित कराने में सफल हुआ। 1950 के दशक में भारत ने कई राष्ट्रों की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसमें प्रमुख रूप से इटली एवं फ्रांस के अधीन उपनिवेशों को स्वतन्त्र कराने के प्रयास शामिल हैं। भारत ने इटली के पूर्व उपनिवेशों लीबिया, इरिटेरिया व इटालियन सोमालीलैंड (1949-52) तथा फ्रांस के पूर्व उपनिवेशों मोरक्को (1951-56), तुनिसिया (1952-56), अल्जीरिया (1955-56) तथा साइप्रस (1956-60) को भी मुक्त कराया। अतः 1950 व 60 के दशकों में ज्यादातर अफ्रीकी व एशियाई देशों को उपनिवेशवाद से मुक्त कराने हेतु भारत ने संयुक्त राष्ट्र के मंचों एवं इसके बाहर बहुत महत्वपूर्ण प्रयास किए।

रंगभेद की नीतियों के विरूद्ध भी भारत ने भरसक प्रयत्न किए। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीतियों का विरोध महात्मा गांधी से लेकर स्वतन्त्र भारत में भी बहुत सशक्त रूप से हुआ। भारत ने लम्बे समय तक इस देश के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध भी इसी नीति के विरोध स्वरूप स्थापित नहीं किए। संयुक्त राष्ट्र, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों के माध्यम से इस नीति को समाप्त करने की बात बहुत ही सशक्त रूप से पेश की। यद्यपि इस रंगभेद के विरूद्ध भारत की लड़ाई में अमेरिका व इंग्लैंड का पूर्ण सहयोग प्राप्त न होने के कारण कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। परन्तु फिर भी भारत जनमत को इसके विरूद्ध करने में सफल रहा। भारत के निरन्तर प्रयासों के कारण सुरक्षा परिषद् ने दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के विरूद्ध प्रतिबंधों की घोषणा की। 1963 में इन प्रतिबंधों के अन्तर्गत इस देश को भेजे जाने वाले सभी सैन्य सामानों पर रोक लगा दी गयी है। 1965 में इस देश के विरूद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा की गई। इस समस्या की ओर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का ध्यानाकर्षण हेतु 1971 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा 'रंगभेद नीति पर नियन्त्रण हेतु कार्य करने का अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष' घोषित किया गया। इस प्रकार भारत की सक्रिय भूमिकाओं के साथ-साथ अन्य एशियाई व अफ्रीकी देशों के समर्थन से जिम्बावे (1980), नामीबिया (1990) आदि की स्वतंत्रता के साथ-साथ दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद रहित सरकार की स्थापना हुई। अतः भारत की विदेश नीति में रंगभेद के विरूद्ध संघर्ष एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। भारत अपने विदेश नीति के सिद्धान्तों एवं व्यवहार में हमेंशा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर रंगभेद नीति की समाप्ति हेतु प्रसासरत ही नहीं रहा, अपितु अग्रणीय राष्ट्रों में से रहा है। उसने इस मुद्दे पर पहल ही नहीं की अपितु इसे व्यवहारिक दर्जा देने हेतु अपने राष्ट्रीय हितों की परवाह न करते हुए सभी महत्वपूर्ण कदम उठाए। अन्ततः भारत के दबावो, जनमत तथा तीसरी दुनिया के देशों के सामूहिक प्रयासों से भारत को इस नीति को समाप्त करने में सफलता प्राप्त हुई।

5. **निरस्त्रीकरण स्थापित करना** - भारत ने सदैव विश्व में सामान्य एवं व्यापक निरस्त्रीकरण हेतु प्रयास किए है। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र या उसके बाहर सभी मंचों पर निरस्त्रीकरण की प्रबल वकालत करने वाले राष्ट्रों में हमेंशा भारत अग्रणीय स्थान रहा है। भारत ने सदैव संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित प्रस्तावों का समर्थन किया है या अपने ज्ञापनों एवं संशोधनों के माध्यम से इस प्रक्रिया को सुद ढ़ बनाया है। इस दिशा में नेहरू सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने परमाणु शस्त्रों से मुक्त विश्व स्थापित करने हेतु 2 अप्रैल 1954 में संयुक्त राष्ट्र में "स्टैंडस्टील रैजोल्यूशन" प्रस्तुत किया। परन्तु जब 1959 तक भारत के बार - बार दोहराने के बाद भी कोई कार्यवाही नहीं हुई तब भारत की पहल पर 1961 में महासभा ने 'निरस्त्रीकरण समिति ' के रूप में एक स्थाई समिति की स्थापना पर सहमति व्यक्त की। इन प्रयासों के फलस्वरूप ही 1963 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा ' मास्को टेस्ट बेन ट्रीटी' आंशिक परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि (पी०टी०बी०टी) पर सहमति हुई। इसे पांच परमाणु शक्तियों एवं भारत सहित कई राज्यों ने स्वीकृति प्रदान की।

यह सर्वविदित है कि 1963 की सन्धि आंशिक थी, क्योंकि इसके माध्यम से केवल जल, वायु तथा थल पर ही परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था, लेकिन भू-गर्भ द्वारा किए जाने वाले परीक्षणों पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी। भारत ने गुटनिरपेक्ष देशों के माध्यम से 'निरस्त्रीकरण समिति' के माध्यम से एक नई सन्धि के पारित होने पर बल दिया। इसके परिणामस्वरूप 12 जून 1968 को परमाणु अप्रसार सन्धि (एनपी0टी) पर सहमति हो गई जिसे मार्च 1970 से माना गया। परन्तु भारत ने इस सन्धि की कमियों के कारण आज तक उस पर हस्ताक्षर नहीं किए है। भारत का इस सन्दर्भ में मुख्य विरोध इस सन्धि का महासभा द्वारा पारित नवम्बर 1965 में 18 राष्ट्रों की समिति के प्रस्तावों के अनुरूप न होना है। उस प्रस्ताव में सम्मिलित चार मुख्य आधारों की पूर्ति इस सन्धि के माध्यम से नहीं होती है। ये चार प्रमुख तत्व थे- (i) इस सन्धि द्वारा परमाणु राष्ट्रों एवं गैर-परमाणु राष्ट्रों द्वारा परमाणु प्रसार पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए; (ii) इससे परमाणु एवं गैर परमाणु राष्ट्रों के बीच परस्पर उत्तरदायित्व व कार्यों के बीच तालमेंल होना चाहिए; (iii) यह सामान्य एवं व्यापक निरस्त्रीकरण, विशेषकर परमाणु निरस्त्ररीकरण, स्थापित करने की दिशा में कदम होना चाहिए; तथा (iv) इसमें इस सन्धि को प्रभावी करने सम्बन्धित धाराओं का प्रावधान होना चाहिए। बाद के वर्षो में भारत ने इस सन्धि के भेदभाव पूर्ण होने तथा व्यापक न होने के कारण भी हस्ताक्षर करने से मना कर दिया।

परमाणु अप्रसार सन्धि से उत्पन्न गतिरोधों के बावजूद भी भारत ने व्यापक आधार वाली सन्धि पर सहमति के प्रयास जारी रखे। परन्तु 1978 तक ज्यादातर निरस्त्रीकरण सम्बन्धित प्रयास दोनों महाशक्तियों के बीच ही सिमट कर रह गए। काफी समय बाद 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने निरस्त्रीकरण पर पहला विशेष सम्मेंलन बुलाया। इसी कड़ी में द्वितीय

विशेष सम्मेंलन, 1982 में श्रीमति इंदिरागांधी ने परमाणु शस्त्रों के प्रयोग न करने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेंलन बुलाने; परमाणु हथियारों के उत्पादन या विस्फोटक सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाने, तथा सभी हथियारों से जुड़े परमाणु परीक्षणों पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाने के बारे में सुझाव दिए।

संयुक्त राष्ट्र का तीसरा विशेष सम्मेंलन जून 1988 में बुलाया गया जिसमें भारत ने विशेष भूमिका निभाई। राजीव गांधी ने इस सन्दर्भ में सन् 2010 तक विश्व को परमाणु हथियारों से मुक्त बनाने हेतु महत्वपूर्ण रूपरेखा पेश की। यह प्रस्ताव तीन चरणों में पूरा होना था। प्रथम चरण (1988 - 1994) में मुख्य रूप से आणविक हथियारों में भारी मात्रा में कटौती; परमाणु हथियारों एवं विस्फोटक सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध; परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध; परमाणु हथियारों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध; अन्तरिक्ष में हथियारों के परीक्षणों एवं विस्थापन पर रोक; संयुक्त राष्ट्र जाँच व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया गया। इसके अतिरिक्त, नाटो एवं वारस सन्धि देशों के पारम्परिक हथियारों में कटौती की बात भी की गई। द्वितीय चरण (1995-2000) में, प्रथम चरण की गतिविधियों को आगे बढ़ाने के कार्यक्रम निर्धारित किए गए। इसमें मुख्य रूप से पारम्परिक हथियारों के सैन्य सम्बन्धित अड्डों की समाप्ति करने; एक व्यापक विश्व सुरक्षा व्यवस्था बनाने; संयुक्त राष्ट्र को मजबूत बनाने आदि के कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया। त तीय चरण (2001-2010) में मुख्य रूप से सभी राज्यों के लिए कम से कम आवश्यक सुरक्षा सम्बन्धित निरस्त्रीकरण होना चाहिए तथा अहिंसा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के नये ढाँचे का निर्माण होना चाहिए। इस कार्यक्रम के माध्यम से राजीव गाँधी का मानना था कि सभ्य समाज हेतु अहिंसा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संबंध ही केवल एकमात्र विकल्प है।

इसके अतिरिक्त, भारत ने हमेंशा भेदभावपूर्ण एवं आंशिक निरस्त्रीकरण सम्बन्धी सन्धियों का विरोध किया है। इस दिशा में 1970 की 'परमाणु अप्रसार सन्धि' (एन.पी.टी.) पर भारत का विरोध सर्वविदित है। इस कमी को पूरा करने हेतु शीतयुद्धोत्तर युग में दिसम्बर 1993 में भारत ने अमेरिका के साथ संयुक्त रूप से 'व्यापक परमाणु निषेध संधि' (सी. टी. बी. टी) का प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र में प्रस्तुत किया। परन्तु इस बीच ही परमाणु शस्त्रों से सम्पन्न राष्ट्रों ने 'परमाणु अप्रसार सन्धि' को भी 1995 में "असीमित" समय के लिए स्वीकृत करा लिया। जिसे बाद में विश्व के लगभग 180 राष्ट्रों की स्वीकृति मिल गई। इस घटना क्रम तथा सी.टी.बी.टी. के प्रारूप पर हुई बहस ने यह सिद्ध कर दिया कि यह नई सन्धि (सी.टी.बी.टी.) भी एक व्यापक व सार्वभौमिक सन्धि होने के बजाय भारत के परमाणु कार्यक्रमों पर रोक लगाने तथा अन्ततः समाप्त करने हेतु बनाई जा रही है। सन्धि पर वार्ताओं के दौर में भारत की बातों को नकारते हुए इस सन्धि के प्रभावी होने के अनुच्छेद से भारत को स्पष्ट हो गया कि यह उसके विरूद्ध षड़यंत्र का स्वरूप है। अतः उसने इसे मानने से इन्कार करते हुए इससे अपने को अलग कर लिया। अन्ततः परमाणु शक्ति राष्ट्रों के बढ़ते दबाओं के कारण 11व 13 मई 1998 को अपने परमाणु विकल्प का प्रयोग कर अपने को परमाणु शक्ति सम्पन्न घोषित कर दिया।

भारत की नीति में उपरोक्त परिवर्तन स्तही तौर पर निरस्त्रीकरण के प्रति विरोधाभास प्रतीत होता है। लेकिन यदि गहन अध्ययन करें तो पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश की बाध्यताओं के अनुरूप भारत को अपने 24 वर्षों का संयम (1974 से 1998) तोड़ना पड़ा। अभी भी परमाणु विस्फोटों के बाद भारत ने स्वयं पर अंकुश लगाने की बात की तथा यह एकतरफा कार्यवाई बिना किसी दबाव के होगी। भारत ने 'प्रथम प्रयोग न करने' के सिद्धान्त तथा गैर-परमाणु राष्ट्रों के विरूद्ध भी परमाणु हथियारों के प्रयोग की मनाही की है। भारत ने सिर्फ अपनी सुरक्षा हेतु इसे 'न्यूनतम निरोधक' क्षमता तक ही विकसित करने की बात की है। अतः भारत आज भी किसी भी व्यापक स्वरूप वाली समता पर आधारित सार्वभौमिक सन्धि पर हस्ताक्षर करने का पक्षधर है। इसलिए निरस्त्रीकरण के प्रति वचनबद्धता आज भी भारतीय विदेश नीति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

6. **नई अन्तर्राष्टीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की पक्षधर** - भारत की विदेश नीति में राजनैतिक व सामरिक मुद्दों के साथ-साथ आर्थिक मुद्दों पर भी महत्त्वपूर्ण बल दिया। विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में 1950 व 1960 के दशकों में राजनैतिक मुद्दों को भारत ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से उठाया। परन्तु 1970 के दशक में ज्यादातर तीसरी दुनिया के देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं विकास हेतु 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (एन.आई.ई.ओ) की स्थापना पर बल दिया। भारत का इसके पीछे तर्क था कि जब तक इन विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं, जैसे- गरीबी, भूख, बीमारी,बेरोजगारी आदि, का निदान नहीं होता तब तक वहां आर्थिक सम द्धि नहीं आ

सकती। इस आर्थिक क्षमता के विकास के बिना इन राष्ट्रों को विश्व में समानता, स्वतन्त्रता एवं सम्मान भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः भारत ने गुटनिरप्रेक्ष आन्दोलन के मंचों के माध्यम से 1970 के दशक में इसे इस आन्दोलन की विषय सूची का भाग बनाया। 1973 के अल्जीरिया सम्मेंलन में विश्व शान्ति की समस्या को आर्थिक विकास व स्वतन्त्रता से जोड़ा गया। अन्ततः भारत व अन्य विकासशील देशों के प्रयास के बाद संयुक्त राष्ट्र ने 1 मई, 1974 को 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की घोषणा की। बाद में 1983 की 'नई दिल्ली घोषणा' में भी इसे अत्याधिक महत्त्व प्रदान किया गया।

शीतयुद्धोत्तर युग में यद्यपि भारत अब भूमंडलीकरण, उदारीकरण व मुक्त बाजार व्यवस्था अपना रहा है परन्तु वह आज भी इन देशों के हितों की रक्षा करके इस बदलाव के दौर में इन राष्ट्रों में स्थाईत्व का पक्षधर बना हुआ है। सर्वप्रथम, गैर वार्ताओं के माध्यम से 'विश्व व्यापार संगठन' के अन्तर्गत बहुपक्षीय आधार पर व्यापारिक शर्तों को विकासशील देशों हेतु न्यायोचित बनाने में प्रयासरत रहा है। द्वितीय, जी -77 व जी-15 देशों के समूह के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र में तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाकर भारत इनके आर्थिक विकास हेतु सचेत है। त तीय, बदलते हुए परिवेश में विकसित देशों के आर्थिक गुटों में बटने के कारण (यूरोपीय संघ,नाफता,एशिया-प्रशान्त सहयोग आदि) भारत तीसरी दुनिया या गुटनिरपेक्ष देशों को भी विभिन्न क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों (हिन्दमहासागर टिम,साफ्ता आदि) के माध्यम से विकास करने का पक्षधर है। अतः इन प्रयासों के माध्यम तथा अपनी विदेश आर्थिक नीति के माध्यम से भारत आज भी विकासशील देशों तक बदलती हुई विश्व व्यवस्था के आर्थिक लाभों को पहुँचाना चाहता है। इसके अतिरिक्त, भारत इस नई स्थिति में इन देशों के विरूद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा या विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से सामाजिक धारा,बाल श्रम, मानवाधिकार आदि के नाम पर होने वाले किसी भी प्रकार के शोषण से रक्षा हेतु भी भरसक प्रयत्न कर रहा है।

7. **संयुक्त राष्ट्र में निष्ठा -** भारत ने अपनी नीति द्वारा हमेंशा न केवल संयुक्त राष्ट्र की स्थापना प्रक्रिया का समर्थन किया है बल्कि इसके द्वारा स्थापित मूल सिद्धान्तों व उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनी वचनबद्धता दोहराई है। नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में बोलते हुए 3 नवम्बर 1948 को कहा था कि भारत न केवल पूर्ण रूप से चार्टर के सिद्धांतों एवं उद्देश्यों हेतु वचनबद्ध है अपितु अपनी पूर्ण क्षमता के साथ उनको लागू करने की कोशिश भी करेगा। क्योंकि नेहरू का मानना था कि कुछ कमियों के बावजूद भी यह मूल कार्य को करने में सक्षम है और इसे यदि हमने आज स्थापित व मजबूत नहीं किया होता तब भी राष्ट्र इस प्रकार के संगठन की स्थापना हेतु अवश्य एकजुट हो जाते। लगभग इसी प्रकार के उदगार नेहरू ने 5 मई 1950 को संयुक्त राष्ट्र नेटवर्क से न्यूयार्क में बोलते हुए प्रकट किए जब उन्होंने कहा कि संयुक्त राष्ट्र के मात्र अस्तित्व से ही हमने अपने आपको कई प्रकार के खतरों एवं संकटों से बचा लिया है। इसके साथ-साथ, आज के विश्व में राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सहयोग की यह एक मात्र किरण है। सामान्य समय में ही नहीं बल्कि निराशा के दौर में भी भारत ने संयुक्त राष्ट्र से कभी भी अपना समर्थन वापिस नहीं लिया। कश्मीर जैसे मुद्दे का हल न होने पर भी भारत की संयुक्त राष्ट्र से आस्था में कभी कमी नहीं आई।

भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्तों में आस्था का प्रमुख कारण भारत का स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं संयुक्त राष्ट्र के सिद्धान्तों व उद्देश्यों में काफी समानताएँ विद्यमान होना है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्त,जैसे विश्व शान्ति, समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल, रंगभेद की समाप्ति, सहनशीलता, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक व आर्थिक सहयोग, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व आदि मूल रूप में संयुक्त राष्ट्र कार्यसूची का भी भाग है। भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमख मूल्य एवं आदर्श भी संयुक्त राष्ट्र के मूल्यों एवं आदर्शों से काफी हद तक मेंल खाते हैं।

इसीलिए शीतयुद्ध युगीन विश्व व्यवस्था के दौरान भारत ने संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद आदि की समस्याओं के निवारण के साथ-साथ विश्व शान्ति की स्थापना हेतु पारम्परिक एवं परमाणु निरस्त्रीकरण की समस्या को हल करवाने के काफी प्रयास किए। यद्यपि कुछ मुद्दों पर सफलता भी मिली, परन्तु सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सका। परन्तु भारत इस संगठन के माध्यम से उन्हें भी विश्व जनमत के सम्मुख प्रस्तुत कर सका। उत्तर-शीतयुद्ध काल में भी नई आर्थिक व्यवस्था के गठन, उत्तर-दक्षिण संवाद, आदि के आर्थिक मुद्दों पर भी भारत की प्रतिक्रियाएँ महत्त्वपूर्ण रही है। संयुक्त राष्ट्र में आजकल चर्चित बहुत सी महत्त्वपूर्ण रही है। संयुक्त राष्ट्र में आजकल चर्चित बहुत सी महत्त्वपूर्ण चर्चाओं जैसे पर्यावरण सुधार, आतंकवाद पर प्रतिबन्ध, धरती को बचाने के कार्यक्रमों, ओजोन

परत को क्षीण होने से रोकना, प्रदूषण को कम करना आदि के संदर्भो में भी भारत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। परन्तु संयुक्त राष्ट्र में पाँच महाशक्तियों द्वारा प्रयोग में की गई वीटो शक्ति के कारण भारत की भूमिका उतनी सशक्त नहीं हो पा रही है। दूसरे विश्व में आये आमूलचूक परिवर्तनों के मध्य नजर भी संयुक्त राष्ट्र का शक्ति विभाजन संतुलित प्रतीत नहीं होता। इसीलिए इस संस्था को और अधिक कारगर एवं उपयोगी बनाने हेतु भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रजातान्त्रिकरण हेतु भी काफी प्रयास कर रहा है। अतः विभिन्न बदलावों के बावजूद भारत की विदेश नीति में संयुक्त राष्ट्र में आस्था, इसमें सक्रिय योगदान व रूचि तथा इसके उत्तरदायित्वों को वहन करने की नीति निरन्तर रूप से जारी है।

8. **विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने का पक्षधर** -भारत की विदेश नीति हमेंशा विश्व में घटित विवादों को शान्तिपूर्ण हल करने की पक्षधर रही है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा शान्ति स्थापित करने की कार्यवाही के सन्दर्भ में भारत हमेंशा अध्याय VII (दंडात्मक कार्यवाही/सामूहिक सुरक्षा के माध्यम से) के स्थान पर अध्याय VI (शान्तिपूर्ण तरीको से विवादों को सुलझाना) के अन्तर्गत कार्यवाही का पक्षधर रहा है।

भारत का मानना रहा है कि दण्डात्मक कार्यवाही से राज्यों के बीच मतभेद या मनमुटाव और बढ़ जाता है, जबकि शान्तिपूर्ण तरीकों के माध्यम से किया गया समाधान ज्यादा स्थाई सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में भारत सुरक्षा परिषद सुरक्षा एवं महासभा की शक्तियों में परिवर्तन का पक्षधर नहीं है अपितु इसका मानना है कि किसी भी प्रकार से परिषद् की शक्तियों को घटाकर महासभा की शक्तियों में व द्धि नहीं की जानी चाहिए। ऐसा करना अन्यायपूर्ण ही नहीं, अपितु राजनैतिक तौर पर भी गलत होगा। शायद इसी कारण से जब नवम्बर 1949 को 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के माध्यम से महासभा की शक्तियों में व द्धि करने की बात हुई तब भारत वोट डालने के समय अनुपस्थित रहा। बल्कि भारत का मानना है कि संयुक्त राष्ट्र की किसी भी कार्यवाही को प्रभावी रूप से करने हेतु पाँचों वीटो शक्तियों की सहमति आवश्यक है, उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र की सैन्य कार्यवाही हेतु भी पाँचों वीटो शक्तियों की स्वीकृति का प्रावधान है।

शीतयुद्धोत्तर युग में भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रजातान्त्रिकरण हेतु भी शक्ति नहीं बल्कि आपसी सहमति को आधार बनाने का पक्षधर है। भारत की मांग बदले हुए विश्व के क्षितिज तथा समानांतर स्थिति के साथ-साथ नैतिकता एवं सर्वसम्मति पर आधारित है। भारत की यह मांग मूलतः नैतिकता, राजनैतिक, सुचारू विश्व व्यवस्था तथा प्रभाविकता पर आधारित है। अतः प्रारम्भिक वर्षो से लेकर शीतयुद्धोत्तर युग तक भारत का अटूट विश्वास रहा है कि विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना ही स्थाई एवं कारगर तरीका है। इसी माध्यम से विश्व में दूरगामी शांति एवं स्थिरता बनी रह सकती है।

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारत की विदेश नीति की उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर ही भारत न केवल अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति मात्र में व्यस्त है, अपितु वह विश्व शान्ति के प्रयासों को बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। इन्ही विशेषताओं के द्वारा वह अपने द्विपक्षीय मतभेदों को हल करके परस्पर राष्ट्रों से अच्छे संबंधों के साथ-साथ क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करने में प्रयासरत है। भारत की विदेश नीति के अन्तर्गत इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हिंसा का कोई स्थान नहीं है, बल्कि वह चाहता है कि मतभेदों को भी शान्तिपूर्ण ढ़ग से हल करना ज्यादा श्रेयकर रहेगा। इसके साथ-साथ इसका है कि इस सन्दर्भ में राज्यों को हथियारों की होड़ को समाप्त करके निरस्त्रीकरण पर बल देना होगा। इस सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु वह समानता व न्याय पर आधारित नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विश्व व्यवस्था का पक्षधर है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब इस बदले हुए विश्व में संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था कार्य करे। शायद इसीलिए वर्तमान सन्दर्भ में ईराक के किरूद्ध कार्यवाही में भारत संयुक्त राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका का का पक्षधर है। इसके साथ-साथ भारत संयुक्त राष्ट्र के प्रजातान्त्रिकरण की मांग भी करता रहा है। अतः भारत की विदेश नीति गुटनिरपेक्षता, पंचशील, शान्तिपूण। सह-अस्तित्व के साथ-साथ विश्व शान्ति, सहयोग, निरस्त्रीकरण आदि को बढ़ावा देने की नीति है।

अध्याय-23
भारत के पड़ोसियों से सम्बन्ध
(India's Relations with her Neighbours)

पड़ोस नीति का स्वरूप

विदेश नीति के निर्धारण में प्रत्येक राज्य को अपने पड़ोसी राष्ट्रों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब देश की सुरक्षा को पड़ोसी राज्यों की राजनीति प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। भारत के पांच से भी अधिक दशकों के इतिहास के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसीलिए भारत की विदेश नीति का केन्द्र बिन्दु अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सामरिक रूप से सुरक्षित, राजनैतिक रूप से स्थिर एवं शान्तिपूर्ण तथा आर्थिक रूप से सहयोगात्मक संबंध स्थापित करना रहा है। अतः भारत सक्रिय रूप से निरन्तर अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ संबंधों की प्रक्रिया में लगा रहता है।

भारत के विभिन्न पड़ोसियों से अलग-अलग संबंधों को अध्ययन करने से पूर्व यह अनिवार्य है कि भारत की पड़ोस नीति के विभिन्न चरणों का आंकलन करें। यद्यपि मुख्य रूप से भारत की विदेश नीति के प्रमुख आयामों में से एक है सभी पड़ोसियों से मधुर सम्बन्ध, फिर भी अलग-अलग नेत त्व के समय उन बिन्दुओं पर बल देने की विभिन्नता के कारण थोड़ा बहुत अन्तर जरूर दिखाई पड़ता है। पिछले 56 वर्षो में (1947-2003) मुख्य रूप से भारत की पडोस नीति के पांच प्रमुख चरण माने जा सकते हैं -

(i) प्रथम चरण नेहरू युग 1947-1964 को मान सकते है जिसमें भारत विश्व स्तर पर अधिक प्रभावी होने की चाह में पड़ोसियों पर कम ध्यान दे सका। यद्यपि इस सन्दर्भ में पंचशील के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया गया, तथापि चीन से ही युद्ध का सामना भी करना पड़ा। इस संकट के समय में पडोसियों द्वारा कोई प्रभावी पहल न करने व समर्थन न देने के कारण भी भारत को पड़ोसियों के प्रति उदासीनता की नीति को छोड़ना पड़ा।

(ii) द्वितीय चरण इन्दिरा गान्धी युग (1966-1984) को माना जा सकता है जो नेहरू के आदर्शवाद के स्थान पर यर्थाथवादी नीतियों का काल था। इस समय में विश्व सन्दर्भ में भारत की स्थिति को मजबूत करने के साथ-साथ दक्षिण एशिया में भी इसकी स्थिति को सुद ढ़ किया गया। भारत-सोवियत मैत्री सन्धि व हिन्दमहासागर शान्ति क्षेत्र घोषित होने के साथ-साथ क्षेत्रीय सन्दर्भ में भारत-पाक युद्ध में विजय के साथ-साथ परमाणु परीक्षण, एकीकृत प्रक्षेपास्त्र प्रणाली, रक्षा क्षेत्र में विकास आदि के द्वारा रक्षा में आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश भी की।

(iii) त तीय चरण (1985-1996) तक का काल तदर्थता का युग माना जा सकता है। विभिन्न सरकारों के आने, पड़ोसियों से विभिन्न मुद्दों पर मनमुटाव, आन्तरिक राजनैतिक अस्थिरता आदि के कारण इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका। यद्यपि दक्षेस की स्थापना से क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने का प्रयास अवश्य किया गया, परन्तु यह प्रयोग अधिक सफल नहीं हो सका।

(iv) चतुर्थ चरण(1997-98) बहुत संक्षिप्त परन्तु महत्वपूर्ण समय गुजरात सिद्धान्त के स्थापित होने को मान सकते है। इस समय सिद्धान्त के आधार पर एक तरफ रियायतों की घोषणा के आधार पर छोटे पड़ोसी राज्यों से जुड़े सभी विवादों को हल करके सहयोग विकसित करने के प्रयास किये गए। इसके साथ-साथ दक्षिण एशिया में उप-समूहों के माध्यम से पड़ोसियों के साथ सहयोग विस्तार पर बल दिया गया।

(v) अन्तिम चरण (1998-2003) राष्ट्रीय गठबन्धन सरकार द्वारा वाजपेयी के जनता कार्यकाल में विदेश मंत्री के समय (1977-99) की नीतियों एवं गुजराल सिद्धान्त को मिश्रण के अपनाते हुए सभी पड़ोसियों से अच्छे संबंधों, का प्रयास किया गया। इसके अन्तर्गत छोटे पड़ोसियों के साथ-साथ भारत के दोनों बड़े पड़ोसियों चीन व पाकिस्तान के साथ संबंधो को सुधारने के प्रयास किए गए। चीन के साथ मई 1998 के बाद आये तनाव को परस्पर राजनेताओं की यात्राओं के माध्यमों से दूर करने के प्रयास किए गए। भारत की ओर से जसवन्त सिंह (1995-2001), के0 आर0 नारायणन (2000) तथा अटलबिहारी वाजपेयी (2003) ने चीन की यात्राएं की तो, चीन की ओर से ली पेंग (1999) झू0 रोंगजी (2002) व कई अन्य प्रभुख नेताओं ने भारत की यात्राएं की। पाकिस्तान के साथ भी प्रयास तो किए गए लेकिन ज्यादातर विफल रहे। लाहौर यात्रा (1999) के बाद कारगिल युद्ध (1999) हो गया। 13 दिसम्बर 2001 को भारत संसद पर आंतकवादी हमलों के बाद ऑपरेशन पराक्रम (2001-2002) की विफलता के बाद आगरा शिखर वार्ता (2002) भी असफल रही। वर्तमान में श्रीनगर पहल (2003) के क्या परिणाम होंगे कहना अभी जल्दबाजी होगी।

अतः पडोसियों से संबधों का सिलसिला उतार-चढाव वाला रहा है। इसके कुछ वस्तुनिष्ठ कारण उत्तरदायी रहें है जैसे - क्षेत्रीय भूगोल, राजनैतिक विरासत, आकारों में अन्तर, संसाधनों की विभिन्नता, जातीय, नदियों एवं अनिश्चित सीमाएँ आदि। कुछ व्यक्तिपरक कारण भी जिम्मेंदार रहे है जैसे - विभिन्न विदेश नीतियां, नेत त्व, राजनैतिक अस्थिरता, परस्पर अविश्वास, सकारात्मक द ष्टिकोणों का अभाव, आन्तरिक प्रजातान्त्रिकरण का अभाव सैन्य शासकों का वर्चस्व, कट्टरवाद आदि। परन्तु इन दोनों कारकों का प्रभाव अलग-अलग पड़ोसियों व विभिन्न समयों में प थक-प थक रूप में देखने को मिलता है। अतः इनको समझने हेतु भारत के सभी पड़ोसी राज्यों के साथ संबंधों का विस्त त वर्णन अनिवार्य है, जो इस प्रकार से है।

भारत-चीन संबंध

(Simo-Indian Relations)

भारत व चीन के संबंधों की शुरूआत मधुर संबंधों के साथ हुई। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का नेत त्व चीन महत्व से अनभिज्ञ नहीं था। चीन में आये क्रांतिकारी बदलाव का आंकलन भी भारत ने सही परिप्रेक्ष्य में किया, अतः दोनों के मध्य अच्छे संबंधों की शुरूआत हुई। यही नहीं, अक्टूबर 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के बाद 30 दिसम्बर 1949 को उसे मान्यता प्रदान करने वाला, बर्मा (म्यांमार) के बाद, भारत दूसरा गैर-साम्यवादी देश था। यद्यपि इस प ष्ठभूमि में दोनों के मध्य दूरगामी मधुर संबंधों से इन्कार नहीं किया जा सकता, तथापि यह भी सत्य है कि दोनों के मध्य 1962 में युद्ध हुआ। अतः एक ओर 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का दौर रहा वहीं दूसरी ओर 14 वर्षों तक 'संबंध रहितता' का काल भी रहा। इन सभी उतार-चढ़ावों से युक्त संबंधों के अध्ययन हेतु दोनों देशों के रिश्तों का विस्त त आकलन आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है-

1. **संबंधों का स्वर्णिम युग (1949-1959)**- दोनों देशों के बीच संबंधों का प्रथम दशक मैत्रीपूर्ण एवं सहयोगात्मक रहा है। इनकी मित्रता के स्वरूप की प्रगाढ़ता के कारण इसे 'प्रमोद युग' या 'स्वर्णिम युग' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के संबंधों हेतु कई प्रमुख कारक उत्तरदायी रहे हैं- प्रथम, भारत ने एक प्रजातांत्रिक देश होते हुए भी एक साम्यवादी देश को मान्यता ही नहीं प्रदान की अपितु सभी अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर इसकी मान्यता एवं सदस्यों की अन्य शक्तियों के समक्ष वकालत भी की। द्वितीय, भारत ने कई नीतियों के माध्यम से चीनी द ष्टिकोण एवं स्थितियों का समर्थन किया। उदाहरणस्वरूप 1950 में कोरिया संकट के समय चीन को आक्रान्ता घोषित करने के प्रस्ताव का विरोध करके, 1951 में सॉनफ्रांसिस्को सम्मेंलन में जापान के साथ शांति संधि घोषणा पर हस्ताक्षर न करके तथा फोरमासा टापू को चीन में विलय करने का समर्थन करके भारत ने चीन के पक्षों को सदैव मजबूती प्रदान की। त तीय, 29 अप्रैल 1954 को दोनों देशों द्वारा व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर 'पंचशील' के नियमों का उल्लेख कर अपने संबंधों हेतु एक मजबूत ढ़ांचा तैयार कर लिया। शायद इसी कारणवश इस समय 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा बहुत सशक्त रूप में उभर कर सामने आया। चतुर्थ, दोनों देशों द्वारा विश्व शांति एवं कई प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर समान द ष्टिकोण अपनाना। मुख्य रूप से यह बात दोनों द्वारा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व रंगभेद की नीतियों का विरोध करने तथा एशिया व अफ्रीकी देशों के मध्य सहयोग विकसित करने के रूप में अति स्पष्ट रूप में देखने को मिली। अन्ततः दोनों देशों के राजनैतिक नेत त्व द्वारा परस्पर देशों की यात्राओं के कारण इनके बीच में आपसी समझ एवं सहयोग की प्रक्रिया आगे बढ़ी।

परन्तु उपरोक्त सहयोगात्मक प्रव त्तियों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि इस युग में दोनों देशों के बीच कोई मतभेद विद्यमान नहीं थे। सहयोग के इन प्रबल तथ्यों के होते हुए भी कुछ विषयों पर दोनों के बीच मतभेद थे जो निम्न कारणों को लेकर थे- तिब्बत को लेकर दोनों की बीच मतभेद बने हुए थे। भारत जहां इसे चीन का 'स्वायत क्षेत्र' मानता था वहीं चीन इसे अपना 'अभिन्न' अंग मानता रहा है। तिब्बत से भागने पर दलाई लामा को भी नई दिल्ली द्वारा शरण प्रदान करने पर दोनों के मतभेद स्प्ष्ट दिखाई देते थे। द्वितीय, चीन द्वारा अपने भौगोलिक नक्शों में भारत के लगभग 50,000 वर्ग मील के क्षेत्र को चीन का भाग दिखाने पर भी दोनों देशों के मध्य मतभेद बने रहे। अन्ततः, बाण्डुंग (इंडोनेशिया) में हुए अफ्रीकी व एशियाई देशों के सम्मेंलन में भी दोनों के परस्पर विरोधी द ष्टिकोण खुल कर सामने प्रकट हुए।

अतः मूल रूप से यह काल दोनों देशों के मध्य स्वर्णिम युग था, परन्तु भारत में चीन के प्रति कुछ सन्देह की स्थिति भी कुछ हद तक थी। परन्तु यह उतनी उजागर नहीं थी कि इसे मतभेदों का नाम दिया जा सके। भारत द्वारा चीन के प्रति कठोर द ष्टिकोण न अपनाने के पीछे शायद दो प्रमुख कारण रहें होगें- पहला, भारत की समकालीन आर्थिक एवं सामरिक कमजोरी, तथा दूसरा नेहरू व क ष्णामेंनन का चीन की नीतियों के संबंध में गलत आंकलन।

2. **संघर्ष का काल (1959-1962)-** 1959 में तिब्बत के विद्रोह व उसके परिणामस्वरूप दलाई लामा द्वारा भारत में शरण लेने के बाद भारत व चीन के संबंध टकराव की ओर बढ़ने लगे तो अन्ततः 1962 के चीन द्वारा किए आक्रमण के बाद एक अत्यन्त जटिल व्यवस्था में परिवर्तित हो गए। इसलिए यह युग बढ़ते हुए विवादों (विशेषकर सीमा विवाद) व युद्ध का युग रहा है। चीन ने तिब्बत विद्रोह में भारत की भूमिका को साम्राज्यवादी ताकतों से मिलीभगत एवं भारत की विस्तारवादी नीतियों का परिणाम बताया। परन्तु भारत ने चीन के इन दोनों आरोपों का खण्डन किया।

तिब्बत के बाद चीन ने भारत की सीमाओं में घुसपैठ प्रारम्भ कर दी। इस समय चीन ने सीमाओं को लेकर भारत पर तरह-तरह के आरोप लगाने शुरू कर दिए। इसकी विस्त त जानकारी नेहरू द्वारा 14 दिसम्बर 1958 से 12 फरवरी 1960 तक चीन सरकार को लिखे गए पत्र व्यवहार से मिलती है। कुल मिलाकर 1958-59 में चीन ने भारत से लगी सीमाओं के पश्चिमी, मध्य व पूर्वी तीनों भागों पर कुछ न कुछ क्षेत्रों को अपनी ओर मिलाने की कार्यवाही शुरू कर दी। पश्चिमी क्षेत्र में आकसाई चीन में 1955 में चीन ने कुछ सड़कों का निर्माण कर लिया तथा 1958 में भारत के लद्दाख क्षेत्र में घुसपैठ करके कुछ क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। मध्य क्षेत्र में बड़ाहोती क्षेत्र को लेकर दोनों के मध्य विवाद रहा। भारत का क्षेत्र होने पर भी चीन बार-बार अपना नियंत्रण जताने लगा रहा। पूर्वी क्षेत्र में चीन ने भारत के लोंगजु क्षेत्र पर अपना कब्जा स्थापित कर लिया तथा मैकमोहन रेखा भी दोनों के मध्य विवाद का मुद्दा बनी रही।

लेकिन 20 अक्टूबर 1962 को चीन द्वारा भारत पर युद्ध करने से दोनों के बीच अत्यधिक दूरियां बन गईं। चीन ने इस युद्ध में भारत के एक बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया। यद्यपि चीन ने 21 नवम्बर 1962 को एकतरफा युद्ध विराम की घोषणा कर दी, परन्तु दोनों द्विपक्षीय संबंधों को गहरा धक्का लगा। इस युद्ध के बाद दोनों देशों के संबंध बिल्कुल समाप्त हो गए। भारत के एक बड़े भू-भाग पर चीन के कब्जे के कारण, सीमा विवाद दोनों के मध्य एक प्रमुख मुद्दा बन गया।

3. **संबंध रहितता का काल (1962-1976)-** चीन युद्ध के बाद अगले 14 वर्षों का समय दोनों देशों के बीच संबंध रहितता का युग रहा। यद्यपि दोनों देशों ने राजनयिक संबंध तो समाप्त नहीं किए, परन्तु अपने-अपने राजदूतों को अवश्य वापिस बुला लिया तथा दूतावासों को बन्द कर दिया। कई प्रमुख कारणों से दोनों के मध्य दूरियाँ कम होने के स्थान पर और बढ़ती गई। प्रथम, अब दोनों के मध्य सीमा विवाद सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया इसीलिए इसके समाधान के बिना अच्छे संबंधों की कल्पना करना कठिन था। कोलम्बों प्रस्तावों के आधार पर इस विवाद को इसलिए नहीं सुलझाया जा सका क्योंकि चीन ने कुछ शर्तें लगा दी थी। 1963 में दोनों सरकारों के मध्य हुए पत्र व्यवहारों का भी कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकला। चीन इस मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने हेतु भी सहमत नहीं हुआ। द्वितीय, 1963 में चीन व पाकिस्तान के मध्य क्षेत्रों के संबंध में हुए आदान प्रदान ने इनके तनावों को और बढ़ा दिया। 1963 में पाकिस्तान-चीन समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने 'पाक अधिक त काश्मीर' का 5180 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र चीन को देने से भारत ने गहरा रोष प्रकट किया। त तीय, 1964 में चीन द्वारा परमाणु विस्फोट करने तथा 1965 में भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान का समर्थन करने से दोनों के संबंध और अधिक तनावपूर्ण हो गए। चतुर्थ, 1970 के दशक में अमेरिका-पाक-चीन त्रिकोणीय गठबंधन से दोनों के रिश्ते और खराब हो गए। क्योंकि यह गठबंधन पूर्वी सोवियत संघ के साथ-साथ भारत की घेराबन्दी

करने हेतु भी विकसित किया गया था।

परन्तु 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत की जीत ने स्पष्ट रूप से दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति मजबूत करते हुए इसे एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित किया। इसी काल में अमेरिका द्वारा चीन को मान्यता प्रदान करने से इसका संयुक्त राष्ट्र का स्थाई सदस्यता का मार्ग प्रशस्त हुआ। अतः दोनों देशों की स्थितियाँ मजबूत होने के कारण शायद दोनों द्वारा परस्पर रिश्तों में सुधार के प्रयास होने लगे। लेकिन 1974 में भारत द्वारा पोखरन-I परमाणु विस्फोट करने तथा 1975 में सिक्किम को भारत का राज्य बना लेने से फिर दोनों के मध्य थोड़ा सा व्यवधान उत्पन्न हो गया। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं बनी रह सकी। दोनों देशों की विभिन्न बाध्यताओं एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में बदलावों के कारण 1976 में दोनों ने अपने मध्य दीवार को हटाकर पुनः राजनयिकों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू की। इस द ष्टि से अप्रैल 1976 में भारत ने एक लम्बे अन्तराल के बाद के.आर. नारायणन को चीन में अपना राजदूत नियुक्त किया।

4. **वार्तालाप का काल (1976-1988)** इस काल को दोनों देशों के मध्य 'नई शुरूआत' का युग कहा जा सकता है। इस युग को संबंधों के सामान्यीकरण के प्रयास हेतु अग्रसर होना भी माना जा सकता है। राजदूतों की परस्पर नियुक्ति से यह बात तो निश्चित ही थी कि दोनों राष्ट्र संबंधों में सुधार के इच्छुक हैं। इसके अतिरिक्त दोनों देशों में आये आन्तरिक बदलावों तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिणामस्वरूप भी यह प्रक्रिया और मजबूत हुई।

आन्तरिक रूप से जहाँ 1976 में माओ-से-तुंग की म त्यु के बाद नवीन नेत त्व ने उदारीकरण की नीतियों को अपनाते हुए न केवल चार प्रमुख क्षेत्रों में आधुनिकरण (रक्षा, क षि, उद्योग तथा विज्ञान व प्रौद्योगिकी) पर बल दिया, वहीं चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' की व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया। इसके परिणामस्वरूप चीन ने विश्व राजनीति में अपने अलग-अलग स्वरूप को छोड़कर विश्व के विभिन्न देशों से अति आधुनिकतम एवं उच्च दर्जे की प्रौद्योगिकी ग्रहण करना शुरू कर दिया। इस प्रक्रिया में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करने के साथ-साथ, पड़ोसियों से संबंध सुधारों पर भी बल दिया।

भारत ने भी अपनी आन्तरिक स्थिति को देखते हुए पड़ोसियों से संबंध सुधारने प्रारम्भ कर दिए जिसमें जनता दल के शासन काल में (1977-79) 'पड़ोसियों' के प्रति मधुर संबंध विकसित करने की नीतियों ने और मजबूती प्रदान की। इस सन्दर्भ में वाजपेयी ने विदेश मंत्री के तौर पर चीन की यात्रा भी की, परन्तु वह सफल न हो सकी। इसके बाद भी दोनों देशों के मध्य संबंध सुधार एवं सहयोग बढ़ाने का सिलसिला जारी रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, जहां एक ओर चीन को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के साथ-साथ सुरक्षा परिषद् की स्थाई सदस्यता भी मिल गई, वहीं भारत भी 1971 में अपनी जीत एवं 1974 के पोखरन-I परीक्षण के बाद अधिक आश्वस्त दिखाई दिया। इसके अतिरिक्त, चीन व पूर्व सोवियत संघ के बीच सुधरते संबंधों ने भी दोनों के मध्य एक महत्वपूर्ण रूकावट वाले कारक को समाप्त कर दिया। इसके उपरान्त, 1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैन्य हस्ताक्षेप को लेकर भारत-सोवियत संघ के बीच उभरते मतभेदों ने भी इसे चीन के निकट लाने में मदद की। इसके अलावा, चीन-अमेरिका के संबंधों में आई कटुता के कारण चीन भी भारत की ओर अधिक आकृष्ट हुआ।

इन कारणों से दोनों देशों ने अपनी चुप्पी तोड़ी और वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हुआ। 1981 से 1987 तक दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच वार्ताओं के आठ दौर सम्पूर्ण हुए। इन वार्ताओं में दोनों ओर से स्पष्टीकरण देने के अलावा विभिन्न मुद्दों पर परस्पर सुझाव भी दिए। इसके साथ-साथ सीमाओं के सन्दर्भ में दोनों के बीच काफी जानकारियों का आदान-प्रदान हुआ तथा इससे दोनों के मध्य विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों (सी.बी.एम) का विकास हुआ। इन्हीं वार्ताओं एवं विश्वसनीयता के कदमों ने ऐसा ठोस आधार बनाया जिस पर आगे चलकर दोनों के मध्य सहयोग एवं सद्भावना की मंजिल खड़ी हो सकी।

उपरोक्त तथ्यों से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि यह युग पूर्ण मतभेद रहित था। इसके विपरीत इस काल में दो प्रमुख विषयों को लेकर भारत व चीन के मध्य गहन मतभेद भी थे। सर्वप्रथम विवाद का विषय बाडडोंग में एमडोरंग चू घाटी में चीन द्वारा भारतीय सीमा में घुसपैठ का मामला था। जून 1986 में चीन ने इस विवादास्पद क्षेत्र में घुसपैठ कर कुछ सैन्य चौंकियां भी स्थित कर लीं। सूत्रों से पता चला है कि चीन ने वहां हेलीपैड भी बना लिया है। भारत के

विरोध जताने पर भी चीन का रवैया नहीं बदला। उम्मीद की जाती है कि जब सम्पूर्ण सीमा विवाद सुलझेगा तभी इस समस्या पर भी शायद कोई आम सहमति बन जाए। दूसरा मुद्दा अरूणाचल प्रदेश को लेकर हुए मतभेद का है। जब भारत सरकार ने 20 फरवरी 1987 को अरूणाचल प्रदेश को भारतीय संघ के 24 वें राज्य के रूप में घोषणा की तब चीन ने कड़ी आपत्ति उठाई यद्यपि बाद में भारत द्वारा आपत्ति उठाई जाने के कारण चीन ने इस मामले को अधिक तूल नहीं दिया।

परन्तु छोटे-छोटे मतभेदों के बावजूद यह काल दोनों देशों के भविष्य के संबंधों में प्रगाढ़ता विकसित करने हेतु अति महत्वपूर्ण रहा। एक तो इस युग में दोनों देशों के मध्य संबंध रहितता का दौर समाप्त हो गया जो बहुत सार्थक कार्य रहा। दूसरा इन वार्ताओं के दौर से आपसी गलतफहमियां दूर होने के साथ-साथ दोनों के बीच परस्पर विश्वास बढ़ाने वाले कारकों में व द्धि हुई। दोनों के बीच उत्पन्न इसी सद्भावना ने सहयोग की नींव रखी जिस पर आज दोनों के सहयोगी एवं मैत्रीपूर्ण संबंधों का भवन खड़ा है। अतः इस युग ने आने वाले सहयोगात्मक संबंधों हेतु पहली सीढ़ी का कार्य किया, जिससे दोनों के परस्पर मधुर संबंधों का मार्ग प्रशस्त हुआ।

5. **सहयोगात्मक संबंधों का युग, 1988-1998-** यह एक दशक का समय दोनों देशों के संबंधों में बदलाव का अति महत्वपूर्ण व प्रभावशाली काल माना जा सकता है। इस काल में दोनों देशों के संबंधों में सुधार विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम, आन्तरिक परिस्थितियों एवं दोनों के परस्पर द ष्टिकोणों में आए परिवर्तनों के कारण हुआ। इनके मुख्य कारण निम्नलिखित थे- प्रथम, अमेरिका की विदेश नीति में बदलाव से दोनों ही देशों ने अमेरिका को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। अमेरिका ने मानवाधिकार के नाम पर जहां एक ओर चीन की तियनामन चौंक (1989) की घटना की आलोचनाएँ की, वहीं दूसरी ओर कश्मीर के मुद्दे पर भी मानवाधिकारों के उल्लंघन की दुहाई दी। द्वितीय, 1991 में पूर्व सोवियत संघ के विघटन स्वरूप उत्पन्न स्थिति के कारण भी दोनों देशों के बीच नजदीकियां और बढ़ीं। इस विघटन के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर चीन के मुख्य प्रतिद्वन्दी की समाप्ति हो गई, वहीं भारत का एक विश्वसनीय मित्र नहीं रहा। इसके साथ-साथ भारत-सोवियत मैत्री एवं चीन-सोवियत विवादस्वरूप चीन-भारत के मध्य रूकावट पैदा करने वाले कारक की भी समाप्ति हो गई। त तीय, शीतयुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आये बदलाव स्वरूप विश्व में उभरती हुई एक ध्रुवीय व्यवस्था बनने की स्थिति के कारण दोनों राष्ट्र बहुध्रुवीय व्यवस्था बनाने हेतु सहयोगात्मक प्रयास के रूप में एकजुट होते प्रतीत हुए। इसके अतिरिक्त, दोनों ही देश वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था के स्थान पर एक न्यायोचित विश्व व्यवस्था बनाने हेतु एकमत प्रतीत हुए। चतुर्थ, विकास व आधुनिकरण की बढ़ती हुई बाध्यताओं तथा भूमण्डलीकरण के दौर में घटते हुए रक्षा खर्चों के कारण भी दोनों देशों के लिए परस्पर मधुर संबंध बनाना अनिवार्य था। पंचम, चीन द्वारा भारत के अपने पड़ोसियों से संबंधों के बारे में आया बदलाव भी इस हेतु काफी हद तक उत्तरदायी रहा है। अब चीन चाहता है कि भारत अपने पड़ोसियों से सभी मुद्दे द्विपक्षीय आधार पर सुलझायें। चीन इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार की नकारात्मक टिप्पणी से बचने लगा है। षष्ट, शीतयुद्धोत्तर युग में राजनीति के स्थान पर आर्थिक मुद्दों के महत्वपूर्ण होने के कारण दोनों देशों के बीच नवीन आर्थिक समीकरणों का उदय होना अनिवार्य बन पड़ा। अन्ततः नई परिवर्तित विश्व व्यवस्था में संयुक्त राष्ट्र की चुनौतियों, सार्थकता एवं भूमिका को लेकर भी दोनों के बीच आम सहमति बनती नजर आने लगी है।

उपरोक्त कारणों से दोनों देशों में बढ़ती नजदीकियों की परिचायक दोनों देशों के राजनैतिक नेत त्व द्वारा की गई यात्रायें रहीं। इन यात्राओं में से राजीव गांधी (1988) व पी.वी. नरसिम्हा राव (1993) की चीन यात्राएँ तथा प्रधानमंत्री ली पेंग (1991) व राष्ट्रपति जिंयाग जमीन (1996) की भारत यात्राएँ ऐतिहासिक रही। राजीव गांधी की चीन यात्रा के दौरान पहली बार दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे सीमा विवाद को अलग रखकर अन्य मुद्दों पर सहयोग बढ़ाने के पक्षधर हैं। सीमा विवाद सुलझाने हेतु दोनों द्वारा 'संयुक्त कार्यकारी दल' का गठन किया गया जिनकी बैठक हर छः माह बाद वैकल्पिक रूप से दोनों देशों की राजधानियों में हुआ करेंगी। इस ऐतिहासिक सहमति के अतिरिक्त, दोनों देशों के मध्य विज्ञान एवं प्रोद्यौगिकी, नागरिक उड्डयन तथा सांस्कृतिक सहयोग के समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए।

1993 में भारतीय प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव की यात्रा को 'एक मील के पत्थर' की संज्ञा दी गई। इस यात्रा के माध्यम से राजीव गांधी द्वारा की गई पहल को स्थायित्व प्रदान करने के कदम के रूप में आंका गया। राजीव गांधी ने जहां सीमा विवाद को अन्य सहयोगात्मक कदमों से अलग रखने का प्रयास किया, वहीं इस यात्रा के द्वारा सीमा विवाद सुलझाने हेतु महत्वपूर्ण समझौते हुए जिनका उद्देश्य 'परस्पर एवं समान' सुरक्षा प्रदान करना था। इस यात्रा के दौरान 'नियंत्रण रेखा संबंधित' एक 9 सूत्री समझौता हुआ जिससे सीमा रेखा के पास शांति स्थापित करने की प्रक्रिया को बल मिला। सीमा पर शांति स्थापना की वैद्यता को स्वीकार करते हुए दोनों देश 'नियंत्रण रेखा' को स्वीकार करते हुए दोनों देश 'नियंत्रण रेखा' को ही वर्तमान सीमा रेखा मानने को तदर्थ रूप से तैयार हो गए। जब तक यह स्थाई रेखा नहीं बन जाती दोनों ही इसके पास शांति बनाएँ रखेंगे। चीन की ओर से यात्रा करते हुए प्रधानमंत्री ली पेंग ने दोनों देशों के मध्य विश्वसनीयता को बढ़ाने वाले कदमों को बढ़ावा दिया। दोनों देशों द्वारा 'पंचशील' के सिद्धान्तों में एक बार फिर आस्था व्यक्त करते हुए नई विश्व व्यवस्था के निर्णय में समान भागीदारी, निरस्त्रीकरण, उत्तर-दक्षिण विवाद में कमी, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के पालन आदि विषयों पर सहयोग हेतु सहमति प्रकट की। तीन महत्वपूर्ण व्यापारिक समझौतों पर हस्ताक्षर करने के साथ-साथ, व्यापार विभिन्नीकरण तथा सीधे व्यापार पर बल दिया गया।

जियांग जमीन की भारत यात्रा राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से अति महत्वपूर्ण थी। राजनैतिक रूप से माओं के बाद जमीन भारत आने वाले ऐसे नेता थे जो राष्ट्रपति के साथ-साथ साम्यवादी दल के महासचिव एवं सेना नियंत्रण आयोग के अध्यक्ष भी थे। इन्होंने चार महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किए जिनमें से आपसी विश्वास बढ़ाने हेतु नियंत्रण रेखा संबंधित समझौता सामरिक रूप से अति महत्वपूर्ण हैं। व्यापारिक द ष्टि से भी पूंजीनिवेश पर नियंत्रण, जहाजरानी तथा व्यापार विभिन्नीरण के संदर्भ में भी परस्पर सहमति हुई।

अतः इस एक दशक के काल में सामारिक रूप से भारत-चीन सीमा विवाद के बारे में 'संयुक्त कार्यदल' के गठन के साथ-साथ विभिन्न 'विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों' की स्थापना हुई । इन्हीं के कारण न केवल विवादास्पद सीमा रेखा पर शांति बनी रही, अपितु दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण संबंधों की रूपरेखा भी तैयार हुई दूसरे दोनों देशों के राजनेताओं की परस्पर यात्राओं द्वारा संस्थागत संबंधों का भी विकास हुआ। दोनों देशों के सैन्य अधिकारियों, समुद्री जहाजों के आवागमन, समाचार एजेंसियों में सहयोग, शिक्षा तथा प्रोद्यौगिकी से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग की सम्भावनाएँ बढ़ी। सांस्कृतिक रूप से भी एक दूसरे के यहां चीन महोत्सव (1992) तथा भारत महोत्सव (1994) के आयोजनों से जन साधारण में एक दूसरे के देशों के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ी। अन्ततः इन मधुर सम्बन्धों का प्रभाव आर्थिक संबंधों के विकास पर पड़ा जिसकी झलक भारत-चीन के मध्य बढ़ते द्विपक्षीय व्यापार से लगाई जा सकती है। इसका विवरण तालिका-। में दिया गया है-

तालिका-।*

भारत-चीन द्विपक्षीय व्यापार, 1991-98

(अमेंरिकी मिलियन डॉलर)

वर्ष	भारत से निर्यात	भारत में आयात	कुल व्यापार	व्यापार संतुलन
1991	120.33	144.48	264.81	+24.15
1992	180.99	158.44	339.39	+22.50
1993	416.57	259.16	675.73	+157.41
1994	322.00	573.00	894.00	-251.00
1995	398.00	765.00	1,162.00	-367.00
1996	719.16	689.54	1,408.70	+29.62
1997	897.26	933.06	1,830.32	-35.80
1998	905.70	1,016.59	1,912.29	-110.89

* स्त्रोत : आर.एस.यादव, 'भारत की विदेश नीति : एक विश्लेषण', इलाहाबाद, किताब महल , 2003

लेकिन संबंधों में इन सुधारों को भारत द्वारा 11 व 13 मई 1998 को किए गए परमाणु परीक्षणें के बाद बड़ा धक्का लगा। इन परमाणु परीक्षणों के बाद चीन ने भारत द्वारा इन्हें स्थगित करने तथा व्यापक परमाणु निषेध संधि पर हस्ताक्षर करने पर बल दिया। परन्तु इस समय भारत के द ष्टिकोण से ही दोनों के मध्य ज्यादा दूरियाँ विकसित हुई। सर्वप्रथम, भारत के तत्कालीन रक्षामंत्री जार्ज फर्नांडीज ने चीन को भारत का दुश्मन नम्बर एक बताया। द्वितीय, भारत के प्रधानमंत्री द्वारा भी अमेरिका के राष्ट्रपति क्लिंटन को लिखे पत्र में इन परीक्षणों का औचित्य चीन से उत्पन्न सुरक्षा खतरों को ही ठहराया।

अन्ततः इन परीक्षणों के स्पष्टीकरण हेतु भारत ने अपने विशेष दूतों को सभी परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों की राजधानियों में भेजा, परन्तु ऐसा कोई दूत चीन नहीं भेजा। यद्यपि इन कारणों से दोनों के मध्य दूरियाँ, बन गई तथा 'संयुक्त कार्य दल' की कार्यवाही भी स्थगित कर दी गई, तथापि चीन की प्रतिक्रिया उतनी तीव्र नहीं रही। कई क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश की बाध्यताओं के कारण चीन भारत के साथ अधिक मतभेद नहीं बढ़ा सकता था। अतः मई 1998 के बाद रिश्तों में 'अस्थाई तनाव अवश्य आ गया था जो अधिक समय तक नहीं बना रह सका।

6. **नवीन साझेदारी की ओर अग्रसर, (1999-2003)-** विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यताओं एवं द्विपक्षीय बाध्यताओं के कारण दोनों के मध्य दूरियाँ नहीं रह सकी। दोनों देशों के नेताओं ने इस समस्या के समाधान हेतु परस्पर सद्भावना यात्राओं द्वारा इसे दूर करने के प्रयास किए। भारत की ओर से जसवन्त सिंह (1999 व 2002) आर.के. नारायणन (2002) जार्ज फर्नांडीज (2003) व अटल बिहारी वाजपेयी (जून 2003) ने चीन की यात्राएँ की। दूसरी ओर से भी तांग जिक्सुआन (1999), ली पेंग (2001) तथा झू रोंगजी (2002) ने भारत की यात्राएँ की। इन यात्राओं के माध्यम से दोनों देशों के बीच 'संयुक्त कार्यवाही दल' के माध्यम से सामारिक वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हो गया, सीमा रेखा के मध्य भाग के नक्शों का आदान-प्रदान हुआ, राजनयिक संबंधों की स्वर्ण जयंती मनाना, तथा पंचशील के सिद्धान्तों में दोबारा आस्था व्यक्त की गई। इन सभी यात्राओं में जून 2003 की अटल बिहारी वाजपेयी की यात्रा अति महत्वपूर्ण रही। इस यात्रा के माध्यम से दोनों के बीच 'नई साझेदारी' विकसित करने हेतु 23 जून को "संबंधों के सिद्धान्त एवं व्यापक सहयोग" के दस्तावेज के अतिरिक्त अन्य सहयोग के समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए। इन समझौतों में एक समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों के बीच नाथुला दर्रे के रास्ते सिक्किम से होते हुए एक नये व्यापारिक मार्ग को खोलने पर भी सहमति हुई। भारत द्वारा व्यापक दस्तावेज में ही तिब्बत को चीन का एक स्वायत क्षेत्र (चीन का अभिन्न अंग) मान लिया गया, तथा इस व्यापारिक समझौते से चीन द्वारा सिक्किम को भारत का अंग मानने की अप्रत्यक्ष कार्यवाही अवश्य शुरू हो गई। शायद निकट भविष्य में चीन भी सिक्किम पर भारत की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लेगा। एक अन्य महत्वपूर्ण समझौते के अन्तर्गत सीमा विवाद के समाधान में तीव्रता लाने हेतु दोनों ने अपने-अपने विशेष प्रतिनिधियों को नियुक्त करने का फैसला किया जो इस समस्या को राजनैतिक द ष्टिकोण से हल करने का प्रयास करेंगे। भारत की ओर से यह उत्तरदायित्व रक्षा सलाहकार ब्रिजेश मिश्र को सौंपा गया है जबकि चीन की ओर से वरिष्ठ उप-विदेश मंत्री दाई बिंगाओं यह जिम्मेंदारी निभायेगें। अतः इन यात्राओं ने, विशेषकर वाजपेयी की चीन यात्रा ने, इनके संबंधों को सुधारते हुए इनके मध्य एक 'सहयोगी साझेदारी' बढ़ाने का कार्य किया है।

इन पांच वर्षों में (1999-2003) दोनों के संबंधों में आर्थिक, सामरिक एवं राजनैतिक मधुरता का विकास हुआ है जो निम्न स्थितियों से स्पष्ट परिलक्षित होता है-

आर्थिक रूप से, भारत व चीन के बीच व्यापार में बढ़ोतरी निरंतर जारी रही है। भारत व चीन के बीच कुल व्यापार जहां 1999-2000 में 27971 लाख डॉलर था वही 2000-01 में बढ़कर 23075, 2001-02 में 2923 तथा 2002-03 में 38667 लाख डॉलर हो गया। इन व्यापारिक संबंधों को तीव्रता प्रदान करने हेतु दोनों देशों ने मंत्रीस्तरीय 'संयुक्त आर्थिक समूह' (जे.ई.जी.) के महत्व को स्वीकारते हुए इसकी सातवीं बैठक एक वर्ष के अन्दर-अन्दर करने का फैसला किया है। इसके अतिरिक्त, व्यापार एवं अन्य आर्थिक सहयोग बढ़ाने हेतु दोनों देशों ने अपने-अपने अधिकारियों एवं अर्थशास्त्रियों का एक 'संयुक्त अध्ययन दल' (जे. एस.जी.) बनाने का फैसला भी किया है। इसके अतिरिक्त, दोनों देश अपने द्विपक्षीय मुद्दों एवं विकासशील देशों के हितों की पूर्ति हेतु 'विश्व व्यापार संगठन' की कार्यवाही में भी सहयोग पर सहमत हो गए हैं। अन्ततः प्रधानमंत्री की इस यात्रा के दौरान वाजपेयी ने भारत व चीन के संचार प्रोद्यौगिकी के क्षेत्र में व्यापक सहयोग की सम्भावनाओं पर बल दिया। उनका मानना था कि यदि दोनों देश सहयोग करें तो दुनिया के संचार प्रोद्यौगिकी के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर सकते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में दोनों एक दूसरे के पूरक है।

सामरिक रूप से यद्यपि परमाणु परीक्षणों पर रोक एवं भारत द्वारा सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर न करने के मामलों पर दोनों में अभी मतभेद बने हुए है, लेकिन फिर भी कई सामरिक विषयों पर सहयोग भी जारी है। उदाहरणस्वरूप, दोनों ही देश परमाणु हथियारों के पहले प्रयोग न करने के पक्षधर हैं। दोनों ही देश परमाणु प्रसार के हक में भी नहीं हैं। दोनों ही देश अपने सीमा विवाद को भी शीघ्र सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए शीघ्र ही दोनों अपने पूर्वी व पश्चिमी क्षेत्र के नक्शों का आदान-प्रदान करेंगे। वाजपेयी की वर्तमान चीन यात्रा के समय इस सन्दर्भ में विशेष प्रतिनिधियों, की नियुक्ति भी उनकी इस दिशा में सकारात्मक सोच का परिचायक है। दोनों ही देश अब परस्पर एक दूसरे से असुरक्षित महसूस करने के स्थान पर सहयोगी बनने का प्रयास कर रहे हैं। दोनों के मध्य सामान्य सुरक्षा सहयोग के साथ-साथ सीमाओं के रास्ते व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ने से भी जन मानस के बीच समझ तथा राज्यों के बीच विश्वसनीयता बढ़ेगी।

राजनैतिक रूप से, भी दोनों के परस्पर सम्बन्ध सही दिशा में प्रयासरत हैं। सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के संदर्भ में दोनों ही एकमत हैं। दोनों देश संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को सशक्त करने तथा सुरक्षा परिषद् के प्रजातांत्रिकरण के पक्षधर हैं। इसके साथ-साथ दोनों ही निरस्त्रीकरण व अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण प्रयोग हेतु संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से बहुपक्षीय वार्ताओं पर बल देते हैं। द्वितीय, यद्यपि स्पष्ट रूप से दोनों देशों ने स्वीकार नहीं किया है परन्तु दोनों ही भारत रूस चीन त्रिपक्षीय सहयोग बढ़ाने के पक्षधर है। पिछले कुछ वर्षों से भारत-चीन, भारत-रूस तथा रूस व चीन संबंधों में निरंतर सुधार इस ओर इशारा करते हैं। रूस के राष्ट्रपति पुतिन की पिछली यात्रा चीन के रास्ते भारत आने से भी इन बातों को और बल मिलता है। त तीय, दोनों देश शीतयुद्धोत्तर युग में बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के पक्षधर हैं। सोवियत विघटन के बाद अमेरिका के बढ़ते वर्चस्व के प्रति दोनों ही आशंकित है। विशेषकर अफगानिस्तान व ईराक के घटनाक्रम के बाद दोनों के बीच शायद यह आशंका और अधिक मजबूत हो गई है। अन्ततः दोनों देश आज अन्तर्राष्ट्रीय आंतकवाद के खतरों से अवगत ही नहीं है बल्कि इसे विश्वशांति व सुरक्षा हेतु बड़े खतरे के रूप में देखते हैं शायद इसीलिए आतंकवाद पर नियंत्रण हेतु दोनों देश एकमत है तथा परस्पर सहयोग द्वारा इस स्थिति से निपटना चाहते हैं।

परन्तु उपरोक्त वर्णन का अर्थ यह नहीं है कि उत्तर-पोखरन II काल में दोनों के बीच गतिरोध बिल्कुल समाप्त हो गये हैं। दोनों देश आज भी कई मुद्दों पर पूर्णतः सहमत नहीं है। आर्थिक रूप से आज भी दोनों के बीच बैकिंग व अन्य संस्थागत सुविधाओं का अभाव है। गुणवत्ता के बारे में पारदर्शिता, कारोबार से पहले शपथ पत्र हासिल करना, बैंकों के चीन में कारोबार करने, बाजार संबंधित दस्तावेजों का अंग्रेजी में न होना आदि अभी भी कई अड़चने हैं जो भारतीय व्यापार को चीन में प्रसारित करने के मार्ग में रूकावट है। इसके अतिरिक्त आज भी व्यापार संतुलन चीन के पक्ष में बना हुआ है जिसे सुधारना अति अनिवार्य है। इसी प्रकार सामरिक क्षेत्र में आज भी परमाणु व प्रेक्षपास्त्रों के विकास एवं चीन द्वारा पाकिस्तान को इस प्रकार के शस्त्रों की आपूर्ति कराने के मुद्दों पर विभेद जारी है। राजनैतिक रूप से भी दोनों के मध्य आज भी विश्वसनीयता बनाने वाले कारक पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पिछले 56 वर्षों के अंतराल में भारत-चीन संबंध उतार चढ़ाव वाले रहे है। यद्यपि पिछले 15 वर्षों से निरन्तर इनमें सुधार जारी है तथा काफी हद तक ये संबंध सहयोगात्मक बन रहें है। प्रधानमंत्री वाजपेयी की जून 2003 की यात्रा भी इस नवीन साझेदारी के रास्ते में एक महत्वपूर्ण पहल रही है। परन्तु दूरगामी शान्ति व सहयोग हेतु निम्न मुद्दों का स्थाई हल आवश्यक है। प्रथम दोनों देशों को शीघ्र-अति शीघ्र अपेन सीमा विवाद को हल करना होगा। द्वितीय, चीन को स्पष्ट रूप से सिक्किम को भारत का अंग मानना पड़ेगा। त तीय, चीन द्वारा पाकिस्तान को दिए जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों एवं परमाणु सहयोग गतिविधियों को रोकना होगा। चतुर्थ, म्यांमार के माध्यम से हथियार देने या इस देश से हिन्द महासागर में अपनी सैन्य क्षमता का विकास करने पर भी चीन को रोकना होगा ताकि भारत अपने आप को असुरक्षित महसूस नहीं कर सके। अन्ततः आर्थिक सहयोग हेतु व्यापार के ढ़ाचों को सुद ढ़ करते हुए चीन के पक्ष में हुए व्यापार संतुलन को ठीक करना होगा। दोनों देशों के मध्य व्यापार मात्रा को बढ़ाना होगा तथा पूंजीनिवेश एवं संयुक्त उद्यमों के विकास के मार्ग प्रशस्त करने होंगें इन्हीं उपायों के माध्यम से दोनों देशों के मध्य दूरगामी मधुर संबंधो की स्थापना की जा सकती है। यद्यपि दोनों राष्ट्र इस ओर प्रयासरत हैं परन्तु इन दोनों के मध्य विभिन्न क्षेत्रों में हुए विकास की गति पर ही दोनों के भावी संबंधों की दिशा तय होगी। यह सत्य है कि वर्तमान में दोनों ही देश इस ओर साकारात्मक पहल कर रहे हैं।

भारत-पाकिस्तान संबंध
(Indo-Pakistan Relations)

दो पड़ोसी देशों के मध्य विवादास्पद संबंधों की लम्बी श ंखला वाले उदाहरणों में भारत-पाकिस्तान संबंध अति प्रमुख हैं। दोनों के मध्य ऐतिहासिक समानता, सांस्कृतिक एकरुपता, भौगोलिक सामीप्य, आर्थिक अन्तः निर्भरता आदि के बावजूद मित्रता के बजाय ' दूर के पडोसियों' वाले सम्बम्ध बने हुए है। 1947 से आज तक इनके संबंध स्पर्धा, संघर्ष एवं युद्धों के दायरे से बाहर नहीं निकल पाए हैं। अध्ययन की सुविधा हेतु इनके संबंधों में आए उतार-चढ़ाव का विश्लेषण पाँच निम्न चरणों में किया जा सकता है।

1. **विभाजन व प्रारम्भिक अलगाव, (1947-54)**- भारत व पाकिस्तान स्वतन्त्र राष्ट्र के रुप में विभाजन, नरसंहार एवं वैमनस्य के दौर से गुजर कर आये। इसीलिए दोनों के संबंधों की शुरुआत मित्रता की बजाय द्वेषपूर्ण संबंधों से हुई। विभाजन से जुड़े कई महत्वपूर्ण मुद्दो ने इनके रिश्तों को जटिल एवं अविश्वसनीयता पूर्ण बना दिया। प्रथम विभाजन के बाद पंजाब व बंगाल की सीमाओं का निर्धारण; सेनाओं का बटवारा; असैनिक सेवाओं का विभाजन; तथा, सरकारी सम्पदा एवं देनदारी की समस्या ने इनके रिश्तों में कड़वाहट पैदा कर दी। द्वितीय विभाजन के दौरान दोनों ओर से भारी मात्रा में मुसलमानों तथा हिन्दू व सिखों का पलायन हुआ तथा जो एक दुसरे के यहाँ रह गये वे वहां अल्पसंख्यक बन गये। इन अल्पसंख्यकों एवं शरणार्थियों को समस्याओं ने भी दोनों देशों में दूरियाँ पैदा की। त तीय सिन्धु एवं उसकी सहायक नदियों के पानी के बटवारे को लेकर भी दोनों देशों के बीच विवाद रहा। लगभग 12 वर्षो के विवाद के बाद दोनों देशों की दूरदर्शिता एवं विश्वबैंक की भूमिका के बाद 1960 में यह समस्या हल कर ली गई। चतुर्थ विभाजन में पूर्व में बंगाल व पश्चिम में पंजाब के विभाजन के साथ-साथ कई क्षेत्रों के निर्धारण की समस्या अभी भी बनी रही। यद्यपि रेडक्लिफ कमीशन द्वारा यह मामला काफी हद तक हल कर लिया गया, लेकिन सीमाओं को रेखांकित करके सीमाबन्दी करना इतना सरल नहीं था अतः यह समस्या भी दोनों के मध्य तनाव का कारण रही। पंचम दोनों देशों में पलायन के बाद विस्थपितों द्वारा छोड़ी गई सम्पति के आंकलन, वितरण, हर्जाने आदि को लेकर भी मतभेद बने रहे। अन्ततः दोनों के बीच सबसे महत्वपूर्ण विवाद कश्मीर को लेकर हुआ। प्रारम्भ में कश्मीर राज्य ने दोनों देशों से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखा। लेकिन जब पाकिस्तान की सेना ने कबाईलों के भेष में कश्मीर पर आक्रमण कर दिया तब वह 26 अक्तूबर 1947 को सम्पन्न सन्धि के अन्तर्गत भारत का हिस्सा बन गया। परन्तु तब तक पाकिस्तान आधे कश्मीर पर कब्जा कर चुका था जिसे 'पाक अधिकृत कश्मीर' कहते हैं। तब से लेकर आज तक कश्मीर पर अपने आधिपत्य को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव नहीं अपितु युद्ध भी हो चुके हैं। अतः विभाजन के उपरान्त उत्पन्न समस्याओं से यह स्पष्ट है कि दोनों देशों के संबंधों की शुरुआत सुखद नहीं रही। यद्यपि कश्मीर के विवाद को छोड़कर कुछ समस्याओं का समाधान तुरन्त एवं कुछ समस्याओं का समाधान कुछ वर्षो बाद हो गया, तथापि दोनों देशों के मध्य आपसी अविश्वास एवं असहयोग बना रहा। इसके परिणामस्वरुप दोनों देशों ने परस्पर विरोधी द ष्टिकोणों का समर्थन ही नहीं किया अपितु विरोधाभास पूर्ण विदेश नीतियों का अनुसरण किया। आन्तरिक परिस्थितियों में भी सकारात्मक परिवर्तन की बजाय नकारात्मक पहलुओं का ही वर्चस्व बना रहा। अतः दोनों देशों के मध्य दूरियाँ बढ़ती गई तथा सहयोग की सम्भावनाओं का अभाव रहा।

2. **संघर्षपूर्ण संबंध, (1955-1971)** - यह काल दोनों देशों के संबंधों में अति नाजुक बल्कि संघर्ष की चरम सीमा वाला युग रहा। इस दौरान न केवल तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे, अपितु द्वन्द्वात्मक स्वरुप भी दो युद्धों (1965 व 1971) के रूप में उभर कर आया। इन दो युद्धों के कई निकटवर्ती एवं दूरगामी परिणाम सामने आये। इस काल में इन संघर्षपूर्ण रिश्तों के लिए कई प्रमुख कारण उत्तरदायी रहे हैं। प्रथम 1954 व 1955 में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका समर्थित सीएटो व सैंटो गठबन्धनों में शामिल होने से भारत की विदेश नीति की विपरीत धारा में भाग ले लिया। जहां भारत इन सैन्य गुटों से दूरियाँ बनाने का पक्षधर था, वहीं पाकिस्तान उन गठबन्धनों का हिस्सा बन गया। द्वितीय पाकिस्तान चीन के मध्य मित्रतापूर्ण संबंधों का भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा क्योंकि भारत व चीन के बीच 1962 के युद्ध के बाद संबंध विच्छेद हो गए थे। इसके अतिरिक्त 1963 में चीन के साथ हुए सीमा समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने 'पाक अधिकृत कश्मीर' की 5180 वर्ग किलोमीटर भूमि चीन को हस्तांतरित कर देने से दोनों के संबंधों पर प्रतिकूल असर पड़ा। त तीय 1965 में पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही ने दोनों के संबंधों को और खराब कर दिया। यद्यपि पूर्व सोवियत

संघ की मध्यस्थता के द्वारा 10 जनवरी 1966 के ताशकन्द समझैते से शान्ति स्थापित हो गई परन्तु इस मन मुटाव से आपसी अविश्वास और अधिक बढ़ गया। चतुर्थ 1970-71 में पाकिस्तान का आन्तरिक घटनाक्रम चुनाव मार्शल लॉ लागू होना पूर्वी पाकिस्तान से भारी मात्रा में शरणार्थियों का भारत के विरूद्ध पाक-चीन-अमेरिका त्रिगुट बनना आदि ऐसे कारण रहे जिन्होंने दोनों देशों के तनावों को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अन्ततः 3 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर सीधे युद्ध की कार्यवाही कर दी। इस 14 दिन चले युद्ध में भारत की निर्णायक जीत हुई तथा पाकिस्तान दो राज्यों- पाकिस्तान व बांग्लादेश - के रुप में बट गया। अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों में भी काफी बदलाव देखने को मिले। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति व दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति में भी बदलाव आया।

इस प्रकार दोनों देशों के मध्य संबंधों का यह चरण संघर्षात्मक होने के साथ-साथ अति जटिल रहा है। इस दौर में दोनों के बीच कटुता व वैमनस्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। दोनों युद्ध द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय द ष्टियों से कई प्रकार से महत्वपूर्ण रहे लेकिन इनके माध्यमों से भी दोनों के मध्य स्थाई शान्ति या सहयोग को किसी भी प्रकार से बढ़ावा नहीं मिला। कश्मीर जैसी अडिग समस्या के समाधान हेतु भी कोई पहल नहीं की जा सकी। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध ने तो दोनों के मध्य सभी समीकरणों को ध्वस्त कर दिया। परन्तु इसने पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति में प्रमुख बदलाव लाने के साथ-साथ दक्षिण एशिया का भौगोलिक मानचित्र ही बदल कर रख दिया। इन्हीं बदली हुई स्थिति के कारण दक्षिण एशिया में भारत एक शक्ति के रुप में उभर कर आया। इन सबके परिणामस्वरुप नए द्विपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों ने जन्म दिया, जिसने दोनों के संबंधों में नई पहल करने की परिस्थितियों को जन्म दिया।

3. **तनाव शैथिल्य का दौर, (1972-1979)-** 1971 के युद्ध के बाद थोड़े से समय तक दोनों देशों ने सकारात्मक रिश्तों की पहल की जिसके परिणामस्वरुप दोनों के मध्य तनाव शैथिल्य का दौर आया। शायद यही एक संक्षिप्त काल था जिस दौरान दोनों देश कम-से-कम शत्रुता वाले संबंध नहीं रखते थे। बदली हुई राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों ने दोनों देशों को वास्तविक धरातल पर आकर अपने संबंधों का आंकलन करने पर बाध्य किया। इसके परिणामस्वरुप निम्नलिखित कदमों के कारण दोनों के बीच नजदीकियाँ बनी। प्रथम 3 जुलाई 1972 में दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों 'शिमला समझौते' पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों ने आपसी विवादों को द्वि-पक्षीय आधार पर हल करने के सिद्धान्त पर सहमति व्यक्त की। द्वितीय इसके बाद बांग्लादेश को भी विश्वास में लेकर युद्धबन्दियों की समास्या का समाधान किया गया। त तीय 22 फरवरी 1974 को पाकिस्तान द्वारा बांग्लादेश को औपचारिक मान्यता देने के बाद तीनों राष्ट्रों के रिश्तों में सुधार आया। चतुर्थ 1974 व 1975 में भारत व पाकिस्तान के बीच कुछ व्यापारिक तथा परस्पर आदान प्रदान के समझौतों पर हस्ताक्षर करने से मधुर संबंध बने। पंचम 1976 में फिर दोनों देशों के मध्य कुछ व्यापारिक एवं गैर व्यापारिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। षष्ट 14 मई 1976 को हुए समझौते के अन्तर्गत पुनः राजदूतों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ।

उपरोक्त कारणों से दोनों देशों के मध्य दूरियां कम हुई तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की शुरुआत हुई। लेकिन 1977 में दोनों देशों में आन्तरिक परिवर्तन हुए। पाकिस्तान में 5 जुलाई 1977 में लोकतांत्रिक रुप से निर्वाचित भूट्टो सरकार का तख्ता पलट कर जरनल जियाउलहक ने सत्ता सम्भाल ली। परन्तु इस घटना का दोनों देशों के द्वितीय-पक्षीय मुद्दों पर नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। इसका प्रमुख कारण यह हुआ कि भारत में भी लम्बे अन्तराल के बाद कांग्रेस दल को सत्ता से बाहर कर जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार की विदेश नीति के एजेन्डा में 'पड़ोसियों से मधुर संबंध' बनाना वरीयता का विषय था। अतः पाकिस्तान से भी संबंधों को सुधारना चाहते थे। इसीलिए शायद जियाउलहक द्वारा भुटटों को म त्युदंड देने को भी वहां का आन्तरिक मामला बताकर प्रतिक्रिया व्यक्त की। इसके अतिरिक्त, इस युग में दोनों देशों ने 'सलाल बिजली परियोजना' पर सहमति व्यक्त करते हुए संबंधों को और मधुर बना दिया। इस प्रकार,1972- 79 का युग दोनों के बीच तनाव रहित एवं मित्रता हेतु प्रयासरत संबंधों का युग माना जा सकता है।

4. **उतार-चढ़ाव का दौर, (1980-98)** यह काल पुनः संघर्ष काल के रूप में उभर कर आया, जिसमें एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ दोनों ही देश परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी में आ खड़े हुए। इस प्रकार इस काल में अनेक प्रकार के घटनाक्रम हुए जिससे दोनों देशों में तनाव व शान्ति का मिश्रित दौर चला।

इनके बीच तनाव बढ़ने के ये प्रमुख कारण थे - प्रथम ,1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेप कर शीतयुद्ध को इन दोनों राष्ट्रों के करीब ला दिया। परन्तु इसका लाभ पाकिस्तान को मिला क्योंकि पाकिस्तान इस समय अमेरिका की रणनीति वाला अग्रिम राष्ट्र बन गया। इसी कारण इसे अमेरिका से भरपूर आर्थिक सहायता एवं हथियार

प्राप्त हुए जिससे भारत के विरूद्ध इसकी स्थिति मजबूत बन गई। दूसरी ओर इस घटनाक्रम से भारत व सोवियत संघ के बीच रिश्तों में दरारें पड़ गई क्योंकि भारत इस समस्या को राजनैतिक द ष्टि से हल करने का पक्षधर था, न कि सैन्य साघनों द्वारा। द्वितीय इस काल में पाकिस्तान ने न केवल पंजाब व कश्मीर में आंतकवादियों को सहायता प्रदान की, अपितु अपने क्षेत्र में आंतकवादी प्रशिक्षण शिवरों का आयोजन भी किया। यद्यपि सिंध व बलुचिस्तान में हो रहे अलगाववादियों के आन्दोंलनों को सहायता प्रदान करने के भी आरोप पाकिस्तान ने भारत पर लगाये, जो प्रमाणिक नहीं थे। इस प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों के कारण दोनों के मध्य दूरियाँ अवश्य उत्पन्न हो गई। त तीय, अफगानिस्तान की घटना के पश्चात दोनों देशों के मध्य हथियारों की होड़ को भी बढ़ावा मिला। एक और अमेरिका ने पाकिस्तान को 1979 में 400 मिलियन डॉलर (जो पाकिस्तान ने ठुकरा दी) 1981 में 4.2 बिलियन डॉलर तथा, 1988 में 402 बिलियन डॉलर की सहायता प्रदान की। अमेरिका ने इस सहायता के अन्तर्गत एफ 16 लड़ाकू विमान, सी हॉक प्रक्षेपास्त्र, आवाक्स पूर्व चेतावनी लड़ाकू विमान, साईडवाइडंर प्रक्षेपास्त्र, पनडुब्बियाँ आदि प्रदान की। दूसरी और भारत को भी पूर्व सोवियत से 1980 में 1.6 बिलियन डॉलर तथा 1981 में 3 बिलियन डॉलर के हथियारों की आपूर्ति के समझौतों पर हस्ताक्षर किए। चतुर्थ, दोनों देशों द्वारा परमाणु क्षमता विकसित व हासिल करना भी इन दोनों के गैर-मैत्रीपूर्ण संबंधों का परिचायक है। भारत द्वारा 1974 में पोखरन-I में शान्तिपूर्ण उद्देश्यों हेतु किए गए परिक्षण के पश्चात दोनों देशों में परमाणु शाक्ति प्राप्ति की होड़ लग गई। भारत के कार्यक्रमों के जवाब में पाकिस्तान ने विदेशों से चोरी की गई तकनीकों के माघ्यम से अब्दुल कादिर खान के नेत त्व में 1984 में परमाणु कार्यक्रमों हेतु 'यूरेनियम संवर्द्धन' क्षमता तथा 1979 में परमाणु बम्ब की क्षमता प्राप्त कर ली। इससे दोनों के बीच सन्देह की स्थिति और गम्भीर हो गई। पंचम, परमाणु क्षमता के साथ-साथ प्रक्षेपास्त्र विकसित करने हेतु भी दोनों में होड़ लग गई। जहां भारत ने अपने 'एकीक त प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम' के माध्यम से माध्यम से पाँच-अग्नि, प थ्वी, त्रिशुल, नाग, आकाश-प्रक्षेपास्त्र विकसित करने के प्रयास किए, वहीं पाकिस्तान ने चीन व उत्तरी कोरिया से प्रक्षेपास्त्रों का आयात चोरी छिपे मंगाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रक्रिया ने भी दोनों के मध्य अविश्वास प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। षष्ट, हिन्दमहासागर में बाह्य ताकतों की सेनाओं की उपस्थिति को लेकर भी दोनों के विरोधी द ष्टिकोण रहे। भारत इस क्षेत्र के सैन्यीकरण के हमेशा विरूद्ध रहा है, जबकि अफगानिस्तान के सन्दर्भ को लेकर अमेरिका इस क्षेत्र में 19 देशों की एक 'सामरिक केन्द्रीय कमाण्ड' व्यवस्था का पाकिस्तान एक सदस्य रहा। सप्तम 1984 से 1987 तक सियाचीन ग्लेशियर को लेकर भी भारत व पाकिस्तान के मध्य विवाद की स्थिति बनी रही। यह क्षेत्र सामरिक रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस पर 1947 से 1984 तक भारत का कब्जा रहा, परन्तु 1984 में अचानक पाकिस्तान द्वारा कब्जा करने की कोशिश से दोनों के बीच विवाद उत्पन्न हो गया। यद्यपि 1987 में यह शान्त हो गया, लेकिन इसका पूर्ण हल दोनों की सीमाओं के आंकलन के बाद ही हो पायेगा। अष्टम 1987 में दोनों देशों द्वारा परस्पर किया जाने वाला वार्षिक सैन्य अभ्यास भी तनाव का कारण बन गया था। भारत ने तीन वर्ष बाद पाकिस्तान सीमा के निकट 1987 में ब्रासटेक 'नामक सैन्य अभ्यास करने की योजना बनाई। भारत इस महत्वपूर्ण अभ्यास के द्वारा अपने सभी आधुनिकतम शस्त्रों की विश्वसनीयता जानना चाहता था। परन्तु पाकिस्तान को इससे खतरे की आशंका हो गई तथा उसने भी अपनी सीमा में 'जरबेमोमिन' अभ्यास शुरू कर दिया। अतः दोनों द्वारा किये जाने वाले अभ्यास से एक बार फिर युद्ध की सम्भावनाएँ दिखाई देने लगी।

उपरोक्त विषयों पर मतभेदों का अर्थ यह नहीं था कि दोनों देशों कें मध्य आम सहमति का बिल्कुल अभाव था। बल्कि कुछ मुददों पर दोनों के बीच इस समय में समझौते ते भी हुए एक दूसरे के परमाणु संयन्त्रों पर हमला न करने, सैन्य अभ्यासों की पूर्व जानकारी देने सैन्य डायरेक्टरो के मध्य सीधी टेलीफोन सेवा, वायु सीमा के प्रयोग की अनुमति, रासायनिक हथियारों के प्रयोग पर निषेध आदि मुद्दों पर दोनों के बीचे पूर्ण सहमति बन गई। परन्तु कुछ मुद्दों पर सहमति बनाने के प्रयास दोनों देशों को करने पड़ेंगे।

शीतयुद्धोत्तर युग में जहां सारी दुनिया में मूलभूत परिवर्तन देखने को मिले वैसी स्थिति भारत-पाक संबंधों में द ष्टिगोचर नहीं रही। ऐसा शायद इसलिए नहीं हो सका क्योंकि दोनों के मध्य अवरोधक पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुए थे। इसके अतिरिक्त, विभिन्न विश्वास पैदा करने वाले कदमो का विकास तथा विभिन्न द ष्टिकोणो में परिवर्तन अभी तक शायद नहीं हो पाया था। निम्नलिखित तत्वों ने इस प्रकार के संबंधों हेतु प्रमुख कारकों का कार्य किया-प्रथम, शीतयुद्धोत्तर युग में कश्मीर में आतंकवाद तथा उसे सीमापार से सहयोग की प्रक्रिया में बदलाव नहीं आया। द्वितीय दोनों देशों ने अपनी पुरानी वैमनस्य पूर्ण नीतियों का त्याग नहीं किया। त तीय 6 दिसम्बर 1992 की बाबरी मस्जिद तोड़ने की घटना ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक ताकतों को और

मजबूत किया। चतुर्थ, 12 मार्च 1993 में हुए बम्बई बम्ब विस्फोटो ने धार्मिक कट्टरता को चरम सीमा पर पहुंचा दिया। पंचम पाकिस्तान द्वारा अमेरिका से हथियार प्राप्त करने के कारण दोनों देशों के मध्य अविश्वास और बढ़ गया। षष्ट, सोवियत संघ के विघटन के बाद पाकिस्तान मध्य एशियाई बनाने गणराज्यों के साथ विशिष्ट गठबन्धन बनाने में लीन हो गया। अतः इन सभी कारणों से शीतयुद्धोत्तर युग में शान्ति का लाभांश भारत व पाकिस्तान संबंधों तक नहीं पहुँचा।

भारत में संयुक्त मोर्चा की सरकार, निशेषकर इन्द्रकुमार गुजराल के समय द्वारा पड़ोसियों से मित्रता पूर्वक सबंधो हेतु 'गुजराल सिद्धान्त' स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत अपने पड़ोसियों को एक तरफा रियायत देकर भारत ने उनसे मधुर संबंधों का प्रयास किया। इस प्रयास के बावजूद कश्मीर, सियाचीन, बुलर, टुलबुल सिंचाई परियोजना, सर क्रिक आदि समस्याओं के स्थाई समाधान के बिना दोनों देशों के बीच दूरगामी संबंधों की कामना करना व्यर्थ है। इस प्रकार शीतयुद्धोत्तर युग में भी कई मुद्दों पर दोनों देशों की समान बाध्यताएँ एवं जरूरतें होने के बावजूद भी दोनों के बीच महत्वपूर्ण अवरोधक तत्व व्याप्त हैं। भविष्य में दोनों के बीच मधुर संबंधों एवं मित्रता हेतु बाहय एवं आन्तरिक तत्वों में परिवर्तन होना अनिवार्य है, वरना शीतयुद्धोत्तर युग में भी इस दोनों राष्ट्रो के बीच शीतयुद्ध जैसी स्थिति जारी रहेगी।

मई 1998 में हुए पोखरण-II व छगाई में हुए परमाणु विस्फोटो के बाद यह परिवर्तन देखने को मिला। शायद पहली बार दोनों शस्त्र होड़ में एक दूसरे से बराबरी पर आ गये थे। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का सामना भी दोनों को ही समान रूप से परेशान कर रहा था। शायद इसी कारण से दोनों वार्ताओ हेतु सहमत हो गए। फरवरी 1999 में वाजपेयी की लाहौर यात्रा व बस राजनय के अन्तर्गत दोनों के मध्य लाहौर घोषणा पत्र, सहमति के ज्ञापन, एवं संयुक्त वक्तत्व पर आम सहमति बन सकी। अतः इस उतार-चढाव के दौर में दोनों के वैमनस्य संबधो से सदभावना तक की यात्रा कई कारकों के सकारात्मक व नकारात्मक परिणामों के कारण हुई।

कारगिल युद्ध से पुनः संबंध स्थापना तक (1999-2003)

लाहौर यात्रा से उत्पन्न आशावादी संबंधों की परिणिति अधिक देर तक न रह सकी। लाहौर भावना के क्रियान्वयन से पूर्व ही पाकिस्तान द्वारा भारत पर कारगिल युद्ध थोंप कर आपसी संबंधों को पुनः वैमनस्य पूर्ण बना दिया। कई सन्दर्भो में यह युद्ध 1948, 1965, 1971 के समकक्ष ही था। इस युद्ध ने यह भी साबित कर दिया कि भारत-पाक संबंधों में हमेंशा संघर्ष से शान्ति व फिर संघर्ष ही मात्र विकल्प है सहयोग नहीं।

यहां यह महत्वपूर्ण नहीं है कि किन कारणो से पाकिस्तान ने भारत पर युद्ध किया या भारतीय गुप्तचर व्यवस्था पाकिस्तान की इस घुसपैठ के बारे में समय पर पता क्यो नहीं लगा सकी। यह भी अब ज्यादा अर्थ नहीं रखता कि भारत ने पूरा संयम बरतते हुए किस प्रकार अन्ततः पाकिस्तानी सेना को नियन्त्रण रेखा के पार भेजा तथा अपना क्षेत्र खाली कराने में सफलता प्राप्त की। परन्तु यह सत्य है कि उपरोक्त युद्ध के बहुत से निकटवर्ती एवं दूरगामी परिणाम निकले जिनका दोनों देशों के संबंधों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इनमें से मुख्य केन्द्र बिन्दु बातें निम्न रही-प्रथम इस युद्ध से यह भ्रम टूट गया कि देनों देशों की परमाणु क्षमता इनके मध्य एक निरोधक का कार्य कर सकती है। द्वितीय इससे लाहौर भावना के शान्ति व सुरक्षा पर पडने वाले दूरगामी प्रभावों का अन्त हो गया अर्थात लाहौर भावना निरस्त हो गई। त तीय, कटटरवाद का गम्भीर खतरा भारत के निकट पड़ोस में स्थापित हो गया। चतुर्थ पाकिस्तान द्वारा मुजाहीदीन, तालिबान एवं कई इस्लामी संगठनों के तालमेल से यह संकेत मिले कि अब यह संकट दोनों देशों की सीमाओं तक सीमित नह रह कर पश्चिमी एवं मध्य एशियाई गणराज्यों एवं दक्षिण एशिया से जुड़कर अत्यन्त गम्भीर बन गया। पंचम इससे भारत-पाक विवादों के अन्तर्राष्ट्रीय करण एवं बाहय हस्तक्षेप की सम्भावनाएं बढ़ गई। अन्ततः इस युद्ध ने भारत-पाक संबंधों में पिछले कुछ वर्षो से स्थापित सभी विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमो की पहल को समाप्त कर दिया।

कारगिल युद्ध के तुरन्त बाद 12 अक्तूबर 1999 में पाकिस्तान में निर्वाचित सरकार का तख्ता पलट कर सैनिक शासन की स्थापना हो गई। इस प्रक्रिया से दोनों के रिश्तों में सुधार की सम्भावनाओं को और धक्का लगा। पाकिस्तान के सैनिक शासक जरनल परवेज मुशरफ की कारगिल युद्ध में मुख्य भूमिका के कारण मामलों और गम्भीर हो गया। आतंकवादी घटनाओ में और बढ़ोतरी होने लगी। 1 अक्टूबर को जम्मु विधानसभा पर आतंकवादी हमले एवं दिसम्बर में आई सी-814 विमान के कन्धार अपहरण ने संबंधों में और कड़वाहट पैदा कर दी। यह तनाव का दौर पूरे वर्ष 2000 में बना रहा।

इस तनावपूर्ण स्थिति को सामान्य करने हेतु, कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के कारण शायद भारत ने रिश्तों में सुधार की

पहल की। इस पहल के अन्तर्गत 14,16 जुलाई 2001 में 'आगरा शिखर वार्ता' का आयोजन किया गया। भारत द्वारा इस यात्रा की सफलता की कामनाओं के बावजूद यह सम्मेंलन विफल रहा। इसकी विफलता में कई कारणो का योगदान रहा जिनमें मुख्य रूप से वार्ताओं के प्रारम्भ होने से पूर्व विषय सूची तय करना; जनरल मुशर्रफ द्वारा कश्मीर को केन्द्र बिन्दु मानना; भारत में आकर भी पाकिस्तानी शासक द्वारा राजनयिक प्रोटोकॉल का पालन न करना आदि। यद्यपि यह सम्मेलन विफल रहा लेकिन सरकार ने अपनी सफाई में इसे वार्ताओं की पहल प्रक्रिया में रूप में लिया।

इससे भी गम्भीर मामला 13 दिसम्बर 2001 को पाकिस्तानी आतंकवादियों द्वारा संसद पर किया गया हमला था। इस हमले के परिणामस्वरूप दोनों देशों के संबंध सुधार की प्रक्रिया को गहरा आघात पहुंचा। इसके कारण दोनों देशों के मध्य बस, रेल व हवाई सेवाये बन्द कर दी गई, भारतीय उच्चायुक्त को वापिस बुला लिया गया, उच्चायोग में स्टाफ की संख्या आधी कर दी गई, तथा दोनों देशों के परस्पर वायुमार्गों के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया। इस सबसे गम्भीर भारत ने सीमाओं पर फौजों की तैनाती के साथ ''ऑपरेशन पराक्रम'' शुरू कर दिया। दोनों देशों के बीच तनाव और बढ़ गया। दोनों देशों द्वारा परस्पर प्रक्षेपास्त्रों के परीक्षणों को तीव्र करने से दोनों के बीच होड़ बढ़ गई। दोनों के मध्य बातचीत बिल्कुल समाप्त हो गई। परन्तु कई अन्तर्राष्ट्रीय दबावों, संसांधनों पर बढ़ते खर्च सेना की तैनाती से विशेष परिणाम न आने आदि कारणो से शायद 16 अक्टूबर 2002 को फौजों की वापसी शुरू हो गई। अन्ततः 18 अप्रैल 2003 को श्रीनगर में अपनी आम सभा में प्रधानमंत्री वाजपेयी ने पुनः पहल कर पाकिस्तान की ओर दोस्ती का हाथ बढाया है। इसके बाद दोनों के बीच बस सेवा प्रारम्भ हो गई है। रेल यातायात व वायुमार्ग भी जल्द खुल जायेंगे। दोनों देशों के उच्चायुक्तों ने अपना-अपना कार्यभार सम्भाल लिया है। इन सभी विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों के बावजूद भी दोनों देशों के बीच रिश्तों को सामान्य करने हेतु समय लगेगा।

भविष्य में भारत व पाकिस्तान के संबंधों का सामान्य एवं अन्ततः मधुर होना विभिन्न कारको की भूमिकाओं पर निर्भर करेगा-प्रथम पाकिस्तान में प्रजातन्त्र की बहाली दोनों देशों के दूरगामी एवं स्थाई रिश्तों के लिए अति अनिवार्य है। द्वितीय, दोनों ही देश तीसरे देश की मध्यस्थता से कितना ही इन्कार करे, परन्तु दोनों ही आज अमेरिका की भूमिका से काफी हद तक प्रभावित हुए है। त तीय, वर्तमान समय में दोनों देशों के आर्थिक कारकों का दबाव समूह के रूप में कार्य करना भी इनके संबंधों में बदलाव ला सकता है। चतुर्थ दोनों ही देशों को कश्मीर समेत सभी मुददों पर एक समग्र रूप में प्रयास हेतु एक दिशा निर्देश पर सहमति व्यक्त करनी होगी। पंचम, दोनों देशों को नियन्त्रण रेखा के सही निर्धारण एवं आंकलन पर सहमत होना होगा। अन्ततः दोनों देशों द्वारा शिमला समझौता एवं लाहौर घोषणा के ढ़ाचो को स्वीकारते हुए उनकी भावनाओं के अनुरूप ही बातचीत का दायरा तय करना पडेगा।

परन्तु वर्तमान संबंधों की स्थिति को देखते हुए यह सब इतना सरल नहीं लगता। दोनों देशों के संबंधों के इतिहास के देखते हुए भी इस प्रकार की सम्भावनाएं बहुत कम है। यद्यपि इनके जटिल मतभेदों से परस्पर द्विपक्षीय ही नहीं अपितु क्षेत्रीय व अन्यर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इसीलिए दोनों की परस्पर बाध्यताओं के साथ-साथ क्षेत्रीय एवं विश्वस्तरीय ताकतें भी इन पर दबाव बनाये हुए हैं परन्तु इन सबका कितना सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा तथा इनके भावी संबंध किसी प्रकार के होंगे यह सिर्फ समय ही बतायेगा।

भारत श्रीलंका सबंध (Indo-Sri Lanka Relations)

भारत व श्रीलंका के संबंधों में सहयोग एवं संघर्ष का मिश्रण देखने को मिलता है। दोनों ही एक ही क्षेत्र में स्थित होने के बावजूद भौगोलिक, सामरिक, संसाधनों के विकास, आर्थिक व राजनैतिक सन्दर्भो में विभिन्नता रखते हैं इसी प्रकार दोनों के विभिन्न राष्ट्रीय हित एवं प्राथमिकताओं के कारण उतार चढ़ाव देखने को मिलता है। कुछ हद तक दोनों के संबंधों में राजनैतिक विरासत एवं भौगोलिक सामीप्य से पडने वाले अधिप्लावन प्रभावों का असर भी देखने को मिलता है। अध्ययन की सुविधा हेतु इनके संबंधों को चार प्रमुख चरणों में वर्णन किया जा सकता है। जो इस प्रकार से है।

1. **मतभेदपूर्ण संबंध (1948-1956)-** श्रीलंका में संयुक्त राष्ट्रीय दल के प्रारम्भिक कार्यकाल के दौरान दोनों देशों की विरोधी विदेश नीति अभिमुखन के कारण दोनों के बीच मतभेद बने रहे। श्रीलंका जहां अंग्रेजी सैन्यगठबन्धन का हिस्सा रहा, अपने नौसैनिक व हवाई अडडों को इंग्लैड़ को प्रयोग हेतु देता रहा, वहीं भारत गुटनिरपेक्षता व सैन्य गठबन्धनों से दूरी की बात करता था। इसके अतिरिक्त, चीन व पाकिस्तान से श्रीलंका की मित्रता, सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेना, साम्यवाद के बारे में विचार, सोवियत उपनिवेशवाद की परिभाषा आदि मुददों पर भी दोनों के परस्पर विरोधी विचार थे। अतः दोनों देशों के मध्य मतभेद होना आवश्यक था।

इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि दोनों देश प्रत्येक मुददों पर मतभेद रखते थे। उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष, इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता, गुटनिरपेक्षता में आस्था, राष्ट्रमण्डल की सदस्यता, प्रवासी भारतीयों की समस्या के समाधान के सन्दर्भ में, सैन्य गठबन्धनो में शामिल होने जैसे कई ऐसे विषय थे जिन पर दोनों समान राय रखते है। शायद इसी कारण से 1954 में श्रीलंका में बसे तमिल भारतीयों की समस्या के समाधान हेतु नेहरू-कोटेलवाला समझौता हस्ताक्षरित हुआ। अतः कुल मिलाकर प्रारम्भिक वर्षो में दोनों देशों के संबंध मैत्रीपूर्ण तो नहीं थे परन्तु उन्हें वैमनस्य पूर्ण संबंधों की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

2. **मित्रतापूर्ण संबंध (1956-1976)**- श्रीलंका में एस.डब्ल्यू.आर.डी. भण्डारनायके (1956-59) तथा श्रीमती भण्डारनायके (1950-65) की सरकारों के समय दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों की शुरूआत हुई। सरकार की विदेश नीति भारतीय विदेश नीति से काफी हद तक समानता रखती थी। इस सरकार ने सत्ता में आते ही अपने यहां से नौसैनिक एवं हवाई अडडों के प्रयोग पर बाह्य शक्तियों को पूर्ण रूप से रोक दिया। इसके साथ-साथ इन्होंने गुट निरपेक्षता की नीतियों का बहुत सशक्त रूप से पालन किया। बाहय मसलो जैसे स्वेज संकट, तिब्बत मामला आदि विषयों पर भी भारत के रूख का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त, प्रवासी भारतीयों के विषय पर फिर श्रीमती भण्डारनायके-लालबहादुर शास्त्री समझौता हुआ ताकि बाकी बचे हुए पहलुओं को हल किय जा सके।

   इस काल में संबंधो को सुद ढ़ बनाने की दिशा में नेहरू ने मई 1957 में तथा श्री भण्डारनायके ने नवम्वर 1956 तथा दिसम्वर 1957 में परस्पर एक दूसरे के यहाँ यात्राएँ की। सहयोग की प्रतिकीया को आगे बढाते हुए श्रीलंका ने कई बिषयों पर भारत की पहल का साथ दिया। 1960 में गोवा के विषय पर भी श्रीलंका ने भारत के समर्थन में अपनी प्रतिक्रिया दी। गुटनिरपेक्षता की नीति का भी बहुत ही स्पष्टता से अनुसरण किया। प्रवासियों की समस्या हेतु 1964 में दोबारा श्रीलंका व भारत के बीच समझौता हुआ।

   1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने पर उसे आक्रमणकारी घोषित नहीं करने पर दोनों के बीच मतभेद भी उभरे। लेकिन इस समस्या का दूसरा पहलू यह भी है कि इस आक्रमण के पश्चात श्रीलंका की पहल पर ही छः गुटनिरपेक्ष देशों का कोलम्बो में सम्मेंलन बुलाया गया ताकि इस समस्या का समाधान किया जा सके। यद्यपि यह सम्मेंलन बहुत सफल नहीं रहा क्योंकि समस्या का कोई समाधान नहीं निकला। परन्तु इस पूरे प्रकरण में श्रीलंका की सकारात्मक पहल व भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

   श्रीमती भण्डारनायके की सरकार की हार के बाद 1965-70 तक डुडले सेनानायके सरकार का गठन हुआ परन्तु अन्ततः दोबारा श्रीमती भण्डारनायके सत्ता में आ गई। इस कार्यकाल (1970.1977) में भी दोनों के मध्य सहयोग विकसित हुआ। सर्वप्रथम दोनों देशों के प्रयास से ही दिसम्बर 1971 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा हिन्दमहासागर को 'शान्तिक्षेत्र' घोषित कर दिया। द्वितीय, श्रीलंका में सरकार विरोधी गतिविधियों को दबाने में सन्दर्भ में भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। त तीय, 1974 में भारत ने उदारता दिखाते हुए कच्छद्वीप का टापू श्रीलंका को सौंप दिया। चतुर्थ, 1971 के भारत पाक युद्ध के दौरान श्रीलंका ने तटस्थता का रूख अपनाया। अन्तः जातीय समस्या को हल करने हेतु दोनों देशों ने 1974 में इन्दिरा गाँधी -भण्डारनायके संयुक्त प्रयास एवं समझौते के आधार पर इसे स्वीकृत किया गया। अतः यह कार्यकाल दोनों देशों के सम्बन्धों का अत्यन्त मधुर काल रहा है।

3. **तनावपूर्ण संबंध 1977-1994)**- इस काल में जयावर्द्धने (1977-87) एवं प्रेमदासा (1988-93) की सरकारों के कार्यकाल में तमिल प्रवासियों की समस्या ने एक महत्वपूर्ण मुददा बन कर दोनों देशों के मध्य तनावपूर्ण संबंध बनाये रखे। 1981 व 1983 के तमिल-सिंहली दंगो ने 1958 व 1977 में हुए दंगों की पुनराव त्ति ही नहीं की बल्कि उसके घोर निराशावादी स्वरूप का प्रदर्शन किया। इस समस्या की गम्भीरता व बाद में तमिलवासियों द्वारा अलग तमिल राज्य की मांग को लेकर श्रीलंका में काफी खून बहा। भारत भी इसके अधिप्लावन प्रभाव से नहीं बच सका। इसीलिए श्रीलंका एवं भारत सरकार के मध्य हमेशा तनाव की स्थिति बनी रही।

   इस समस्या को सुलझाने हेतु दोनों देशों के बीच 26 मई 1987 को राजीव गांधी-जयावर्द्धने समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते की धाराओं 2.14 - 2.16 (C) के अन्तर्गत भारत ने श्रीलंका में शान्ति सेना भेज दी। इस शान्ति सेना को भेजने का सरकार के एक गुट ने विशेषकर प्रधानमंत्री प्रेमदासा ने खुल कर विरोध किया तथा कई बार मांग उठाई कि शान्ति सेना को वापिस लिया जाए। उधर दूसरी ओर तमिल संगठनों जैसे एल0 टी0 टी0 ई0 आदि ने भी इसका विरोध किया

क्योंकि भारतीय सेना श्रीलंका के सैनिको के साथ इसके विरूद्व लडाई लड़ रही थी। श्रीलंका में यह रोष सरकार व तमिलों के साथ-साथ वहां के आम नागरिकों में भी देखने को मिला। उदाहरणस्वरूप, जब राजीब गांधी ने श्रीलंका की राजकीय यात्रा की तब 30 जुलाई 1987 को सलामी गारद के एक सिपाही ने राजीव गांधी पर जान लेवा हमला कर दिया। अतः प्रेमदासा के राष्ट्रपति बनते ही भारत द्वारा बिना कार्य सम्पन्न किए अपनी शान्ति सेना को वापिस बुलाना पड़ा।

अतः इस युग में दोनों देशों के संबंध अत्यन्त तनावपूर्ण रहे। इस समय में भारत की छवि धूमिल होने के साथ-साथ दोनों के संबंधों पर भी प्रतिकूल असर पड़ा। पहले तो श्रीलंकावासी ही शायद भारत को एक उग्र एवं शक्ति पर आधारित राष्ट्र के रूप में देखते थे, परन्तु राजीव-जयवर्द्धने समझौते के बाद तो तमिल में भारत की छवि खराब हो गई। शायद इसीलिए निकट पड़ोसी एवं एक ही जाति के लोगों की बडी संख्या के बावजूद भारत की भूमिका अब प्रभावी नहीं रही। राजीव गांधी की हत्या में भी एल0 टी0 टी0 ई0 के उग्रवादियों का हाथ होने के कारण अब भारत ने उन लोगों की समस्याओं के बारे में सोचना छोड़ दिया तथा न ही भारत का कोई प्रभाव अब इन संगठनों पर शेष है।

4. **मधुर सम्बन्धो की पुनः वापसी, 1994 - 2003 -** सन,1994 में श्रीलंका में सत्ता परिवर्तन के बाद श्रीमती चन्द्रिका कुमार तुंगा (सुपुत्री श्री व श्रीमती भण्डारनायके) के शासन की बागडोर सम्भालने (अगस्त में प्रधानमंत्री एवं नवम्बर में राष्ट्रपति) के बाद दोनों देशों के रिश्तों में तेजी से सुधार हुआ। इस प्रकार श्रीमती तुंगा ने एक बार फिर अपने पिता एवं माता के कार्यकाल की तरह दोनों के बीच अच्छे संबंध बनाने के प्रयास किए।

सत्ता परिवर्तन के बाद श्रीलंका के विदेश मंत्री ने अक्टूबर 1994 में भारत की यात्रा कर आपसी सहयोग के मुददों पर विश्वसनीयता बढ़ाने की कोशिश की। श्रीमती कुमार तुंगा द्वारा 1995 में राजकीय व 1996 में गैर राजकीय यात्राओं ने दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय सहयोग को गति प्रदान की। इसी समय भारत द्वारा भी 'गुजराल सिद्धांत' के द्वारा पड़ोसियों से वरीयता के आधार पर संबंध सुधारों की बात हो रही थी। अतः दोनों के मधुर संबंध होना अनिवार्य हो गया। द्विपक्षीय के आधार के साथ-साथ भारत के क्षेत्रीय सन्दर्भ में भी श्रीलंका से अच्छे संबंधों का प्रयास किया। मूलतः यह प्रयास दक्षेस के माध्यम से किया। परन्तु इसके साथ-साथ 1997 से 'बांग्लादेश, भारत, म्यंमार, श्रीलंका, थाईलैंड आर्थिक सहयोग (बी0 आई0 एम0 एस0 टी0 ई0 सी0) एवं 'हिन्दमहासागर टिम-क्षेत्रीय सहयोग संगठन (आई० ओ० सी० ए० आर० सी०) के माध्यम से भी सहयोग विकसित करने के कारगर प्रयास किए।

भारत में 1998 में राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक गठबन्धन की सरकार आने के वाद भी इनके संबंधों में सुधार जारी, रहे क्योंकि यह नई सरकार भी पड़ोसियों से मधुर संबंधों की पक्षधर है। मई 1998 में पोखरन II घटनाक्रम का भी दोनों देशों के संबंधों पर प्रतिकूल असर नहीं पड़ा। श्रीमती कुमार तुंगा द्वारा दिसम्बर 1998 में की गई भारत की यात्रा इसका प्रमाण है। उनकी इस यात्रा के दौरान मुक्त व्यापार की ओर बढ़ने हेतु दोनों देशों ने कई द्विपक्षीय आर्थिक समझौते किए जिनके आधार पर काफी वस्तुओं को आयात निर्यात करने पर परस्पर कर-मुक्त कर दिया। इससे दोनों के व्यापार में बढ़ोतरी के साथ-साथ श्रीलंका का व्यापार घाटा कम होगा तथा क्षेत्रीय सहयोग को भी बढ़ावा मिलेगा। इन संबंधों को मजबूती प्रदान करने हेतु विदेश मंत्री जसवन्त सिंह ने जून 2000 तथा इससे पूर्व श्रीलंका के विदेश मंत्री लक्ष्मण कादिरगभार ने मई 2000 में भारत की यात्राएँ की। इन यात्राओं के दौरान भारत ने आर्थिक संबंधों में सुधार को आगे बढ़ाते हुए कुछ आर्थिक सहायता व कई वस्तुओं के आयात-निर्यात को सुगम बनाने के प्रयास किए।

श्रीलंका के चुनावों के बाद रानिल विक्रमसिंह ने प्रधानमंत्री बनने के बाद जून 2002 में भारत की चार-दिवसीय यात्रा की। यह यात्रा श्रीमति कुमार तुंगा की अप्रैल में की गई यात्रा के तुरन्त बाद थी। विक्रमसिंह ने इस दौरान एल० टी० टी० ई० के साथ नार्वे के माध्यम से हो रही शान्तिवार्ताओं का ब्यौरा देने के साथ-साथ द्विपक्षीय विभिन्न मुददों पर चर्चा एवं सहयोग बढ़ाने की कोशिश की। इस समय दोनों देश के बीच एक सहयोग के ज्ञापन पर हस्ताक्षर हुए। जिसके द्वारा भारतीय तेल कार्पोरेशन (आई ओ. सी.) को श्रीलंका के त्रिणकोमली बन्दरगाह पर तेल सुविधाओं के प्रयोग करने के साथ-साथ वहां के बाजारों में 100 खुद्रा केन्द्र खोलने की अनुमति मिल गई । द्वितीय, भारत श्रीलंका को 100 मिलियन डॉलर का नरम शर्तों वाला ऋण देने हेतु भी तैयार हो गया। त तीय, दोनों देश तमिलनाडु एवं उत्तरी श्रीलंका से जोड़ने वाले जमीनी पुल (एडमज ब्रिज) बनाने की सम्भावनाओं का पता लगाने हेतु एक अध्ययन दल के गठन पर सहमत हो गए। इस प्रकार, उपरोक्त समझौतो के आधार पर दोनों के संबंधों में और प्रगाढ़ता आई।

जुलाई 2003 में श्रीलंका की मंत्री परिषद् ने संसद में नागरिकता सम्बन्धित नया विधेयक लाने की घोषणा की है जिस पर सत्ता पक्ष एवं विरोधी दलों से मध्य सहमति है। इसके अन्तर्गत वर्तमान में रह रहे 1,68,141 भारतीय तमिलों को श्रीलंका की नागरिकता प्रदान की जायेगी। यदि यह कानून पास हो जाता है तो लम्बे समय से लम्बित भारतीय तमिलों की नागरिकता की समस्या समाप्त हो जायेगी, जिससे भारत-श्रीलंका संबंधों में सुधार होगा। वर्तमान में नार्वे की मध्यस्थता से चल रही श्रीलंका एल० टी० टी० ई० शान्ति वार्ता सफल हो जाती है तो काफी हद दोनों देशों के मध्य जातियता का संघर्ष समाप्त हो जायेगा। इससे दोनों देशों समाप्त हो जायेगा। इससे दोनों देशों के संबंध को व्यापाक आधार के साथ-साथ एक स्थाई निरोधक से राहत प्राप्त होगी।

उपरोक्त का यह आशय नहीं है कि अब दोनों देशों के मतभेद पूर्ण समाप्त हो गए है। बल्कि अभी भी कुछ विषयों पर दोनों को परस्पर विचार विमर्श करना अनिवार्य है। सर्वप्रथम, दोनों के आर्थिक संबधों में असंतुलन बना हुआ है। जिसे दूर करना अति अनिवार्य है। श्रीलंका की ओर बढ़ता व्यापार एक संकट का सूचक है। व्यापार के विभिन्नीकरण के साथ-साथ दोनों के मध्य व्यापार को अधिक तर्क संगत बनाना पड़ेगा। द्वितीय, दोनों देशों के मध्य तस्करी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। दोनों राष्ट्रों को समुद्री सीमा के खुलेपन की वजह से इनके मध्य कुछ अपराधिक तत्व तस्करी करते हैं। अन्ततः भारतीय तमिलों की समस्या भी कुछ समय पहले तक एक गम्भीर समस्या रही है। परन्तु वर्तमान कानून बनाने से काफी हद तक इस समस्या का समाधान हो जायेगा। अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि विभिन्न उतार-चढ़ाव के बावजूद वर्तमान समय में दोनों देशों के संबंधो का ग्राफ सकारात्मक परिवर्तन की ओर बढ़ रहा है। यदि श्रीलंका में तमिलों के साथ शान्ति स्थापित हो जाती है तथा आर्थिक संबधों में सुधार की प्रक्रिया जारी रहती है तो दोनों देशों के मधुर व स्थाई संबंधों की कामना की जा सकती है।

भारत-बांग्लादेश संबंध (Indo-Bangladesh Relations)

भारत-बांग्लादेश संबंधों की प ष्ठभूमि न केवल दो पड़ौसी राष्ट्रों के मध्य संबंधों तक सीमित है, बल्कि बांग्ला-देश की उत्पत्ति में भारत की विशेष भूमिका के सन्दर्भ के कारण भी महत्त्वपूर्ण है। कई विशेषज्ञ तो बांग्लादेश के जन्म में भारत की इस भूमिका की तुलना 'दाई' की भूमिका से करते हैं। यद्यपि भारत ने सर्वप्रथम बांग्लादेश को पूर्ण आजादी से पहले ही 6 दिसम्बर 1971को मान्यता प्रदान कर दी थी तथा 10 दिसम्बर 1971 को एक समझौता कर भारतीय सेना व मुक्तिवाहिनी की एक संयुक्त कमान भी बना दी थी, तथापि थोड़े समय बाद ही शेख मुजीबुर्रहमान की म त्यु के साथ स्थिति बदल गई। इस प्रकार दोनों के संबंधों में कई मुद्दों, विशेषकर गंगा के पानी के बटंवारे को लेकर, मतभेद भी उभर कर आये। इन दोनों के संबंधों का सुस्पष्ट अध्ययन हेतु तीन प्रमुख चरणों में आये बदलावों के आधार पर किया जा सकता है जो इस प्रकार से है।

1. **प्रमोदकाल 1971-1975-** भारत बांग्लादेश संबंधों का प्रथम चरण शेख मुजीबुर्रहमान के कार्यकाल (1971-75) को माना जा सकता है जिसमें दोनों राष्ट्रों के मध्य अति घनिष्ठ संबंधों का विकास हुआ। राजनैतिक रूप से, भारत ने बांग्लादेश को आजाद कराने हेतु ही मदद नहीं दी, अपितु बाद में भी सहयोग जारी रहा। 1972 में ही दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों ने एक दूसरे के यहां सद्भावना यात्राएं की। 19 मार्च 1972 को दोनों के बीच 25 वर्षीय मित्रता व सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। विदेश नीति के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में भी दोनों के द ष्टिकोणों में काफी समानताएं देखने को मिली। इसके अतिरिक्त, 1977 की भारत-पाक शिमला वार्ताओं में भी भारत ने बांग्लादेश के साथ पूर्ण सहयोग प्रकट करते हुए उसे सभी कार्यवाहियों से अवगत रखा। युद्धबन्दियों के सन्दर्भ में भारत-पाक समझौते (1973) वे भारत-पाक बांग्लादेश समझौते (1974) के द्वारा भी बांग्लादेश में सामान्य स्थिति बहाल करने के मित्रतापूर्ण प्रयास किए। अनतः 18 अप्रैल 1975 को एक अंतरिम समझौते द्वारा फरक्का विवाद सुलझाने का प्रयास किया। आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होते ही बाग्लांदेश को 25 करोड़ रूपये के माल व सेवाएँ प्रदान करने के वचन के साथ-साथ 50 लाख पौंड की विदेशी मुद्रा का ऋण दिया जिसकी अदायगी 5 वर्ष बाद 15 किस्तों में देने का प्रावधान किया। 1974 में दो आर्थिक एवं तीन कर्ज संबन्धित समझौते द्वारा भारत ने बाग्लादेश को 41 करोड़ के कर्ज दिए। भारत बांग्लादेश में चार सयुंक्त उद्यम लगाने पर सहमत हो गया। संयुक्त जुट आयोग की स्थापना तथा तस्करी रोकने के उपायों पर दोनों के बीच सहमति व्यक्त हुई।

   सास्कृतिक सहयोग हेतु भी 1972 के समझौते के माध्यम से दोनों देशों के बीच शिक्षा, संस्क ति, विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में आदान-प्रदान हेतु आम सहमति बनी। शिक्षण सामग्री,पुस्तक-पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं आदि के प्रकाशन सम्बन्धित सहयोग को विकसित करने को भी प्रोत्साहन दिया।

उपरोक्त मधुर संबधों के साथ कुछ विरोधी दलों ने भारत के बारे में भ्रामक प्रचार भी किया। बांग्लादेश के विदेश मंत्री ने भी अपने देश को दक्षिणपूर्व एशिया का भाग कहा। लेकिन विरोध के स्वर अधिक नहीं थे तथा न ही बहुत प्रभावी। परन्तु शेख मुजीबुर्रहमान की असामयिक हत्या ने बांग्लादेश की विदेश नीति, विशेषकर भारत-बांग्लादेश संबंधों को पूर्ण रूप से बदल दिया।

2- **उतार-चढ़ाव का दौर, 1975-1995-** यह दौर दोनों देशों के मध्य मतभेदों का काल ही रहा। कुछ वस्तुनिष्ठ एवं कुछ व्यक्तिपरक कारकों के कारण दोनों देशों के मध्य तालमेल का अभाव रहा। इस नकारानात्मक संबंधों हेतु कई प्रमुख कारण उत्तरदायी रहें-प्रथम, इस काल में ज्यादातर सरकारें मुजीबुर्रहमान के विरोधी गुटों की रही इसलिए उनकी विदेश नीति भी इनके विरोधी गुटों की रही इसलिए उनकी विदेश नीति भी इनके विरोधी स्वरूप वाली रही। द्वितीय, इस काल में बांग्लादेश की सरकारों का झुकाव पाकिस्तान से संबंध सुधारने पर भी लगा रहा। त त्तीय- 1970 व 1980 के दशकों में भारत की बढ़ती हुई सैन्य शक्ति के कारण भी वह इसे खतरे में देखने लगा। अन्तः देश की आन्तरिक राजनैतिक गतिविधियों के सन्दर्भ में भी कई बार सरकारों को भारत विरोधी नीतियां अपनानी पड़ी।

इस कार्यकाल में उतार चढ़ावों में प्रमुख रूप से कुछ विवादों की भूमिका भी रही। सर्वप्रथम, गंगा के पानी के बटवारे को लेकर फारक्का बाँध दोनों के मतभेदों का प्रमुख कारण बना। इस सन्दर्भ में 1975 में दोनों देशों के मध्य एक अल्पकालीन समझौता हुआ, फिर बाद में 29 सितम्बर 1977 को जनता दल की सरकार ने एक दीर्घकालीन समझौता हस्ताक्षरित किया। उस समय ऐसा लगा कि शायद अब यह विवाद समाप्त हो गया है। यह स्थिति 1982 तक चली, इसके बाद बांग्लादेश द्वारा आपत्ति करने पर इस समझौते का संशोधित रूप लागू हुआ। परन्तु 1988 में मतभेदों के चलते दोनों देशों के मध्य 1996 तक कोई समझौता नहीं रहा।

भारत व बांग्लादेश के मध्य कुछ अन्तः क्षेत्रों के विषय को लेकर भी विवाद रहा है। दो अन्तः क्षेत्र दाहाग्राम व अंगरपोटा के क्षेत्र में है परन्तु उन्हें बांग्लादेश से जोड़ने का कोई मार्ग नहीं था। इस हेतु बांग्लादेश को 1982 में 180 x 185 मीटर का तीन बीघे का गलियारा दिया गया। परन्तु मामला कोर्ट में जाने से लम्बीत पड़ गया और अन्तः यह समस्या 26 जून 1992 को भारत सरकार द्वारा बांग्लादेश को सौंपने के बाद हल हुई। इसके अतिरिक्त, चकमा शरणार्थियों, तस्करी, अवैध नागरिकों का भारत में रहना आदि कई ऐसे मुद्दे रहे जिसके कारण इस काल में दोनों के संबंध सामान्य नहीं बन पाये। दिसम्बर 1992 में बाबरी मस्जिद ध्वंस की प्रतिक्रिया भी बांग्लादेश में बड़ी तीव्र हुई। यद्यपि 1985 में दक्षेस की स्थापना से दोनों देशों को करीब आने के अवसर मिले, परन्तु इससे भी उत्पन्न सामीप्य दोनों देशों के रिश्तों को मित्रता में बदलने हेतु सक्षम नहीं रहा। यद्यपि दोनों के मध्य कहीं-कहीं तनाव में अवश्य कमी आई, परन्तु मुबीजबुर्रहमान काल जैसी मित्रता की पराकाष्ठा देखने को नहीं मिली।

3. **नई शुरूआत, 1996-2003:** 1996 में बांग्लादेश में शेख हसीना वाजिद (मुजीबुर्रहमान की बेटी) की सरकार तथा भारत में संयुक्त मोर्चा की सरकार के आने से दोनों देशों के संबंधों में भी महत्वपूर्ण बदलाव आये। दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों ने एक दूसरे की पात्रा की तथा सद्भावनापूर्वक फारक्का जल विवाद का निपटारा कर दिया। 12 दिसम्बर 1996 को हस्ताक्षरित इस 12-सूत्री 3० वर्षीय संधि के द्वारा 1 जनवरी से 31 मई तक के दोनों के बीच गंगा के पानी का बंटवारा सुनिश्चित कर दिया। इसके अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया कि यदि पानी का बहाव 7०,०00 क्यूसैक या इससे कम होगा तो दोनों देश समान बँटवारा करेंगे। यदि 70,000 से 75000 होगा तो बांग्लादेश 35,000 क्यूसैक लेगा व बाकी पानी भारत के पास रहेगा। अन्तिम रूप में, बहाव, 75,000 क्यूसेक या अधिक होने पर 40,000 क्यूसैक भारत लेगा तथा बचा हुआ पानी बांग्लादेश को दे देगा। इस प्रकार से इस समझौते के आधार पर एक गहन समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाल लिया गया। यद्यपि दोनों ओर के नागरिकों एवं विश्लेषणकर्ताओं द्वारा आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाते रहें है। परन्तु वस्तुनिष्ठ द ष्टि से देखें तो यह दोनों के लिए लाभकारी रहा।

इसी समय में 'गुजराल सिद्धांत' तथा दक्षिण एशिया व दक्षिण पूर्व में बांग्लादेश, श्रीलंका व भारत के रास्ते म्यंमार व थाईलैण्ड की ओर बढ़ते सहयोग से इन देशों में और नजदीकियां विकसित हुई। लेकिन कुछ मुद्दों को लेकर मतभेद आज भी बरकरार है। सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा अवैध रूप से भारत में रह रहे बांग्लादेशियों का है। इसके अतिरिक्त, पूर्वी राज्यों की ओर से सीमांकन का मुद्दा भी गहन है। यह विशेष सन्दर्भ में बांग्लादेश द्वारा भारतीय सीमा सुरक्षा बल के दो जवानों को मौत के घाट उतार देने से और गरमा गया। इसके अतिरिक्त, पूर्वी राज्यों के उग्रवादी संगठनों को बांग्लादेश में शरण

देना एवं उनके प्रशिक्षण शिवर चलाने से दोनों के बीच तनाव और बढ़ गया है। उग्रवाद के मुद्दे पर भी दोनों के रूख में अन्तर है, विशेषकर मुस्लिम कट्टरवाद को लेकर। बांग्लादेश में आन्तरिक राजनीति, विशेषकर चुनाओं के संदर्भ में, ने भी दोनों के संबंधों में गिरावट लाने का कार्य किया है। अन्तः दोनों के मध्य स्थित 4095 किला लम्बी सीमा रेखा का आकल्न नहीं अपितु पूर्णतया रोकथाम के इन्तजाम करना भी अति आवश्यक है क्योंकि इसने कई जटिल समस्याओं को जन्म दिया है।

अतः भविष्य में दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों हेतु इन्हें संकीर्ण द ष्टिकोणों को त्याग कर सकारात्मक रूख अपनाना होगा। दोनों देशों को दूरगामी द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं विश्व सन्दर्भ के ब हत् दायरे में आकर कार्य करना होगा। वर्तमान में बढ़ती हुई आर्थिक सहयोग की आवश्यकता को समझना होगा। दोनों देशों के जन मानस को करीब लाना होगा। इस द ष्टि से कलकता-ढाका बस योजना एक कारगर कदम है। आवश्यकता दोनों देशों के राजनीतिज्ञों को संवेदनशील एवं विवेकपूर्ण नीतियों का अनुसरण करने की है। यद्यपि दोनों के मध्य कोई महत्वपूर्ण निरोधक तत्व नहीं है, तथापि वर्तमान सम्बन्धों को सही प्ररिप्रेक्ष्य में ढालने की आवश्यकता है।

भारत-नेपाल संबंध

(Indo-Nepal Relations)

भारत व नेपाल के बीच गहन ऐतिहासिक, सांस्क तिक, धार्मिक व भौगोलिक समानताओं के साथ-साथ 1700 किलोमीटर की खुली सीमाएँ हैं। जहां एक ओर नेपाल भारत के लिए अति महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति वाला देश है, वहीं दूसरी ओर नेपाल का भू-बद्ध राष्ट्र होना इसे काफी हद तक भारत पर निर्भर बना देता है। द्विपक्षीय स्थिति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव भी इस क्षेत्र पर देखने को मिलता है। अतः दोनों के रिश्तों में उतार-चढ़ाव मिलते है जिनका आकलन निम्न चरणों में किया जा सकता है।

1. **मित्रतापूर्ण प्रारम्भ, 1947-55:** भारत-नेपाल संबंधों का आरम्भ सुखद एवं मैत्रीपूर्ण तरीके से हुआ। दोनों के मध्य इस प्रकार के संबंधों हेतु कई कारक जिम्मेंदार रहे- **प्रथम,** दोनों के मध्य 1947 में मित्रता की नई संधि होने तक 'यथास्थिति' बनाए रखी तथा 1923 की अंग्रेजों के काल की संधि को जारी रखा। द्वितीय, स्वतंत्र भारत की सेना में गोरखा लोगों की भर्ती पहले की भांति जारी रही। त तीय, नेपाल के संविधान निर्माण में सहायता हेतु भारतीय राजनीतिज्ञ श्री प्रकाश को उनकी मदद हेतु भेजा। चतुर्थ 1950 में भारत -नेपाल मैत्री संधि पर हस्ताक्षर हुए। पंचम, भारत ने नेपाल की शांति व सुरक्षा हेतु ''सैन्य चौंकिया स्थापित की। षष्ठ, नेपाल में राणाशाही के अंत में भी भारत ने सहयोग प्रदान किया। सप्तम, भारत ने नेपाल की सुरक्षा को भारतीय सुरक्षा व्यवस्था का अंग ही माना। अन्ततः भारत ने नेपाल को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता दिलाने हेतु केवल प्रयास ही नहीं किए अपितु 1955 में उसे यह सदस्यता भी दिलवाई।

   इन कारणों से दोनों देशों में घनिष्टता बन गई, इसलिए भारत ने नेपाल की आर्थिक, विज्ञान एवं सैन्य क्षेत्रों में सहायता करनी शुरू कर दी। उदाहरणस्वरूप, भारत ने नेपाल हेतु 37 करोड़ की लागत से कोसी नदी पर बांध बनवाया, जिससे नेपाल को मुफ्त बिजली एवं सिंचाई की सुविधाओं की आपूर्ति कराई। भारत के प्रति उदगार व्यक्त करने हेतु 1955 में नेपाल के महाराजा ने भारत की यात्रा भी की। अतः यह युग दोनों के मधुर संबंधों का समय रहा।

2. **परिवर्तन का युग, 1955-62**-इस युग में नेपाल का चीन की ओर झुकाव होने के कांरण भारत से संबंधों में परिवर्तन आने शुरू हो गए। भारत ने आर्थिक एवं अन्य सहायता व सहयोग के माध्यम से इन संबंधों में आई गिरावट को रोकने के प्रयास भी किए, परन्तु सफल नहीं हो सका। इन परिवर्तित संबंधों हेतु शायद भारत व नेपाल दोनों ही उत्तरदायी थे। भारत द्वारा (1954) चीन के साथ व्यापारिक संधि में तिब्बत स्वायत क्षेत्र को चीन का हिस्सा मान लेने से शायद नेपाल को आशंका होनी शुरू हो गई। दूसरी ओर अब नेपाल को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता मिल चुकी थी सो वह अकेले भारत की ओर ही झुकाव न करके अपने रिश्तों को दोनों देशों के मध्य संतुलित रखना चाहता था।

   नेपाल के चीन की ओर बढ़ते कदमों की झलक उसकी विभिन्न नीतियों से स्पष्ट हो जाती है। प्रथम, नेपाल के प्रधानमंत्री ने 1956 में चीन की यात्रा की। द्वितीय, नेपाल व चीन के बीच 20 सितम्बर 1956 को मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए गए। त तीय, चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई ने भी 1957 में नेपाल की यात्रा की। चतुर्थ, 5 अक्टूबर 1961 को चीन व नेपाल के बीच सीयमा समझौते पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें भारत की कोई सलाह नहीं ली गई। अन्ततः, चीन-नेपाल समझौते

के कारण चीन ने ल्हासा से काठमांडू तक न केवल सड़क तैयार कर ली अपितु नेपाल को सैन्य व आर्थिक सहायता भी देना प्रारम्भ कर दिया।

नेपाल के मधुर होते चीन संबंधों से भी अधिक आश्चर्य भारत को तब हुआ जब महाराजा महेन्द्र ने बी.पी. कोईराला की प्रजातांत्रिक तरीके से चुनी सरकार को 15 दिसम्बर 1960 को भंग कर दिया। यद्यपि भारत-नेपाल के राजनेताओं ने परस्पर यात्राएँ भी की, परन्तु नेपाल की विदेश नीति में कोई बदलाव नहीं आया। राजा महेन्द्र ने सितम्बर 1961 में चीन की भी यात्रा की। दोनों के संबंधों का निम्नतम स्तर जब आया तब 1962 में भारत -चीन युद्ध में पूर्णरूप से तटस्थ रहा तथा चीन की किसी भी कार्यवाही की निंदा नहीं की। अतः यह युग भारत-नेपाल की बजाय नेपाल-चीन मधुर संबंधों का युग था तथा लगभग इसी समय में भारत व चीन के रिश्तों में भी दरार आना आरंभ हो चुका था।

3. **नये समीकरणों का युग, (1963-71)**- भारत-चीन युद्ध के दौरान नेपाल के रवैये को देखकर भारत ने इस ओर अधिक संवेदनशीलता दिखाना शुरू कर दिया। इस कार्यकाल में भारत के सभी प्रमुख राजनेताओं ने नेपाल का दौरा कर दोनों के मध्य उपजी गलतफहमियों को दूर करने के प्रयास किए। अब नेपाल की उदारता से सहायता करते हुए वहां के ढ़ाचागत विकास पर जोर दिया। उदाहरण के रूप में 1964 में भारत ने 9 करोड़ की लागत से सुगौली ओश्वरा सड़क निर्माण किया, काठमांडू-रक्सौल सड़क निर्माण को मंजूरी दी, तथा कोसी योजना को अपने खर्चे पर पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त, अब भारत ने दोनों के मध्य मतभेद वाले मुद्दों को भी ज्यादा तूल नहीं दी।

   दूसरी ओर नेपाल के व्यवहार में भी बदलाव आया तथा पूर्णतयः चीन का पक्षधर नहीं रहा। परन्तु कुछ मुद्दों पर विवादास्पद स्थिति अवश्य बनी रही। प्रथम, नेपाल-चीन सैन्य चौकियों से भारतीय तकनीकी समूह के सैनिकों को वापस बुलाने हेतु कहना। द्वितीय, भारत-नेपाल मैत्री संधि (1950) पर आपत्तियाँ उठाई गई अन्ततः 1970 से ही व्यापार एवं पारगमन संधि के बारे में विवाद पनपा। परन्तु इन सबके बावजूद नेपाल की भू-राजनैतिक एवं सामरिक स्थिति देखते हुए भारत ने इन विषयों पर नरम रूख अपनाते हुए नेपाल से संबंध बनाये रखने व सुधारने के प्रयास किए। नेपाल की भी बाध्यता यह थी कि वह भी पूर्णरूप से चीन की ओर नहीं जा सकता था। अतः दोनों के मध्य अनुकूल संबंध बने रहे।

4. **मतभेदों के बावजूद सामान्य संबंध, (1972-79)**-यह युग दक्षिण एशिया में दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ शुरू हुआ। 1971 में भारत-सोवियत मैत्री एवं भारत-पाक युद्ध में भारत की विजय ने इसे एक मजबूत क्षेत्रीय शक्ति बना दिया। दूसरी ओर 1972 में महाराजा महेन्द्र के स्थान पर उसके बेटे वीरेन्द्र ने राजगद्दी सम्भाली जो उदार एवं प्रजातांत्रिक प्रव ति के राजा थे। इसके परिणामस्वरूप दोनों के बीच मधुर संबंधों का विकास अनिवार्य हो गया।

   इसी बीच 1975 में सिक्किम को भारत में मिलाने तथा नेपाल को तेल व पेट्रोल का कोटा न देने से दोनों के बीच तनाव का माहौल बन गया था। परन्तु जनता दल के शासन के दौर (1977-79) में पुनः मधुर संबंध बने क्योंकि उनकी विदेश नीति के अन्तर्गत पड़ोसियों से मित्रता पूर्वक संबंधों के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। परन्तु इस समय का महत्वपूर्ण मतभेद नेपाल को 'शांति क्षेत्र' घोषित करने को लेकर रहा है। जहां नेपाल का तर्क था कि भू-बद्ध राज्य होने के कारण उसके आर्थिक विकास हेतु अनिवार्य है, वहीं भारत इस अवधारणा को संकीर्णता के आधार पर मना करता आया है। अतः इस युग में जहां 'शांति क्षेत्र' की घोषणा व सिक्किम के भारत में विलय को लेकर मतभेद रहें, वहीं पर आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्रों में संबंध सामान्य बने रहे।

5. उतार-चढ़ाव परन्तु सुखद संबंध, (1980-2003)- 1980 के दशक के घटनाक्रम से दोनों देशों के बीच सुखद संबंधों होने का आभास हुआ। सर्वप्रथम, 1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैन्य हस्ताक्षेप को लेकर दोनों देशों के बीच आम सहमति रही कि इस मसले को राजनयिक व राजनैतिक तरीके से हल करना चाहिए था। द्वितीय, दोनों देशों ने 1978 की व्यापारिक एवं पारगमन की संधि को 1983 में पुनः 5 वर्षों हेतु मंजूरी प्रदान कर आर्थिक संबंधों को और सुद ढ़ बनाया। त तीय, इन्हीं सुधरते संबंधों के परिचायक के रूप में भारत से राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी (1981), विदेश मंत्री नरसिम्हाराव (1992) व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह (1986) ने नेपाल की तथा नेपाल से महाराजा वीरेन्द्र (1980 व 1985) व प्रधानमंत्री सूर्य बहादुर थापा (1983) ने भारत की यात्राएँ की।

   परन्तु 1980 के दशक के अन्त तक आते-आते 'शान्ति क्षेत्र' पर असहमति के साथ-साथ नेपाल द्वारा हथियारों के आयात, परमिट व्यवस्था लागू करना, नागरिकता की समस्या, व्यापार व पारगमन संधि पर विवाद आदि विषयों पर भी दोनों देशों के मध्य मतभेद बने हुए है। 1989 में भारत द्वारा दोनों के मध्य व्यापार व पारगमन की संधि को भारत द्वारा पुनः न लागू करने से बड़ा संकट खड़ा हो गया था। नेपाल की अर्थव्यवस्था चरमराने के साथ-साथ जनजीवन पर भी गहन प्रभाव

पड़ा। लेकिन 1990 में संयुक्त मोर्चा की सरकार के आने से स्थिति सुखद बन गई। भारत ने 1991 में एक की बजाय दो संधियों पर हस्ताक्षर किए जिनके अन्तर्गत व्यापार एवं पारगमन ने अलग-2 दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए गए। बाद में प्रधानमंत्री कोईराला (1991) व नरसिम्हाराव (1992) ने एक दूसरे के देशों में यात्रा कर संबंधों को मजबूती प्रदान की।

1994 में नेपाल में साम्यवादी दल की सरकार आने के बाद संबंधों में शंका उठी, लेकिन वह भी निरर्थक सिद्ध हुई। 1997 में 'गुजराल सिद्धान्त' की स्थापना से दोनों देशों में और सौहाई बढ़ा। इसी काल में महाकाली परियोजना, पंचेश्वर परियोजना, टनकपुर बिजली घर व टनकपुर तथा शारदा बैरेज के निर्माण पर सहमति व्यक्त की गई। इसके अतिरिक्त, नई हवाई सेवाओं, व्यापार, संचार, पर्यटन आदि के संदर्भ में भी समझौते एवं सहमतियां प्रकट की गई। नेपाल को पूर्व प्रदत्त राधिकापुर के अतिरिक्त फुलवारी होकर बांग्लादेश के माध्यम से एक और व्यापारिक मार्ग की सुविधाएँ प्रदान की गई।

इन सभी का यह अर्थ नहीं था कि अब कोई मतभेद नहीं रहे। सबसे महत्वपूर्ण मतभेद नेपाल में उग्रवादियों को शरण देने के बारे में चिन्ता का है। भारत का मानना है कि पाकिस्तान की गुप्तचर एजेंसी आई.एस.आई की भारत विरोधी गतिविधियाँ भी नेपाल में सक्रिय हैं। दिसम्बर 1999 के आई.सी.-814 यात्री विमान का काठमांडू से कंधार ले जाना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। द्वितीय 1991 की व्यापार संधि के दुरूपयोग से भी भारत को चिंता बनी हुई है। इसके प्रावधान का दुरूपयोग कर नेपाल के व्यापारी तीसरे देश से माल मंगा कर भारत की मंडियों में कर-मुक्त होने के कारण आसानी से भेज देते हैं। विदेश मंत्री जसवन्त सिंह की नेपाल यात्रा के दौरान अगस्त 2001 में नेपाल चाहता था कि यह संधि स्वतः अगले पांच साल जारी रहे। त तीय, 2001 के प्रारम्भ में सम्पूर्ण राजवंश की न शंस हत्या के बाद आन्तरिक स्थिति, विशेषकर माओवादियों की गतिविधियों, से भारत की चिंताएं बढ़ गई हैं। लेकिन इन मतभेदों के बावजूद भी दोनों देशों के मध्य वर्तमान में कोई रूकावट वाला अवरोधक नहीं है। अतः आशा है कि द्विपक्षीय आधार पर दोनों के रिश्तों में सुधार जारी रहेगा। क्षेत्रीय आधार पर भी जनवरी 2002 में हुई दक्षेस की बैठक में आतंकवाद के मुद्दे पर आम सहमति बनी जिससे इनके बीच एक बड़ी रूकावट समाप्त हो जायेगी। विश्व स्तर पर आये बदलाव व वर्तमान सरकार की नीतियां भी पड़ोसियों से मधुर संबंधों में विश्वास रखती है। बाकी आने वाला समय निर्धारित करेगा। लेकिन तत्थों के आधार पर भविष्य में दोनों देशों के बीच मधुर संबंधों की आशा की जा सकती है।

प्रश्नावली
(Questions)

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप व विषय क्षेत्र का विस्त त वर्णन कीजिए।
2. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास के विभिन्न चरणों का विवेचन कीजिए।
3. क्या अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त विषय है? इसके पक्ष तथा विपक्ष में तर्कसंगत कारण बताइए।
4. आदर्शवादी द ष्टिकोण का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
5. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद से क्या अभिप्राय है? इस उपागम का विस्त त विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।
6. मारगेन्थाऊ के यथार्थवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
7. व्यवस्थापरक द ष्टिकोण से आपका क्या अभिप्राय है? इसका आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
8. मार्टिन कॉप्लान के व्यवस्थापरक उपागम का विस्त त मूल्यांकन कीजिए।
9. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्णयपरक उपागम का विस्त त वर्णन करो।
10. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के खेल या क्रीड़ा उपागम का विवेचन कीजिए।
11. संचार सम्बन्धित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के द ष्टिकोण का आलोचनात्मक विवरण कीजिए।
12. राष्ट्रीय शक्ति क्या है? इसके विभिन्न निर्धारक तत्त्वों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
13. राष्ट्रीय शक्ति को परिभाषित करते हुए इसके मूल्यांकन संबंधित समस्या पर प्रकाश डालिये।
14. शक्ति संतुलन क्या है? इसकी मूल मान्यताओं व तरीकों का वर्णन करते हुए इसकी राष्ट्रीय शक्ति पर सीमा के संदर्भ में मूल्यांकन कीजिए।
15. सामूहिक सुरक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
16. अंतर्राष्ट्रीय कानून की राष्ट्रीय शक्ति पर अंकुश लगाने की भूमिका का वर्णन कीजिए।
17. बताइये अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार को रोकने में सक्षम है?
18. विश्व जनमत की राष्ट्रीय शक्ति पर सीमा के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।
19. राष्ट्रीय हित क्या है? इसकी अभिव द्धि के मुख्य साधनों का वर्णन कीजिए।
20. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा के विभिन्न प्रकार व उसकी भूमिका का विवेचन कीजिए।
21. विदेश नीति का राजनय से परस्पर संबंधों का विस्त त वर्णन कीजिए।
22. भूमण्डलीकरण या विश्वीकरण से आपका क्या अभिप्राय है? इसके विकासशील देशों पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या करो।
23. दक्षिण-दक्षिण सहयोग से आपका तात्पर्य है? भूमण्डलीकरण के युग में इसका क्या महत्व है?
24. "शीत युद्ध" आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है इस कथन से आप सहमत हैं या नहीं, व्याख्या करो।
25. उत्तर-दक्षिण संवाद पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखो।
26. नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) की मांग के प्रमुख आधार कौन से हैं?
27. शीत युद्ध की उत्पत्ति व विकास की विस्त त व्याख्या करो।

28. दितान्त अथवा तनाव शैथिल्य से आपका क्या तात्पर्य है? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसके प्रभावों की व्याख्या करो।
29. गुट निरपेक्षता से आपका क्या अभिप्राय है? इसकी प्रोत्साहित करने वाले तत्वों की व्याख्या करो।
30. गुट निरपेक्ष आन्दोलन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखो।
31. भारत की एक गुट निरपेक्ष देश के रूप में विस्त त व्याख्या करो।
32. विश्व व्यापार संगठन (WTO) पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखो।
33. नव-उपनिवेशवाद से आप क्या समझते हैं? विकसित देशों द्वारा अपनाए जाने वाले नव-उपनिवेशीय निमन्त्रण के साधन कौन-कौन से हैं?
34. "आज के अनेकों तनाव व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्याएं नव-उपनिवेशवाद के कारण है।" अपने उत्तर के पक्ष या विपक्ष में तर्क दीजिए।
35. निर्भरता का सिद्धान्त क्या है? इस सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करो।
36. क्षेत्रीय सहयोग से आपका क्या अभिप्राय है? क्षेत्रीय सहयोग के निर्धारण तत्व कौन-कौन से हैं?
37. समकालीन विश्व में क्षेत्रीय सहयोग की बढ़ती प्रवत्ति के कारणों व परिणामों की व्याख्या कीजिए।
38. सार्क के उद्देश्य, सिद्धान्त व भूमिका की व्याख्या करो।
39. क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ाने में ASEAN की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
40. "OAS अमेरिकन राज्यों को संगठित करने का एक प्रभावशाली उपकरण है।" इस कथन की व्याख्या करो।
41. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समकालीन युग में निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता क्यों है?
42. द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर शीत युद्ध की समाप्ति तक शस्त्र-नियन्त्रण व निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की व्याख्या करो।
43. शीत युद्ध के बाद किए गए निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का विवेचन करो।
44. यूरोपीय समुदाय के विकास का विस्त त वर्णन करो। मैस्ट्रिल सन्धि का इसके विकास पर क्या प्रभाव पड़ा?
45. विदेश नीति क्या है? भारतीय विदेश नीति की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि, सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
46. भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
47. भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का मूल्यांकन कीजिए।
48. भारत के निरस्त्रीकरण के सन्दर्भ में किए गए प्रयासों का विवरण दीजिए।
49. भारत दूसरा विश्व शांति हेतु किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
50. भारत की पड़ोस नीति का मूल्यांकन कीजिए।
51. भारत-चीन रिश्तों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
52. भारत व चीन के मध्य विवादास्पद मुद्दों पर टिप्पणी करते हुए इनके भविष्य का वर्णन कीजिए।
53. भारत व पाकिस्तान के संबंधों का मूल्यांकन कीजिए।
54. शीतयुद्धोत्तर युग में आये भारत-पाक रिश्तों में तनावों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
55. भारत व नेपाल के संबंधों का विस्तार से वर्णन करो।
56. भारत व श्रीलंका के संबंधों का विस्त त विवरण दीजिए।
57. भारत व बांग्लादेश के संबंधों में आये उतार-चढ़ावों का आंकलन कीजिए।
58. भारत अपने पड़ोसी देशों के साथ मधुर संबंध बनाने में असफल रहा। इनके कारणों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिए।

पाठन सामग्री

1. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज, कलकत्ता, 1972.
2. महेन्द्र कुमार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष, आगरा, 1984.
3. पीटर क्लवोसिटेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस 1945, लंदन, 1987.
4. जॉन बेलिस व स्टीव स्मिथ, सम्पा. ग्लोबलाईजेशन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स, (न्यूयॉर्क, 2002).
5. नार्मन डी. पामर व होवर्ड डी. पर्किस, इंटरनेशनल रिलेशंज, कलकत्ता, 1970.
6. थियोडोर ए. कोलम्बस व जेम्स एच. वुल्फे, इन्ट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंज, नई दिल्ली, 1986.
7. अनाम जेटली, इंटरनेशनल पॉलिटिक्स, नई दिल्ली. 2002.
8. आर.टी.जंगम, एन आऊट लाईन ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स, कलकत्ता, 1970.
9. के.जे. होल्सरी, इंटरनेशनल पॉलिटिक्स : ए फ्रेमवर्क फॉर ऐनेलिसिस, नई दिल्ली, 2000.
10. जे.के. बराल, इंटरनेशनल पॉलिटिक्स : डाइनेमिक्स एण्ड डाइमेंसज, नई दिल्ली, 1992.
11. रामा एस. मल्कोटे व ए. नरसिम्हा राव, इंटरनेशनल रिलेशंज, नई दिल्ली, 1992.
12. आर.एस.यादव, *भारत की विदेश नीति : एक विश्लेषण*, नई दिल्ली, किताब महल, 2003
13. हरीश कपूर, *इण्डियाज्, फॉरेन पॉलिसी*, 1947-1972, नई दिल्ली, 1994
14. ए. अप्पादोराय व एम.एस. राजन, *इण्डियाज, फॉरेन पॉलिसी एण्ड रिलेसंज*, नई दिल्ली, 1985
15. के.पी. मिश्रा, *फॉरेन पॉलिसी ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1977